इकाई 1. सतत विकासः अर्थ एवं अवधारणा
(Sustainable Development)

1.1 प्रस्तावना (Introduction)

1.2 उदेश्य (Objectives)

1.3 सतत विकास का अर्थ (Meaning of Sustainable Development)

1.4 सतत विकास की उत्पत्ति एवं इतिहास (Origin and History of Sustainable Development)

1.5 भारत में सहस्राब्दि विकास लक्ष्य (Millennium Development Goals in India)

1.6 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)

1.7 सांराश (Summary)

1.9 शब्दावली (Glossary)

1.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर (Answer for Practice Questions)

1.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची (Bibliography)

1.10 उपयोगी पाठ्य सामग्री (Useful Text)

1.11 निबंधात्मक प्रश्न (Essay Type Questions)

1.1 प्रस्तावना (Introduction)

सतत विकास के सन्दर्भ में यह पहली इकाई हैं, इस इकाई के अंतर्गत आप सतत विकास क्या हैं यह समझेंगे, सतत विकास की महत्ता के बारें में जानेंगे एवं सतत विकास के इतिहास को भी विस्तार से पढ़ेंगे। सहस्राब्दि विकास लक्ष्य जोकि सतत विकास लक्ष्य से पहले दिए गए थे उनके बारें में भी आप इस इकाई में पढेंगे, यह कुल आठ लक्ष्य हैं जिन्हें आप एक-एक कर विस्तार से इस इकाई में पढेंगे। इससे आगे की इकाई में आप सतत विकास लक्ष्य के बारें में जानेंगे साथ ही आप सततशीलता की अवधारणा को भी समझेंगे और यह भी पढेंगे की सततशीलता विकास से किस प्रकार जुडी हुई हैं।

1.2 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप -

- ✓ सतत विकास के अर्थ को समझ सकेंगे।
- ✓ किसी देश के आर्थिक विकास के साथ-साथ सतत विकास के महत्व से अवगत हो सकेंगे।
- ✓ इस तथ्य से अवगत हो सकेंगे कि सहस्राब्दि विकास लक्ष्यों को सतत विकास लक्ष्यों ने किस प्रकार प्रतिस्थापित किया।
- ✓ भारत में सहस्राब्दि विकास लक्ष्यों का मूल्यांकन करने में सक्षम हो सकेंगे।

1.3 सतत विकास का अर्थ (Meaning of Sustainable Development)

सतत विकास मानव विकास लक्ष्यों को पूरा करने के लिए संगठित सिद्धांत है, यह प्राकृतिक प्रणालियों द्वारा प्राकृतिक संसाधनों और पारिस्थिति की तंत्र सेवाएं प्रदान करने की क्षमता को बनाए रखने पर जोर देता है। सतत विकास की अवधारणा आर्थिक विकास, पर्यावरण की गुणवत्ता एवं सामाजिक समानता के बीच संबंधों की खोज करती है। सतत विकास या संधारणीय विकास का अभिप्राय ऐसे विकास से है जो पर्यावरण के निम्नीकरण के बिना संतोषजनक विकास करता हो, दूसरे शब्दों में सतत विकास वह प्रक्रिया है जो हमारी भावी पीढ़ियों की अपनी जरूरतें पूरी करने की योग्यता को प्रभावित किए बिना वर्तमान समय की आवश्यकताएं पूरी करे। सतत विकास सामाजिक एवं आर्थिक विकास की वह प्रक्रिया है जिसमें पृथ्वी की सहनशक्ति के अनुसार विकास की बात की जाती हैं।

1.4 सतत विकास की उत्पत्ति एवं इतिहास (Origin and History of Sustainable Development)

सतत विकास की अवधारणा ने पूरे विश्व में विकास की परिभाषा को बदल दिया। सतत विकास एक बहुआयामी अवधारणा है, जिसकी शुरूआत वर्ष 1962 में, वैज्ञानिक **राहेल कार्सन (Rachel Carson)** की "***दी साइलेंटस्प्रिंग (The Silent Spring)*** नामक पुस्तक के प्रकाशित होने के पश्चात हुई, जिसमें एक कीटनाशक डी.डी.टी (Dichloro Diphenyl Trichloroethane) के प्रयोग से वन्य जीवन पर होने वाले हानिकारक प्रभावों का उल्लेख किया गया था। यह पुस्तक तब आयी जब औद्योगिक क्रांति चरम पर थी और लोग औद्योगीकरण के पर्यावरण पर हानिकारक प्रभावों से अनभिज्ञ थे। इस पुस्तक को सतत विकास की दिशा में एक मील का पत्थर माना जाता है। इसके पश्चात सतत विकास की अवधारणा का उद्भव मुख्यतः उत्पादन-प्रणालियों पर नियंत्रण करने वाले कुछ लोगों द्वारा प्रकृति के बहुमूल्य तथा सीमित संसाधनों के लालच पूर्ण दुरुपयोग के कारण प्राकृतिक संसाधनों की समाप्ति तथा उसके कारण आर्थिक क्रियाओं तथा उत्पादन प्रणालियों के धीमे होने या प्राकृतिक संसाधनों के ख़त्म होने के भय से हुआ। वर्ष 1969 में गैर-लाभकारी संस्था ***'फ्रेंड्स ऑफ़दी अर्थ' (Friends of the Earth)*** बनाई गई जिसे पर्यावरण की सुरक्षा हेतु एवं निर्णय प्रक्रिया में नागरिकों की भागीदारी को सुनिश्चित करने हेतु समर्पित किया गया। वर्ष 1971 में **आर्थिक सहयोग तथा विकास संगठन** (Organisation for Economic Cooperation and Development) ने ***'प्रदूषण भुगतान' (Polluter Pay Principle)*** का सिद्धांत दिया जिसमें यह कहा गया कि प्रदूषण फैलाने वाले देशों को उसकी कीमत देनी चाहिए। पहली बार वर्ष 1972 में स्वीडन की राजधानी स्टॉकहोम में मानव पर्यावरण पर आयोजित संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन (United Nations Conference on the Human Environment) में विश्व समुदाय में इस बात पर सहमति हुई कि मानव पर्यावरण और प्राकृतिक संसाधनों में भारी गिरावट आई है एवं पर्यावरण संकट एक गंभीर समस्या है। इस विचार को पहली बार अंतराष्ट्रीय कार्यसूची में शामिल किया गया । इससे 'संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम' (United Nation Environmental Programme) की स्थापना हुई।

निदेशक **मौरिस स्ट्रांग** (Maurice Strong) ने पर्यावरण विकास (Eco Development) शब्द दिया जो विकास को पर्यावरण सुरक्षा के साथ जोड़ता है। संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम, अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के लिए पर्यावरण रणनीतियों को विकसित करने के उद्देश्य से संयुक्त राष्ट्र द्वारा दिसंबर, 1983 में एक आयोग का गठन किया गया जिसका नाम '**पर्यावरण और विकास विश्व आयोग**' (World Commission on Environment and Development) था । इस समिति में 22 सदस्य थे जो दोनों विकसित एवं विकासशील देशो का प्रतिनिधत्व करते थे तथा इस आयोग की अध्यक्षता नॉर्वे की पूर्व प्रधानमंत्री **श्रीमती ग्रोहर्ले म ब्रंटलैण्डने** (Grohrle M bruntlandne) की थी जिस वजह से इसे 'ब्रंटलैण्ड आयोग' भी कहा जाता है। उनकी रिपोर्ट ***'अवर कॉमन फ्यूचर ' (Our Common Future)*** के नाम से अक्टूबर, 1987 में प्रकाशित हुई। सबसे पहले सतत विकास

की परिभाषा इसी आयोग ने दी थी। उनके अनुसार स्थायी विकास का अभिप्राय आर्थिक विकास के साथ-साथ पर्यावरण को सुरक्षित करना भी है।

इस रिपोर्ट ने सतत विकास को मजबूती से राजनीतिक अंतर्राष्ट्रीय विकास सोच में सम्मिलित करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस रिपोर्ट में कहा गया है कि विकास हमारी आज की जरूरतों को पूरा करे और साथ ही आने वाली पीढ़ियों की जरूरतों की भी अनदेखा ना करें। आयोग का कहना है कि सतत विकास का अर्थ सिर्फ पर्यावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करना नहीं है बल्कि यह परिवर्तन की एक प्रक्रिया है जिसमें संसाधनों के दोहन, निवेश की दिशा, तकनीकी विकास की स्थिति और संस्थागत परिवर्तनों को वर्तमान के साथ-साथ भविष्य की जरूरतों के अनुकूल बनाया जा सकता है। सतत विकास कोयला, तेल और जल जैसे प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के लिए उत्पादन तकनीकों, औद्योगिक प्रक्रियाओं और न्यायसंगत विकास नीतियों के संबंध में दीर्घकालिक योजना प्रदान करता है। यह विश्व को आर्थिक विकास की दौड़ के प्रति सचेत करता है कि विकास प्राकृतिक संसाधनों को नष्ट किये बिना एवं पर्यावरण को क्षति पहुंचाए बिना हो। सतत विकास यह सुनिश्चित करता है कि परिस्थिति की व्यवस्थाओं की सहनशीलता क्षमताओं के अनुरूप मानव जीवन की गुणवत्ता में सुधार लाया जा सके एवं ऐसी आर्थिक उन्नति हो जो पृथ्वी के सीमित संसाधनों को नष्ट किए बिना, विश्व के सभी लोगों को न्याय तथा समान अवसर प्रदान करे।

ब्रंटलैंड की परिभाषा में एक महत्वपूर्ण तत्व पर्यावरण और विकास की एकता है। ब्रंटलैंड आयोग मानव पर्यावरण पर वर्ष 1972 में स्टॉक होम (Stock Holm) सम्मेलन के दावे के खिलाफ तर्क देता है और प्रकृति संरक्षण के लिए अंतरराष्ट्रीय संघ की वर्ष 1980 के विश्व संरक्षण रणनीति की तुलना में, सतत विकास पर एक वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रदान करता है। ब्रंटलैंड आयोग ने इस पर जोर दिया कि 'पर्यावरण' को पहले मानव भावना या कार्रवाई से अलग एक क्षेत्र के रूप में माना जाता था, और 'विकास' एक शब्द था जिसे राजनीतिक लक्ष्यों या आर्थिक प्रगति का वर्णन करने के लिए इस्तेमाल किया गया था, यह समझने के लिए अधिक व्यापक है एक दूसरे के संबंध में दो शब्द (हम विकास के संबंध में पर्यावरण को बेहतर समझ सकते हैं और हम पर्यावरण के संबंध में विकास को बेहतर समझ सकते हैं, क्योंकि वह अलग-अलग संस्थाओं के रूप में अलग नहीं हो सकते)। ब्रंटलैंड का तर्क है कि 'पर्यावरण' वह है जहाँ हम रहते हैं और 'विकास' वह है जो हम सभी उस निवास के भीतर अपनी तकदीर को सुधारने के प्रयास में करते हैं तथा दोनों अविभाज्य हैं।

वर्ष 1992 के रियो में हुए 'पृथ्वी शिखर सम्मेलन' के बाद से सतत विकास ने खुद को सारी अवधारणाओं के केंद्र के रूप में स्थापित किया है तथा यह अवधारणा अंतराष्ट्रीय विकासवादी सम्मेलनों तथा कार्यक्रमों की सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक आर्थिक अवधारणा बन गई है। इस सम्मेलन में ही विश्व राजनीति में पर्यावरण को एक ठोस स्वरूप मिला। इस अवसर पर कार्य सूची-

Agenda21 पारित किया गया। सभी राष्ट्रों से निवेदन किया गया कि वह प्राकृतिक संतुलन को बनाए रखें, पर्यावरण के प्रदूषण को रोके तथा सतत विकास का रास्ता अपनाएं।

'**ब्रंटलैंड आयोग**' की रिपोर्ट के पश्चात सतत विकास के काग्रक्रमों को प्रभावी रूप से लागू करने के लिए संयुक्त राष्ट्र द्वारा दिसम्बर, 1992 में संयुक्त राष्ट्र सतत विकास आयोग का गठन किया गया। संयुक्त राष्ट्र संघ के वर्ष 2000 के सहस्त्राब्दि शिखर सम्मेलन में सहस्राब्दी विकास लक्ष्यों की घोषणा की तथा इसी क्रम में वर्ष 2002 में जोहान्सबर्ग (Johannesburg) में सतत विकास पर विश्व सम्मेलन, वर्ष 2005 में कनाडा के मोंट्रियल (Montreal) शहर में संयुक्त राष्ट्र जलवायु परिवर्तन सम्मेलन, वर्ष 2006 में न्यूयोर्क (New York) में वनों के सतत विकास पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन तथा दिसम्बर, 2007 में इंडोनेशिया (Indonesia) के बाली (Bali) द्वीप में जलवायु परिवर्तन पर सम्मेलन आयोजित किया गया। सतत विकास की प्रासंगिकता जून 2012 में रिओ पृथ्वी सम्मलेन (Rio Earth Summit) के 20 वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य में संयुक्त राष्ट्र द्वारा आयोजित सम्मेलन में भी उभर कर आयी। वर्ष 2015 के पश्चात सहस्राब्दी विकास लक्ष्यों का स्थान वैश्विक सतत विकास लक्ष्यों ने ले लिया।

1.5 भारत में सहस्राब्दि विकास लक्ष्य (Millennium Development Goals in India)

प्रकृति और पर्यावरण शब्द का इस्तेमाल विद्वानों द्वारा आम बोलचाल में एक दूसरे के स्थान पर किया जाता है। पर्यावरण शब्द कार्यात्मक परिभाषा से जुड़ा है जिसके अनुसार हमारा परिवेश हमें विकास और वृद्धि के लिए परिस्थितियाँ प्रदान करता है और साथ ही खतरे और विनाश का स्रोत भी है। पारिस्थितिकी विज्ञान में पर्यावरण को विद्वानों द्वारा ***'हमारे ग्रह पर उपलब्ध जैविक और अजैविक दोनों घटकों की संगति'*** के रूप में वर्णित किया जाता है।

एक अनुशासन के रूप में पर्यावरणीय नैतिकता अपेक्षाकृत नई है लेकिन पूजा और प्रथाओं के रूप में पर्यावरण और प्रकृति के प्रति मानवीय चिंता अतीत से ही मौजूद रही है। यह विचार कि प्रकृति का अपना आंतरिक मूल्य है, मानव के लिए उपयोगितावादी मूल्यों से अलग है, एक महत्वपूर्ण विचार है जो प्रकृति के 'जैव-केंद्रित' दृष्टिकोण का आधार बनता है। इन दार्शनिकों का मानना [illegible] का उपयोग करना केवल दिखावा है। इसलिए पर्यावरण की देखभाल करनी चाहिए क्योंकि अंततः मानव कल्याण सभी पहलुओं में पर्यावरण पर निर्भर करता है।

सहस्राब्दि विकास लक्ष्य (Millennium Development Goals):

दुनिया भर से गरीबी और अन्य बुराइयों को मिटाने के लिए एक चरम उपाय, सहस्राब्दि विकास लक्ष्य (Millennium Development Goals) को विश्व नेताओं द्वारा अपनी राजनीतिक सीमाओं के भीतर आठ (8) सामाजिक और आर्थिक चिंताओं से निपटने के लिए अपनाया गया था। ये लक्ष्य वैश्विक दृष्टि और व्यक्तिगत जिम्मेदारी के साथ तय किए गए थे। सहस्राब्दि विकास लक्ष्य मूल्यांकन ने सभी हितधारक देशों और उनके आंतरिक योगदानकर्ताओं के बीच सकारात्मक प्रतिक्रिया को अनिवार्य बना दिया। अधिकांश संकेतकों ने सकारात्मक मूल्य प्राप्त किए, जिसके परिणामस्वरूप समग्र सामाजिक-आर्थिक सुधारों को पूरा करने के लिए नए और व्यापक लक्ष्य अपनाए गए।

संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम (United Nations Development Programme) क्षमता निर्माण की कई पहलों का समर्थन करता है जो कार्यान्वयन चुनौतियों का समाधान करती हैं। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम शासन के प्रत्येक स्तर पर प्रतिनिधियों और अधिकारियों की क्षमताओं को मजबूत करके केंद्रीय मंत्रालयों और कई राज्यों के साथ सीधे काम करता है। संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम रणनीतिक कार्यक्रमों और योजनाओं में भी भाग लेता है जो सहस्राब्दि विकास लक्ष्य और अन्य राष्ट्रीय विकास लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए तैयार किए गए हैं। भारत सितंबर 2000 में अपनाए गए सहस्राब्दि घोषणापत्र का एक हस्ताक्षरकर्ता है। सहस्राब्दि विकास लक्ष्य के आठ विकास लक्ष्यों के लक्ष्य गरीबी और अन्य वंचित क्षेत्रों को कम करने के विकास लक्ष्यों के प्रति भारत की अपनी प्रतिबद्धता के साथ मिलते हैं। भारत ने सहस्राब्दि विकास लक्ष्य की दिशा में महत्वपूर्ण प्रगति देखी है क्योंकि कुछ लक्ष्य 2015 की समय सीमा से पहले हासिल किए गए हैं।

उदाहरण के लिए, भारत ने गरीबी को आधे से कम करने का लक्ष्य हासिल कर लिया है, लेकिन भूख को कम करने का लक्ष्य हासिल करने में पीछे रह गया है। फिर से, देश ने प्राथमिक विद्यालय में नामांकन में लैंगिक समानता हासिल कर ली है, लेकिन प्राथमिक विद्यालय में नामांकन और पूरा करने के लक्ष्यों में पिछड़ गया है। कुल मिलाकर, भारत ने स्वच्छ पेयजल उपलब्ध कराने में प्रगति की है, लेकिन स्वच्छता सुविधाओं तक पहुँच अपर्याप्त बनी हुई है। सहस्राब्दि विकास लक्ष्य ने महत्वपूर्ण विकास चुनौतियों को सामने लाया और मजबूत लक्ष्य-उन्मुख एजेंडे वाले देशों को भी अपनाया। भारत ने कुछ क्षेत्रों में सही दिशा में कदम बढ़ाए हैं, लेकिन अभी भी कुछ बड़े सुधारों की आवश्यकता है।

सहस्राब्दि विकास के आठ लक्ष्य (Eight Goals of Millennium Development)

अब आप एक-एक कर इन लक्ष्यों को समझेंगे-

1. अत्यधिक भूख और गरीबी को मिटाना
2. सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करना
3. लैंगिक समानता को बढ़ावा देना और महिलाओं को सशक्त बनाना
4. बाल मृत्यु दर कम करें
5. मातृ स्वास्थ्य में सुधार
6. एचआईवी/एड्स, मलेरिया और अन्य बीमारियों से लड़ें
7. पर्यावरणीय स्थिरता सुनिश्चित करें
8. विकास के लिए वैश्विक साझेदारी विकसित करना

1. अत्यधिक भूख और गरीबी को मिटाना (Eradicate Extreme Hunger and Poverty)

सहस्राब्दि विकास लक्ष्य को पूरा करने के लिए, गरीबी कुल संख्या अनुपात (Poverty Head Count Ratio) का स्तर 23.9% होना चाहिए। 2011-12 में, गरीबी कुल संख्या अनुपात (Poverty Head Count Ratio) 21.9 प्रतिशत था। यह दर्शाता है कि भारत ने गरीबी उन्मूलन लक्ष्य हासिल कर लिया है, लेकिन प्रगति असमान है। इस उपलब्धि का श्रेय आर्थिक विकास (कृषि क्षेत्र सहित) के साथ-साथ महात्मा गांधी राष्ट्रीय ग्रामीण रोजगार गारंटी अधिनियम (Mahatma Gandhi National Rural Employment Guarantee Act) और राष्ट्रीय ग्रामीण स्वास्थ्य मिशन (National Rural Health Mission) जैसे हस्तक्षेपों पर बढ़े सामाजिक खर्च को जाता है। भारत दुनिया की कुपोषित आबादी का एक-चौथाई हिस्सा है। इसमें दुनिया के कम वजन वाले बच्चों का एक तिहाई से अधिक और दुनिया के खाद्य-असुरक्षित लोगों का लगभग एक तिहाई हिस्सा शामिल है। 2015 तक, सभी आयु वर्गों में कुपोषण घटकर 40 प्रतिशत रह गया लेकिन यह अभी भी 26 प्रतिशत तक की कमी के लक्ष्य से नीचे है।

2. सार्वभौमिक प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करना (Achieving Universal Primary Education)

भारत में प्राथमिक शिक्षा को सार्वभौमिक बनाना एक बहुत बड़ा काम था लेकिन मध्यम प्रयासों के कारण, भारत इस सहस्राब्दि विकास लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में

आगे बढ़ रहा है। प्राथमिक विद्यालय में लड़कियों के नामांकन और पूर्णता दर में भारी वृद्धि हुई है और वे लड़कों के बराबर पहुँच रही हैं। इस प्रयास से लैंगिक पूर्वाग्रह भी कम हुए हैं। राष्ट्रीय स्तर पर, पुरुष और महिला युवा साक्षरता दर 94.81 प्रतिशत और 92.47 प्रतिशत होने की संभावना है। 2009 में, भारत ने शिक्षा की गुणवत्ता में सुधार करने के लिए, विशेष रूप से प्राथमिक स्तर पर, बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार अधिनियम (Right To Education) पेश किया।

3. लैंगिक समानता को बढ़ावा देना और महिलाओं को सशक्त बनाना (Promoting Gender Equality and Empowering Women)

अगस्त 2015 तक भारतीय संसद में 542 सदस्यों वाली लोकसभा में केवल 65 महिला प्रतिनिधि हैं, जबकि 242 सदस्यों वाली राज्यसभा में 31 महिला प्रतिनिधि हैं। ये आंकड़े बताते हैं कि राष्ट्रीय संसद में महिलाओं के पास सीटों का अनुपात 50 प्रतिशत के लक्ष्य के मुकाबले केवल 12.24 प्रतिशत है।

4. बाल मृत्यु दर कम करें (Reduce Child Mortality)

इस सहस्राब्दि विकास लक्ष्य का लक्ष्य पांच वर्ष से कम उम्र के बच्चों में मृत्यु दर को कम करना है। भारत में पांच वर्ष से कम उम्र के बच्चों की मृत्यु दर 1990 में प्रति 1,000 जीवित जन्मों पर 125 से घटकर 2013 में प्रति 1,000 जीवित जन्मों पर 49 हो गई। यह देखते हुए कि सहस्राब्दि विकास लक्ष्य का लक्ष्य प्रति 1000 पर 42 का है, ये आंकड़े बताते हैं कि भारत सही रास्ते पर है, जिसका मुख्य कारण हाल के वर्षों में इसमें आई तेज गिरावट है। माताओं और बच्चों में बड़े पैमाने पर कुपोषण की स्थिति भारत के लिए एक गंभीर विकास चुनौती है। इस स्थिति से उबरने के लिए कई कार्यक्रम जैसे- राष्ट्रीय बाल नीति (National Child Policy) (2013), राष्ट्रीय प्रारंभिक बाल्यावस्था देखभाल और शिक्षा नीति (Early Childhood Care and Education) और एकीकृत बाल विकास सेवाएं (Integrated Child Development Services) बाल विकास की वास्तविक समय निगरानी पर ध्यान केंद्रित करने के लिए तैयार किए गए हैं।

5. मातृ स्वास्थ्य में सुधार (Improve Maternal Health)

भारत को सहस्राब्दि विकास लक्ष्य को पूरा करने के लिए 2015 तक मातृ मृत्यु दर (Maternal Mortality Rate) को घटाकर 139 प्रति 100,000 जीवित जन्मों तक लाना है। 1990 से 2006 के बीच मातृ मृत्यु दर दर (Maternal Mortality Rate) में कुछ सुधार हुआ है (2009 में घटकर 167 प्रति 100,000 जीवित जन्म हो गई)। हालांकि, प्रगति के इन संकेतों

के बावजूद, इस लक्ष्य की ओर भारत की प्रगति धीमी पाई गई है। संस्थागत सुविधाओं में प्रसव 26 प्रतिशत (1992-93) से बढ़कर 72 प्रतिशत (2008-09) हो गया है। परिणामस्वरूप, प्रशिक्षित कर्मियों द्वारा प्रसव भी उसी गति से बढ़े हैं। इस कारक में योगदान देने वाला मुख्य कारण सशर्त-नकद-हस्तांतरण योजना 'जननी सुरक्षा योजना' (Janani Suraksha Yojana) की शुरूआत रही है, जिसने 2009 में अस्पतालों और नर्सिंग होम में प्रसव में 72 प्रतिशत तक सुधार किया।

6. एचआईवी या एड्स, मलेरिया और अन्य बीमारियों से लड़ें (Combat HIV/AIDS, Malaria and Other Diseases)

भारत इस लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में आगे बढ़ रहा है क्योंकि एचआईवी, मलेरिया और तपेदिक का प्रसार लगातार कम हो रहा है। भारत ने एचआईवी/एड्स के प्रसार को कम करने में महत्वपूर्ण प्रगति की है और भारत में एचआईवी/एड्स का संक्रमण 0.45 प्रतिशत (2002) से घटकर 0.36 प्रतिशत (2009) हो गया है। मलेरिया लगातार 2.12 प्रति हजार (2001) से घटकर 0.72 प्रति हजार (2013) हो गया है। अकेले भारत में तपेदिक (TB) के वैश्विक हिस्से का पांचवां हिस्सा है, प्रति लाख जनसंख्या पर तपेदिक का प्रसार 465 (1990) से घटकर 211 (2013) हो गया है।

7. पर्यावरणीय स्थिरता सुनिश्चित करें (Ensure Environment Sustainability)

भारत ने कुछ प्रगति की है और इस सहस्राब्दि विकास लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में आगे बढ़ रहा है। वन क्षेत्र या हरित संपत्ति बढ़कर 21.23 प्रतिशत हो गई है, जो 5871 वर्ग किलोमीटर की वृद्धि है और संरक्षित क्षेत्रों का छादित (Covered) क्षेत्र देश के कुल भूमि क्षेत्र का लगभग 4.83 प्रतिशत है, इसने उच्च ऊर्जा दक्षता के माध्यम से सकल घरेलु उत्पाद (Gross Domestic Product) विकास की ऊर्जा तीव्रता को कम कर दिया है।

8. विकास के लिए वैश्विक साझेदारी विकसित करना (Develop a Global Partnership for Development)

दुनिया में चीन के बाद दूसरा सबसे बड़ा नेटवर्क 'भारतीय दूरसंचार नेटवर्क' है (2014 के आंकड़ों के अनुसार)। इंटरनेट उपयोगकर्ताओं की कुल संख्या 198.39 मिलियन (2013) से बढ़कर 259.14 मिलियन (2014) हो गई है, जो 60% की वार्षिक वृद्धि को दर्शाता है। वैश्वीकरण के प्रभाव के कारण, भारत दुनिया भर के विभिन्न विकसित और

विकासशील देशों को आर्थिक और बौद्धिक सहायता को बढ़ावा देने के लिए प्रमुख विकास भागीदारों में से एक के रूप में उभरा है। निधियों के संदर्भ में भारत की विकास सहायता विकसित देशों से पारंपरिक सहायता प्रवाह के लिए महत्वपूर्ण रूप से पूरक है।

1.6 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

1. सतत विकास का मुख्य उद्देश्य................................ है। (प्राकृतिक संसाधनों का अधिकतम उपयोग **या** वर्तमान और भविष्य की पीढ़ियों की जरूरतों को संतुलित करना)
2. ....वर्ष में संयुक्त राष्ट्र ने सतत विकास के लक्ष्यों (SDGs) को अपनाया था। (2000 **या** 2015)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य या असत्य कथन का चुनाव कीजिए-

1. सतत विकास में "जलवायु परिवर्तन" को नवीकरणीय ऊर्जा का प्रयोग संबोधित किया जाता है।
2. सामाजिक समानता और न्याय, सतत विकास का एक प्रमुख सिद्धांत है।
3. टिकाऊ कृषि का मुख्य लाभ केवल आर्थिक लाभ है।

1.7 सांराश (Summary)

सतत विकास या संधारणीय विकास का अभिप्राय ऐसे विकास से है जो पर्यावरण के निम्नीकरण के बिना संतोषजनक विकास करता हो, दूसरे शब्दों में सतत विकास वह प्रक्रिया है जो हमारी भावी पीढ़ियों की अपनी जरूरतें पूरी करने की योग्यता को प्रभावित किए बिना वर्तमान समय की आवश्यकताएं पूरी करे।

सहस्राब्दि विकास के आठ लक्ष्य- पारिस्थितिकी तंत्र के संरक्षण का सिद्धांत, समाज के सतत विकास का सिद्धांत, जैव विविधता संरक्षण का सिद्धांत, जनसंख्या नियंत्रण का सिद्धांत, मानव संसाधन संरक्षण का सिद्धांत, सार्वजनिक भागीदारी का सिद्धांत,सांस्कृतिक विरासत संरक्षण का सिद्धांत और सामाजिक न्याय और एकजुटता हैं। जिसके आधार पर ही सतत विकास लक्ष्यों की बनाया गया।

अब यह बात बहुत अच्छी तरह से स्थापित हो चुकी है कि कोई भी एक स्थायी मार्ग नहीं है और तदनुसार, नीति निर्माताओं को प्रत्येक क्षेत्र (जैसे- देश या राज्य) के लिए कुशल स्थायी निर्णय लेने के लिए अलग-अलग मानदंड और रणनीति चुननी चाहिए। अधिकांश स्थानों पर आर्थिक प्रगति दिखाई दे रही है।

उदाहरण के लिए- शहर बढ़ रहे हैं, परिवहन व्यवस्थाएँ फलफूल रही हैं और इसी तरह परिणामस्वरूप, जीवन के सभी पहलुओं में मध्यम वर्ग तेजी से बढ़ रहा है। देश में नीति आयोग तथा सांख्यिकी एवं कार्यक्रम कार्यान्वयन मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा सतत् विकास लक्ष्य-2030 एजेंडा का क्रियान्वयन किया जा रहा हैं । लक्ष्यों की प्रगति की मॉनिटरिंग के लिए सांख्यिकी और कार्यक्रम कार्यान्वयन मंत्रालय (Ministry of Statistics and Programme Implementation) द्वारा 302 संकेतकों वाला नेशनल इंडिकेटर फ्रेमवर्क (National Indicator Framework) तैयार किया गया हैं। भारत राष्ट्रीय और उप-राष्ट्रीय सरकारों के बीच घनिष्ठ सहयोग के माध्यम से सतत विकास लक्ष्य एजेंडे के कार्यान्वयन को आगे बढ़ाने के लिए कदम उठा रहा है। इसके लिए, भारत विभिन्न पहलों को शुरू करके सतत विकास लक्ष्य (2030 तक प्राप्त करने का लक्ष्य) के प्रति समग्र दृष्टिकोण अपना रहा है। इन प्रयासों के परिणामस्वरूप, भारत का सतत विकास लक्ष्य सूचकांक स्कोर राज्यों के लिए 42 से 69 के बीच और केंद्र शासित प्रदेशों के लिए 57 से 68 के बीच है।

भारत के राष्ट्रीय स्तर पर निर्धारित योगदान (Intended Nationally determined contributions) के कार्यान्वयन के लिए बड़े पैमाने और आकार के निवेश की आवश्यकता है जो एक विकासशील राष्ट्र के लिए अभूतपूर्व है। यह अनिवार्य रूप से इंगित करता है कि घरेलू वित्त के साथ-साथ अंतरराष्ट्रीय सार्वजनिक और निजी क्षेत्र के वित्त को अंतराल को भरने के लिए जुटाना होगा। सतत विकास लक्ष्य की उपलब्धियों के लिए काफी चुनौतियां हैं, एक बहुत ही स्पष्ट चुनौती वायु प्रदूषण है, जो मुख्य रूप से कोयले पर उच्च निर्भरता के कारण है और इसलिए बहुत अधिक कार्बन डाईऑक्साइड (CO_2) उत्सर्जित करता है। इसलिए भारत को कोयला आधारित ऊर्जा दक्षता बढ़ाने और अधिक नवीकरणीय ऊर्जा स्रोतों का उपयोग करने की आवश्यकता है। भारत के कई हिस्से संसाधनों की भारी कमी का सामना कर रहे हैं, खासकर प्राकृतिक संसाधनों जैसे- जल प्रदूषण (कभी-कभी जहरीला) और कमी।

1.8 शब्दावली (Glossary)

- **पर्यावरणीय स्थिरता (Environment Sustainability):** पर्यावरणीय स्थिरता से तात्पर्य प्राकृतिक संसाधनों के जिम्मेदारीपूर्ण प्रबंधन से है, ताकि भविष्य की पीढ़ियों की आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता से समझौता किए बिना वर्तमान आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके।
- **सतत विकास (Sustainable Development):** सतत विकास का अर्थ है वर्तमान की आवश्यकताओं को पूरा करना और यह सुनिश्चित करना कि भावी पीढ़ियां अपनी आवश्यकताओं को स्वयं पूरा कर सकें।

- **मातृ स्वास्थ्य (Maternal Health):** मातृ स्वास्थ्य से तात्पर्य गर्भावस्था, प्रसव और प्रसवोत्तर अवधि के दौरान महिलाओं के स्वास्थ्य से है।
- **बाल मृत्यु दर (Child Mortality Rate):** बाल मृत्यु दर का तात्पर्य 5 वर्ष से कम आयु में मरने की संभावना से है, जिसे 5 वर्ष से कम आयु में मृत्यु दर के रूप में जाना जाता है।
- **आर्थिक विकास (Economic Development):** किसी देश की अर्थव्यवस्था में वस्तुओं और सेवाओं के कुल उत्पादन में सतत, दीर्घकालिक वृद्धि है, जिसे आमतौर पर सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि द्वारा दर्शाया जाता है।
- **सकल घरेलू उत्पाद (Gross Domestic Product):** आर्थिक उत्पादन का मानक माप है। यह किसी निश्चित अवधि में किसी क्षेत्र या देश में उत्पादित सभी अंतिम वस्तुओं और सेवाओं के मौद्रिक मूल्य को दर्शाता है।
- **उत्पादन-प्रणाली (Production System):** इसका अर्थ उस प्रणाली से है जो किसी उत्पाद को वास्तविकता बनाने के लिए आवश्यक सभी घटकों से निर्मित करती है।
- **ऊर्जा दक्षता (Energy Efficiency):** ऊर्जा दक्षता एक ही कार्य को करने या एक ही परिणाम उत्पन्न करने के लिए कम ऊर्जा का उपयोग है। ऊर्जा-कुशल घर और इमारतें उपकरणों और इलेक्ट्रॉनिक्स को गर्म करने, ठंडा करने और चलाने के लिए कम ऊर्जा का उपयोग करती हैं और ऊर्जा-कुशल विनिर्माण सुविधाएं सामान का उत्पादन करने के लिए कम ऊर्जा का उपयोग करती हैं।
- **वैश्वीकरण (Globalization):** यह एक प्रक्रिया है जिसमें दुनिया भर में विभिन्न देशों और संस्थाओं के बीच आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और तकनीकी संबंधों में समन्वय बढ़ाने का प्रयास किया जाता है।
- **भारतीय संसद (Indian Parliament):** संसद भारत का सर्वोच्च विधायी निकाय है। भारतीय संसद में राष्ट्रपति तथा दो सदन - राज्य सभा (राज्यों की परिषद) एवं लोकसभा (लोगों का सदन) होते हैं।
- **लोकसभा (Lok Sabha):** भारतीय संविधान के अनुच्छेद 79 के प्रावधान के अनुसार, लोक सभा, लोकसभा संसद का निचला सदन है। लोकसभा वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष चुनाव द्वारा चुने गए लोगों के प्रतिनिधियों से बनी है। संविधान द्वारा परिकल्पित सदन की अधिकतम संख्या 552 है।
- **राज्यसभा (Rajya Sabha):** राज्यों की परिषद यानी राज्य सभा भारतीय संसद का ऊपरी सदन है। राज्य सभा में राज्यों और संघ राज्य क्षेत्रों के प्रतिनिधि और भारत के राष्ट्रपति द्वारा नामित व्यक्ति शामिल होते हैं। भारत का उपराष्ट्रपति राज्य सभा का पदेन सभापति होता है। राज्य सभा अपने सदस्यों में से एक उपसभापति भी चुनती है।

1.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर (Answer for Practice Questions)

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

1. वर्तमान और भविष्य की पीढ़ियों की जरूरतों को संतुलित करना
2. 2015

निम्नलिखित कथनों में से सत्य या असत्य कथन का चुनाव कीजिए-

3. असत्य 4. सत्य 5. असत्य

1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची (Bibliography)

- Andriantiatsaholiniaina, L. A., Kouikoglou, V. S., & Phillis, Y. A. (2004). ***Evaluating strategies for sustainable development: fuzzy logic reasoning and sensitivity analysis. Ecological Economics***, 48(2), 149–172. https://doi.org/10.1016/j.ecolecon.2003.08.009
- Bhalachandran, G. (2011). ***Kautilya's model of sustainable development***. Humanomics, 27(1), 41–52. https://doi.org/10.1108/08288661111110169
- Chen, H., & Yada, R. (2011). ***Nanotechnologies in agriculture: New tools for sustainable development***. Trends in Food Science & Technology, 22(11), 585–594. https://doi.org/10.1016/j.tifs.2011.09.004
- Dev, R. (n.d.-a). ***Corporate Social Responsibility (CSR) in Indian Banking Sector: An analytical study of ICICI bank limited***.
- Dev, R. (n.d.-b). ***Corporate Social Responsibility in India: Reaching to Unreached?***
- ***India follows a holistic approach towards its 2030 Sustainable Development Goals (SDGs).*** (n.d.). Retrieved February 13, 2020, from https://pib.gov.in/newsite/PrintRelease.aspx?relid=191192
- Kaygusuz, K. (2012). ***Energy for sustainable development: A case of developing countries. Renewable and Sustainable Energy Reviews***, 16(2), 1116–1126. https://doi.org/10.1016/j.rser.2011.11.013
- Oparaocha, S., & Dutta, S. (2011). ***Gender and energy for sustainable development. Current Opinion in Environmental Sustainability***, 3(4), 265–271. https://doi.org/10.1016/j.cosust.2011.07.003
- Smyth, J. C. (1995). ***Environment and Education: a view of a changing scene. Environmental Education Research***, 1(1), 3–120. https://doi.org/10.1080/1350462950010101

1.11 उपयोगी पाठ्य सामग्री (Useful Text)

- ***Theories of Sustainable Development*** (2015). Edited by Judith C. Enders and Moritz Remig, Routledge, 2 Park Square, Milton Park, Abingdon, Oxon OX14 4RN
- Simon Dresner (2008). ***The Principles of Sustainability***, Earthscan Publication, Dunstan House, 14a St Cross St, London, EC1N 8XA, UK
- Jennifer A. Elliott (2013). ***An Introduction to Sustainable Development***, Routledge, 2 Park Square, Milton Park, Abingdon, Oxon OX14 4RN Island Publishing House, Inc., Philippines

1.12 निबंधात्मक प्रश्न (Essay Type Questions)

1. सहस्राब्दि विकास से आप क्या समझते हैं? सहस्राब्दि विकास लक्ष्यों की व्याख्या कीजिए।
2. सतत विकास क्या है? सतत विकास के इतिहास को विस्तारपूर्वक समझाइए।
3. सतत विकास एवं सहस्राब्दि विकास के बीच अंतर बताइए।

इकाई 2 सतत विकास के सिद्धांत
(Principles of Sustainable Development)

2.1 प्रस्तावना (Introduction)
2.2 उद्देश्य (Objectives)
2.3 सतत विकास के मुख्य सिद्धांत (Main Principles of Sustainable Development)
2.4 सतत विकास दृष्टिकोण: सीमाएं और लाभ (Sustainable Development Approach: Limitations and Advantages)
2.5 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)
2.6 सारांश (Summary)
2.7 शब्दावली (Glossary)
2.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर (Answer for Practice Questions)
2.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची (Bibliography)
2.10 उपयोगी पाठ्य सामग्री (Helpful Text)
2.11 निबन्धात्मक प्रश्न (Essay type Questions)

2.1 प्रस्तावना (Introduction)

सतत विकास आज की वैश्विक नीति और पर्यावरणीय चर्चा में एक केंद्रीय विषय के रूप में उभरा है. जिसका उद्देश्य आर्थिक विकास को पर्यावरणीय संरक्षण और सामाजिक समानता के साथ संतुलित करना है। यह अवधारणा सार्वभौमिक रूप से महत्वपूर्ण है। इस अध्याय में आप सतत विकास के मुख्य सिद्धांतों और इससे सम्बंधित सीमाओं और लाभों के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करेगा।

सतत विकास के मुख्य सिद्धांत तीन मुख्य स्तंभों के चारों ओर केंद्रित हैं- पर्यावरणीय संरक्षण, सामाजिक समानता, और आर्थिक व्यवहार्यता। ये सिद्धांत संसाधनों के दोहन को न्यूनतम करने, संसाधनों तक समान पहुँच सुनिश्चित करने और दीर्घकालिक स्थिरता को समर्थन देने वाले आर्थिक प्रथाओं को बढ़ावा देने की बात करते हैं।

2.2 उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय के उपरान्त आप –

- ✓ सतत विकास के मुख्य सिद्धांत को जान सकेंगे।
- ✓ सतत विकास की सीमा और लाभों के विषय में जान सकेंगे।

2.3 सतत विकास के मुख्य सिद्धांत (Main Principles of Sustainable Development)

सतत विकास परिवर्तन की एक प्रक्रिया है जिसमें समान रूप से संसाधनों का शोषण, निवेश की दिशा, तकनीकी विकास और संस्थागत परिवर्तन का अभिविन्यास सुनिश्चित करना है और मानव की दोनों वर्तमान और भविष्य की जरूरतों और आकांक्षाओं को पूरा करने की क्षमता को बढ़ाना है। जबकि सततशीलता एक आदर्श और गुणात्मक अवधारणा है जोकि विकासशील लक्ष्यों में सांस्कृतिक, सामाजिक, पारिस्थितिक और आर्थिक आयामों को एकीकृत करती है ताकि आजीविका की बेहतर आपूर्ति के लिए सामंजस्यपूर्ण संतुलन प्राप्त किया जा सके। मौलिक रूप से यह एक स्थानीय प्रयास है क्योंकि प्रत्येक समुदाय की अपनी विभिन्न सामाजिक, आर्थिक और पर्यावरणीय आवश्यकताएं और चिंताओं होती हैं। इस के कुछ महत्वपूर्ण सिद्धांत हैं जो सामाजिक, आर्थिक और पर्यावरणीय व्यवस्थाओं के सही एकीकरण की सुविधा प्रदान कर सकते हैं।

सततशीलता, गतिशील मानव आर्थिक प्रणालियों और धीमी पारिस्थिति की प्रणालियों के बीच का अंतर्संबंध है, जिसके अंतर्गत ***पहला***, मानव जीवन विकसित हो सकता है। ***दूसरा***, मानव का विकास हो सकता है। ***तीसरा***, संस्कृति विकसित हो सकती है। और ***चौथा***, मानव गतिविधियों के प्रभाव को सीमित किया जा सकता है। ताकि जीवन-समर्थन प्रणाली (Life Support Systems) की विविधता, जटिलता और कामकाज को प्रभावित ना हो। पारिस्थितिक तंत्र की क्षमता के भीतर, मानव जीवन की गुणवत्ता में सुधार के लिए ***जैविक प्रणाली*** लक्ष्यों (आनुवंशिक विविधता, प्रतिरोध, जैविक उत्पादकता) के साथ-साथ ***आर्थिक प्रणाली*** के लक्ष्यों (मूलभूत आवश्यकताओं की संतुष्टि, न्यायपरस्ता में वृद्धि, उपयोगी वस्तुओं और सेवाओं में बढ़ोतरी) और ***सामाजिक प्रणाली*** लक्ष्यों (सांस्कृतिक विविधता, संस्थागत सततशीलता, सामाजिक न्याय, भागीदारी) को बढ़ावा देना आवश्यक है।

सतत विकास के मुख्य सिद्धांत इस प्रकारहैं: -

- पारिस्थितिकी तंत्र के संरक्षण का सिद्धांत
- समाज के सतत विकास का सिद्धांत
- जैव विविधता संरक्षण का सिद्धांत
- जनसंख्या नियंत्रण का सिद्धांत
- मानव संसाधन संरक्षण का सिद्धांत
- सार्वजनिक भागीदारी का सिद्धांत
- सांस्कृतिक विरासत संरक्षण का सिद्धांत
- सामाजिक न्याय और एकजुटता
- आर्थिक दक्षता
- भागीदारी और प्रतिबद्धता
- ज्ञान तक पहुंच
- अंतर-सरकारी साझेदारी और सहयोग
- जिम्मेदार उत्पादन और खपत
- प्रदूषक भुगतान करें
- लैंगिक समानता
- पारम्परिक ज्ञान प्रणाली का सम्मान एवं उपयोग
- सावधानी, रोकथाम और मूल्यांकन का सिद्धांत

1. पारिस्थिति की तंत्र के संरक्षण का सिद्धांत (Principle of Conservation of Eco-System)

पारितंत्र या पारिस्थितिक तंत्र एक प्राकृतिक इकाई है जिसमें एक क्षेत्र विशेष के सभी जीवधारी, अर्थात् पौधे, जानवर और अणुजीव शामिल हैं जोकि अपने निर्जीव पर्यावरण के साथ अंतर्क्रिया करके एक सम्पूर्ण जैविक इकाई बनाते हैं। पारिस्थितिक तंत्र संरक्षण का मुख्य कार्य प्रणाली के भीतर संरचना, कार्य और प्रजातियों के संकलन की रक्षा या पुनर्स्थापना करना है। सतत विकास का अंतिम उद्देश्य धरती को संरक्षण देना है। यह पारिस्थितिक तंत्र को सततशील बनाने के लिए है। इस प्रयोजन के लिए स्थलीय और जलीय पारिस्थितिकी तंत्र का संरक्षण आवश्यक है। सतत विकास को प्राप्त करने के लिए, पर्यावरण संरक्षण को विकास प्रक्रिया का एक अभिन्न हिस्सा बनाना चाहिए। राष्ट्रों को अपने संसाधनों का फायदा उठाने का सार्वभौम अधिकार है लेकिन उनकी सीमाओं से परे पर्यावरणीय क्षति पहुंचाए बिना। आज के विकास को वर्तमान और भावी पीढ़ियों के विकास और पर्यावरण की जरूरतों को कमजोर नहीं करना चाहिए। मानव गतिविधियों को पारिस्थितिक तंत्र की समर्थन क्षमता का सम्मान करना चाहिए। मृदा की उत्पादन क्षमता को बढ़ाने में सम्मिलित विकास कार्य पृथ्वी की वहन क्षमता के भीतर होना चाहिए। पृथ्वी पर संसाधन सीमित हैं। पृथ्वी पर सीमित और असीमित संसाधनों के लिए पर्याप्त नहीं हो सकते हैं संसाधनों का अधिक से अधिक दोहन पर्यावरण पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। लोग उन सारी चीजों को नहीं प्राप्त कर सकते हैं जिनकी उन्हें पृथ्वी से तुरंत आवश्यकता है।

2. समाज के सतत विकास का सिद्धांत (Principle of Sustainable Development of Society)

समाज पर्यावरण संरक्षण के प्रति प्रेरित हो इसके लिए समाज का स्थिर होना आवश्यक है और समाज की सततशीलता, स्वस्थ निवास, संतुलित आहार, पर्याप्त स्वास्थ्य सेवा, रोजगार और श्रेष्ठ शिक्षा की उपलब्धता पर निर्भर करती है। यदि ये तत्व विकसित होते हैं और समाज में लोगों के लिए उपलब्ध होते हैं तो यह एक सतत समाज बन जाता है। यह प्रकृति और प्राणियों के प्रति अपने सकारात्मक दृष्टिकोण को विकसित करने में सहायता करता है। मानव स्वास्थ्य और जीवन की बेहतर गुणवत्ता सतत विकास की चिंताओं के केंद्र में हैं। लोग प्रकृति के साथ सामंजस्य में स्वस्थ और गुणवत्तापूर्ण जीवन के हकदार हैं। पूरे विश्व से गरीबी उन्मूलन, जीवन स्तर में असमानताओं को कम करने और अधिकांश लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सतत विकास आवश्यक है।

3. जैव विविधता संरक्षण का सिद्धांत (Principle of Biodiversity conservation)

जैव-विविधता (जैविक-विविधता) जीवों के बीच पायी जाने वाली विभिन्नता है जोकि प्रजातियों में, प्रजातियों के बीच और उनकी पारितंत्रों की विविधता को भी समाहित करती है। सतत विकास, जैव विविधता सरंक्षण पर केंद्रित है तथा इसका संरक्षण जरूरी है। जैव विविधता से मिलने वाली सेवाओं और जैविक संसाधनों के लाभ को निरंतर प्राप्त करने के लिए जैव विविधता का संरक्षण करना चाहिए क्योकि यह पृथ्वी पर मानव जीवन को जीने के लिए आवश्यक हैं। यह दुनिया के सभी जीवित प्राणियों को संरक्षित करने के लिए भी आवश्यक है। जैव विविधता के संरक्षण के लिए राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय कार्यक्रम आयोजित किए जाने चाहिए तथा कार्यक्रमों में समन्वय होना चाहिए। जैविक विविधता अतुलनीय लाभ प्रदान करती है और यह लाभ वर्तमान और भावी पीढ़ियों के लिए संरक्षित होना चाहिए। अगर मानव जीवन की गुणवत्ता को बनाए रखना है तो प्रजातियों की सुरक्षा, पारिस्थितिक तंत्र और जीवन को बनाए रखने वाली प्राकृतिक प्रक्रियाएं आवश्यक हैं।

4. जनसंख्या नियंत्रण का सिद्धांत (Principle of Population Control)

मनुष्य पृथ्वी पर पाए गए सीमित साधनों और संसाधनों का उपयोग करके अपने जीवन को बनाए रखते हैं। जनसंख्या वृद्धि के कारण, भोजन, कपड़े, आवास आदि की जरूरतें बढ़ जाती हैं। दुनिया में बढ़ती आबादी की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उपलब्ध साधनों और संसाधनों को नहीं बढ़ाया जा सकता। स्थायी विकास के लिए जनसंख्या नियंत्रण और प्रबंधन आवश्यक हैं। यह पर्यावरण संतुलन में सहायक होगा।

5. मानव संसाधन संरक्षण का सिद्धांत (Principle of Human Resource Conservation)

पर्यावरण की रक्षा करना और सतत विकास को प्राप्त करना ना केवल तकनीकी और आर्थिक मामलों पर निर्भर करता है बल्कि विचारों, दृष्टिकोणों और व्यक्तिगत व्यवहार में बदलावों पर भी निर्भर करता है। इसमें व्यक्तियों और समुदायों की प्रत्यक्ष भागीदारी आवश्यक है। सभी को अपने पर्यावरण के बारे में पूर्ण जानकारी होनी चाहिए। मनुष्य को अपनी मांगों के साथ-साथ पर्यावरण की सीमाओं को भी जानना चाहिए और उसके अनुसार ही अपनी आदतों और व्यवहार को बदलना चाहिए। पृथ्वी की देखभाल करने के लिए उसके ज्ञान और कौशल को विकसित करना चाहिए। शिक्षा, स्वास्थ्य देखभाल और प्रशिक्षण प्रदान करके मानव संसाधन विकसित किया जाना है। मानव संसाधन, सतत विकास के सिद्धांतों को अपनाने के लिए योगदान देता है।

6. सार्वजनिक भागीदारी का सिद्धांत (Principle of Public Participation)

सतत विकास को व्यक्तिगत तौर पर नहीं रखा जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति का एक संयुक्त प्रयास अनिवार्य है। सतत विकास की अवधारणा को क्रियान्वित करने के लिए सार्वजनिक भागीदारी को बढ़ाया जाना चाहिए। इसलिए सतत विकास के हर कार्यक्रम में जनता के सकारात्मक व्यवहार को विकसित किया जाना चाहिए। अधिकार और जिम्मेदारियों को अधिकार के उचित स्तर तक सौंप दिया जाना चाहिए। जितना संभव हो सके केंद्रों को निर्णय लेने की क्षमता पर्याप्त रूप से संबंधित नागरिकों और समुदायों को सौंप देनी चाहिए। सामाजिक-आर्थिक जीवन और पर्यावरण को प्रभावित करने वाली जानकारी तक पर्याप्त पहुंच सभी को प्रदान की जानी चाहिए। सतत विकास की स्पष्ट नीतियाँ होनी चाहिए और इसके सामाजिक-आर्थिक और पर्यावरणीय प्रभावों के बारे में लोगों का ज्ञान, सतत समाधान और दृष्टिकोण को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। निर्णय लेने में सार्वजनिक भागीदारी को मजबूत किया जाना चाहिए।

7. सांस्कृतिक विरासत संरक्षण का सिद्धांत (Principle of Cultural Heritage Conservation)

संपत्ति, स्थल, परिदृश्य, परंपराओं और ज्ञान से सृजित सांस्कृतिक विरासत, किसी भी समाज की पहचान को प्रदर्शित करती है। यह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक समाज के मूल्यों से गुजरता है और इस विरासत के संरक्षण से विकास की सततशीलता को बढ़ावा मिलता है। सतत विकास सामाजिक परंपराओं, धार्मिक स्थानों और लोगों के सांस्कृतिक पहलुओं के संरक्षण पर बल देता है। विविध सांस्कृतिक विरासत समाज का अमूल्य योगदान है लेकिन अंधविश्वास से बचा जाना चाहिए। सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित रखना हम सभी का कर्तव्य है और इसका संरक्षण सतत विकास को बढ़ावा देता है। सांस्कृतिक विरासत घटकों को पहचान कर उसको संरक्षित करके उसमें बढ़ोतरी की जानी चाहिए साथ ही उनकी आंतरिक दुर्लभता और नाजुकता को ध्यान में रखना चाहिए।

8. सामाजिक न्याय और एकजुटता (Social Justice and Solidarity)

सामाजिक न्याय की बुनियाद, सभी मनुष्यों को समान मानने के आग्रह पर आधारित है। किसी के साथ सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों के आधार पर भेदभाव नहीं होना

चाहिए। किसी भी देश के विकास में वहाँ पर व्याप्त अंतर-पीढ़ीगत न्यायपरस्ता, सामाजिक नैतिकता और एकता की भावना में सामंजस्यता को स्थापित किया जाना चाहिए।

9. आर्थिक दक्षता (Economic Efficiency)

अर्थव्यवस्था और उसके क्षेत्र प्रभावी होने चाहिए जोकि नवाचार और आर्थिक समृद्धि की ओर अग्रसर हो तथा सामाजिक प्रगति और पर्यावरण के प्रति अनुकूल हो। एक खुले अंतरराष्ट्रीय आर्थिक प्रणाली को बढ़ावा देने के लिए राष्ट्रों को सहयोग प्रदान करना चाहिए जिससे सभी देशों में आर्थिक विकास और सतत विकास करना संभव हो सके। पर्यावरणीय नीतियों का उपयोग अंतर्राष्ट्रीय नीतियों को सीमित करने के (एक अनुचित साधन के रूप में) उद्देश्य से उपयोग नहीं किया जाना चाहिए।

10. भागीदारी और प्रतिबद्धता (Participation and Commitment)

विकास की एक ठोस दृष्टि को परिभाषित करने और इसकी पर्यावरणीय, सामाजिक और आर्थिक स्थिरता सुनिश्चित करने के लिए नागरिकों और नागरिकों के समूहों की भागीदारी और प्रतिबद्धता आवश्यक है। पर्यावरणीय मुद्दों को नियंत्रित करने का सबसे अच्छा तरीका संबंधित क्षेत्रों के नागरिकों की भागीदारी को सुनिश्चित करना आवश्यक है। पर्यावरणीय जानकारी को व्यापक रूप से उपलब्ध कराकर राष्ट्रीय जागरूकता और भागीदारी को प्रोत्साहित कर सकते हैं।

11. ज्ञान तक पहुंच (Access to Knowledge)

शिक्षा के लिए अनुकूल उपाय, सूचना और अनुसंधान तक पहुंच को प्रोत्साहन देने के लिए प्रोत्साहित किया जाना चाहिए ताकि नवीनता को बढ़ावा दिया जा सके, जागरूकता पैदा की जा सके और सतत विकास के कार्यान्वयन में लोगों की प्रभावी भागीदारी सुनिश्चित हो सके। सतत विकास की समस्याओं की बेहतर हेतु वैज्ञानिक समझ की आवश्यकता होती है। सततशीलता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए राष्ट्रों को ज्ञान और नवीन तकनीकों को साझा करना चाहिए। राष्ट्रों को पर्यावरणीय मामलों और सतत विकास पर अपनी जनसंख्या को बेहतर शिक्षित, सूचित और संवेदनशील बनाने के लिए रणनीतियों को विकसित करना होगा।

12. अंतर-सरकारी के मध्य साझेदारी और सहयोग (partnership and coorperation in between Inter- governmental)

देश के सतत विकास हेतु सरकारों को यह सुनिश्चित करने के लिए सहयोग करना चाहिए कि विकास पर्यावरणीय, सामाजिक और आर्थिक दृष्टिकोण से टिकाऊ हो। किसी सुनिश्चित क्षेत्र में कार्यों के सम्पादन हेतु उसके बाहरी प्रभावों को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। विश्व के सभी देशों को प्राकृतिक आपदाओं या गतिविधियों के बारे में चेतावनी साझा करनी चाहिए।

13. जिम्मेदार उत्पादन और खपत (Responsible production and consumption)

उत्पादन और खपत के स्वरूप को विशेष रूप से संसाधनों के उपयोग को अपशिष्ट और अनुकूलन करने वाले एक पारिस्थितिक दृष्टिकोण के माध्यम से उत्पादन और खपत को अधिक व्यवहार्य और अधिक सामाजिक और पर्यावरण के लिए जिम्मेदार बनाने के लिए बदलना चाहिए और उचित जनसांख्यिकी नीतियों को बढ़ावा देना चाहिए। निजी और सार्वजनिक क्षेत्र के बीच सहयोग के साथ व्यापार की सामाजिक जिम्मेदारी को मजबूत किया जाना चाहिए।

14. प्रदूषक भुगतान करें (Make the polluter pay)

ऐसे उपक्रम या संस्थाएं जो प्रदूषण फैलते हैं या पर्यावण को किसी अन्य तरह से नुकसान पहुंचाते हैं उन्हें पर्यावरणीय क्षति को रोकने, कम करने और नियंत्रण के उपायों की लागत का अपने हिस्से का भुगतान वहन करना चाहिए। विभिन्न देशों द्वारा अंतरराष्ट्रीय कानून को विकसित करना चाहिए ताकि अपने देश के नियंत्रण के तहत गतिविधियों के कारण अपनी सीमाओं से परे क्षेत्रों में हुए नुकसान के लिए मुआवजे प्रदान किया जा सके। सम्पूर्ण विश्व में, राष्ट्रीय स्तर पर प्रभावी

पर्यावरणीय कानूनों के निर्माण और प्रदूषण के शिकार लोगों और अन्य पर्यावरणीय क्षतियों के लिए देयता के संबंध में राष्ट्रीय कानून विकसित होने चाहिए। सभी राष्ट्रों को प्रस्तावित गतिविधियों के पर्यावरणीय दृष्टिकोण से संभावित प्रतिकूल प्रभावों का आकलन करना चाहिए।

प्रदूषक (Pollutant) को 'प्रदूषण की लागत को वहन करना' सिद्धांत रूप में होना चाहिए। कीमतें, उपभोग और उत्पादन में शामिल गतिविधियों के साथ-साथ प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग की लागत सहित उनके प्रभावों के लिए समाज द्वारा भुगतान की जाने वाली वास्तविक लागत को प्रतिबिंबित करनी चाहिए। पर्यावरण में हानिकारक / प्रदूषण की गतिविधियों में लगे लोगों को मानव स्वास्थ्य या पर्यावरण के कारण होने वाले नुकसान के लिए भुगतान करना चाहिए।

15. लैंगिक समानता (Gender Equality)

लैंगिक समानता ना केवल दुनिया की आधी आबादी हेतु चिंता का विषय है परन्तु यह मानव अधिकारों से भी जुड़ा हुआ है। जब किसी समाज की आबादी के आधे हिस्से को आर्थिक, राजनीतिक या सामाजिक रूप से उपेक्षित किया जाता है तब समाज को विकसित नहीं किया जा सकता। किसी भी देश में सतत विकास को प्राप्त करने के लिए महिलाओं की पूर्ण भागीदारी परम आवश्यक है। राष्ट्रों को देश की संस्कृति, पहचान और स्वदेशी लोगों के हितों को समझ कर उसका समर्थन करना चाहिए।

16. पारम्परिक ज्ञान प्रणाली का सम्मान एवं उपयोग (Respect and use of Traditional Knowledge System)

पारंपरिक ज्ञान, विकास का एक सक्षम घटक है। मानव कल्याण और सतत विकास हेतु पारम्परिक ज्ञान एक प्रमुख भूमिका निभा सकता है तथा आज विश्व को लोगों के पारम्परिक ज्ञान की भी जरूरत है। पारम्परिक ज्ञान प्रणाली, वैश्विक चुनौतियों जैसे जलवायु परिवर्तन, सामाजिक एवं लैंगिक असमानता आदि में सुधार हेतु योगदान दे सकते हैं। सभी राष्ट्रों को अपने-अपने अधिकार क्षेत्रों में पारम्परिक ज्ञान का अभिलेखबद्ध करना चाहिए ताकि इस ज्ञान का सार्वभौमिक उपयोग रचनात्मक कार्यों हेतु किया जा सके तथा भविष्य के लिए भी इसको संरक्षित किया जा सके।

17. सावधानी, रोकथाम और मूल्यांकन का सिद्धांत (Principle of Precaution, Prevention and Evaluation)

सावधानी पूर्वक दृष्टिकोण का अर्थ है कि जहां भी गंभीर या अपरिवर्तनीय क्षति की संभावना महसूस की जाती है, वहां बिना विलम्ब के उस क्षति की रोकथाम के उपायों को अपनाना चाहिए तथा निरंतर मूल्यांकन का सहारा लेना चाहिए ताकि पर्यावरण, पारिस्थिकी तंत्रों एवं मानव स्वास्थ्य को कोई हानि ना पहुंचे यानी कथित खतरे की प्रबलता को ध्यान में रखते हुए कार्रवाई की जानी चाहिए। मानव गतिविधियों को इसी सिद्धांत के साथ नियोजित और निष्पादित किया जाना चाहिए और प्राकृतिक संसाधनों को नुकसान पहुंचा रहे या पर्यावरण को प्रदूषित कर रहे कारकों को जहां तक संभव हो सके रोका जाना चाहिए।

2.4 सतत विकास दृष्टिकोण की सीमाएं और लाभ (Limitations and advantage of Sustainable Development Approach)

पिछले कुछ वर्षों में, 'सततशीलता' का विचार तर्कसंगत रूप से प्रमुख ढांचा बन गया है जिसके माध्यम से पर्यावरणीय चिंता का मुद्दा देखा जाता है। हमारी भूमि और समुद्रों के संरक्षण, व्यापारिक उद्यमों, शहरी नियोजन, खाद्य उत्पादन प्रणाली और वैश्विक जलवायु परिवर्तन इन सभी पर विचार-विमर्श किया जा रहा है और कुछ मामलों में नीति 'सततशीलता' के आधार पर लागू की जा रही है।

अध्याय के इस खण्ड अंतर्गत आप जानेंगे की क्या पर्यावरणीय मुद्दों के लिए सततशीलता एकमात्र एवं सबसे ज्यादा वांछनीय रूपरेखा है? सततशील दृष्टिकोण की सीमाएं और लाभ क्या हैं और किस प्रकार के वैकल्पिक संकल्पनात्मक दृष्टिकोण बेहतर हो सकते हैं?

ब्रुंडलैंड परिभाषा की कमी यह है कि यह व्यावहारिक से अधिक प्रेरणादायक है। यह सटीक और मापनीय नहीं है इसलिए इसके अर्थ से ज्यादातर लोग सहमत नहीं होते है। इसकी परिभाषा पर अक्सर विवाद देखने को मिलता है। वैश्विक गरीबी की समस्या को हल करने सहित, यह परिभाषा भी गुंजाइश के जाल में गिर गई है। यह ऐसे विकास की बात करती है जिसमें विकसित देशों द्वारा उत्पन्न समस्या का हल करने के लिए अविकसित देशों के योगदान की बात की जाती है जिस पर अनेक अविकसित देशों को आपत्ति है। इसकी एक हानि यह भी है कि सतत विकास के संचालन की लागत, गैर पर्यावरणीय अनुकूल तरीकों की लागत से कहीं अधिक होती है। सतत विकास एवं पर्यावरणीय दृष्टि से सुरक्षित सामान और सेवाओं को बनाने के लिए सामान्यत: अधिक खर्चा आता है जिससे उत्पाद और सेवाएं महँगी हो जाती हैं और गरीब आदमी पर आर्थिक भार बढ़ता है।

सतत विकास के कार्यक्रम को चलाने के लिए आवश्यक व्यापक और नए प्रकार के बुनियादी ढांचे का निर्माण करना होगा जिससे कीमतें और बढ़ेंगी। यह किसी विकासशील देश में नए उद्योग या कंपनियों को स्थापित करने में भी अवरोध उत्पन्न कर सकता है क्योंकि कई कंपनियों के लिए, समस्या यह नहीं है कि सतत विकास असंभव है लेकिन यह आर्थिक रूप से कम फायदेमंद है और इसके लिए अधिक काम की आवश्यकता है, जो कंपनी के अस्तित्व के लिए खतरा बन जाती है।

सतत विकास की लाभ-

1. यह स्थानीय लोगों को शामिल करता है और उन्हें रोजगार, आय और शिक्षा प्रदान करता है।
2. सतत विकास आर्थिक लाभों की एक विस्तृत श्रृंखला प्रदान करते हुए प्रणाली की कार्य क्षमता और विविधता को संरक्षित करता है।
3. सतत विकास वन उत्पादों के विविधीकरण को बढ़ावा देता है जिसमें गैर-इमारती लकड़ी वन उत्पाद भी शामिल हैं।
4. जंगलों द्वारा प्रदान की जाने वाली प्राकृतिक सेवाएं सुरक्षित रखता है।
5. आधुनिक मुक्त बाजार व्यवस्था में स्वदेशी लोगों के लिए यह एक जगह उपलब्ध कराता है।

सतत विकास की सीमाएँ-

1. समान रूप से संसाधनों का दोहन, निवेश की दिशा, तकनीकी विकास और संस्थागत परिवर्तन का अभिविन्यास सुनिश्चित करना जटिल कार्य है।
2. लक्ष्य की आपूर्ति समय कम होने के कारण संसाधनों के दोहन का खतरा अधिक है।
3. सतत विकास के लिए गहन अनुसंधान और नियोजन की आवश्यकता है।
4. बाजारों में बुनियादी ढांचे के विकास की आवश्यकता हो सकती है।
5. सतत विकास के लिए संचार के साधनों की आवश्यकता हो सकती है।

2.5 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

1. ब्रंटलैण्ड रिपोर्ट.................वर्ष में आयी। (1987 **या** 1978)
2. वर्ष 1992 में पृथ्वी शिखर सम्मलेन ....में आयोजित हुआ। (रियो डी जनेरियो **या** भारत)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य या असत्य कथन का चुनाव कीजिए-

1. सतत विकास की अवधारणा में केवल वर्तमान आवश्यकताएँ ही शामिल नहीं हैं।
2. सतत विकास का लक्ष्य केवल भविष्य की आवश्यताओं की पूर्ति करना है।
3. सतत विकास में लैंगिक समानता का सिद्धांत सम्मिलित है।

2.6 सारांश (Summary)

ब्रंटलैण्ड रिपोर्ट 1987 ने यह रेखांकित किया कि सतत विकास का तात्पर्य है भविष्य को खतरे में डाले बिना वर्तमान की आवश्यकताओं को पूरा करने से था। इसमें पर्यावरणीय, आर्थिक और सामाजिक आयामों का एकीकरण शामिल है। यद्यपि यह महत्वपूर्ण है फिर भी इस अवधारणा को कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, ब्रंटलैण्ड परिभाषा अक्सर बहुत अमूर्त मानी जाती है और इसके कार्यान्वयन के लिए सटीक मापदंडों की कमी को लेकर आलोचना की जाती है। इसके अतिरिक्त सतत विकास की पहलों की लागत (Initiative Cost) अधिक हो सकती है जहां पर्यावरणीय अनुकूल प्रथाओं के लिए उच्च परिचालन लागत, गरीब समुदायों पर बोझ डाल सकती है। विकासशील देशों के लिए सतत प्रथाओं को अपनाने की वित्तीय चुनौतियां हो सकती हैं क्योंकि नई बुनियादी ढांचे और प्रौद्योगिकियों की लागत बहुत अधिक हो सकती है। इस अध्याय में सतत विकास दृष्टिकोण की सीमाएं और लाभ को आलोचनात्मक रूप से मूल्यांकन किया गया है जबकि इस दृष्टिकोण से कई लाभ जैसे पर्यावरण संरक्षण और सामाजिक न्याय की उम्मीद की जाती है. यह उच्च कार्यान्वयन लागत और वैश्विक सहमति की आवश्यकता जैसी चुनौतियों का भी सामना करता है। इन पहलुओं को समझना सतत विकास लक्ष्यों को प्रभावी ढंग से बढ़ावा देने और नीति और प्रथा में उनकी सफल एकीकरण के लिए महत्वपूर्ण है। जबकि सतत विकास चुनौतियों का सामना करता है इसके समग्र दृष्टिकोण का उद्देश्य देश की प्रगति के लिए एक संतुलित और स्थायी ढांचा तैयार करना है। इसके सीमाओं को नवोन्मेषी समाधान और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के माध्यम से संबोधित किया जा सकता है ताकि सभी के लिए एक अधिक सतत और समान भविष्य प्राप्त किया जा सके।

2.7 शब्दावली (Glossary)

- **सतत विकास (Sustainable Development) -** सतत विकास भविष्य की पीढ़ियों की अपनी जरूरतों को पूरा करने की क्षमता से समझौता किए बिना वर्तमान की जरूरतों को पूरा करता है।
- **ब्रंटलैण्ड आयोग (Brundtland Commission) -** जिसका पूरा नाम पर्यावरण एवं विकास पर संयुक्त राष्ट्र विश्व आयोग (**World Commission on Environment and Development)** या **(WCED)** है, जिसकी अध्यक्षा नार्वे की पूर्व प्रधानमंत्री ग्रो हर्लेम ब्रंटलैण्ड ने की थीं। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट 'हमारा साझा भविष्य' 1987 में जारी किया जिसे ब्रंटलैण्ड रिपोर्ट भी कहा जाता है।
- **पृथ्वी शिखर सम्मेलन (Earth Summit)** - 1992 में रियो डी जेनेरियो, ब्राजील में आयोजित किया गया था। पृथ्वी शिखर सम्मेलन ने पर्यावरण संधियों के कई प्रमुख सिद्धांतों, जैसे एहतियाती सिद्धांत, सामान्य लेकिन विभेदित जिम्मेदारियां, और प्रदूषणकर्ता भुगतान सिद्धांत को फैलाने में प्रभावशाली भूमिका निभाई।
- **कॉर्पोरेट सामाजिक जिम्मेदारी (Corporate Social Responsibility) -** परोपकार और स्वयंसेवी प्रयासों के माध्यम से, व्यवसाय अपने ब्रांड को बढ़ावा देते हुए समाज को लाभ पहुंचा सकते हैं। एक सामाजिक रूप से जिम्मेदार कंपनी खुद और अपने शेयरधारकों के प्रति जवाबदेह होती है। कॉर्पोरेट सामाजिक जिम्मेदारी आमतौर पर बड़ी कंपनियों द्वारा अपनाई जाने वाली रणनीति है।
- **मुक्त बाज़ार (Free Market)**: यह ऐसी आर्थिक व्यवस्था होती है जिसमें माल और सेवाओं की कीमतें खुले बाज़ार में निर्धारित होती हैं।
- **संचालन की लागत (Cost of Operation)-** इससे तात्पर्य व्यवसाय के रखरखाव और प्रशासन से जुड़े दैनिक खर्चों से है। इसे परिचालन लागत के रूप में भी जाना जाता है, इसमें परिचालन और ओवरहेड व्यय के साथ-साथ बेची गई वस्तुओं की लागत भी शामिल है। सामान्य परिचालन लागत के उदाहरण हैं किराया, मशीनरी, पेरोल सेवाएँ, उपयोगिताएँ, वर्दी और कार्यालय की आपूर्ति।

- **वैश्विक गरीबी (Global Poverty)-** विश्व बैंक 2.15 डॉलर प्रतिदिन से कम पर जीवन यापन करने वाले किसी भी व्यक्ति को अत्यधिक गरीबी में रहने वाला मानता है। अत्यधिक गरीबी में रहने वाले लोगों को कभी-कभी निराश्रित के रूप में परिभाषित किया जाता है।
- **लैंगिक समानता (Gender Equality)-** लैंगिक समानता का अर्थ है कि महिलाओं और पुरुषों को जीवन के सभी क्षेत्रों में समान अधिकार, जिम्मेदारियाँ और अवसर प्राप्त हों।
- **आर्थिक दक्षता (Economic Efficiency)-** आर्थिक दक्षता तब होती है जब किसी अर्थव्यवस्था में उत्पादन के सभी सामान और कारकों को उनके सबसे मूल्यवान उपयोगों के लिए वितरित या आवंटित किया जाता है और अपशिष्ट को समाप्त या न्यूनतम किया जाता है। यदि उत्पादन के कारकों का उपयोग उनकी क्षमता के बराबर या उसके करीब के स्तर पर किया जाता है तो एक प्रणाली को आर्थिक रूप से कुशल माना जाता है।

2.8 अभ्यास प्रश्न के उत्तर (Answer for Practice Questions)

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

1. 1987 **2.** रियो डी जनेरियो

निम्नलिखित कथनों में से सत्य या असत्य कथन का चुनाव कीजिए-

1. सत्य **2.** असत्य **3.** सत्य

2.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची (Bibliography)

- Andriantiatsaholiniaina, L. A., Kouikoglou, V. S., & Phillis, Y. A. (2004). ***Evaluating strategies for sustainable development: fuzzy logic reasoning and sensitivity analysis. Ecological Economics***, 48(2), 149–172. https://doi.org/10.1016/j.ecolecon.2003.08.009
- Bhalachandran, G. (2011). ***Kautilya's model of sustainable development***. Humanomics, 27(1), 41–52. https://doi.org/10.1108/08288661111110169
- Chen, H., & Yada, R. (2011). ***Nanotechnologies in agriculture: New tools for sustainable development***. Trends in Food Science & Technology, 22(11), 585–594. https://doi.org/10.1016/j.tifs.2011.09.004
- Dev, R. (n.d.-a). ***Corporate Social Responsibility (CSR) in Indian Banking Sector: An analytical study of ICICI bank limited***.
- Dev, R. (n.d.-b). ***Corporate Social Responsibility in India: Reaching to Unreached?***
- ***India follows a holistic approach towards its 2030 Sustainable Development Goals (SDGs).*** (n.d.). Retrieved February 13, 2020, from https://pib.gov.in/newsite/PrintRelease.aspx?relid=191192

- Kaygusuz, K. (2012). ***Energy for sustainable development: A case of developing countries. Renewable and Sustainable Energy Reviews***, 16(2), 1116–1126. https://doi.org/10.1016/j.rser.2011.11.013
- Oparaocha, S., & Dutta, S. (2011). ***Gender and energy for sustainable development. Current Opinion in Environmental Sustainability***, 3(4), 265–271. https://doi.org/10.1016/j.cosust.2011.07.003
- Smyth, J. C. (1995). ***Environment and Education: a view of a changing scene. Environmental Education Research***, 1(1), 3–120. https://doi.org/10.1080/1350462950010101

2.10 उपयोगी पाठ्य सामग्री (Helpful Text)

- ***Theories of Sustainable Development*** (2015). Edited by Judith C. Enders and Moritz Remig, Routledge, 2 Park Square, Milton Park, Abingdon, Oxon OX14 4RN
- Simon Dresner (2008). ***The Principles of Sustainability***, Earthscan Publication, Dunstan House, 14a St Cross St, London, EC1N 8XA, UK
- Jennifer A. Elliott (2013). ***An Introduction to Sustainable Development***, Routledge, 2 Park Square, Milton Park, Abingdon, Oxon OX14 4RN Island Publishing House, Inc., Philippines

2.11 निबन्धात्मक प्रश्न (Essay type Questions)

1. जनसंख्या नियंत्रण और मानव संसाधन संरक्षण के सिद्धांत सतत विकास में कितनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं? विस्तार से समझाएँ कि जनसंख्या वृद्धि और मानव संसाधनों का संरक्षण किस प्रकार सतत विकास के लक्ष्यों को प्रभावित करते हैं।
2. सतत विकास के दृष्टिकोण की सीमाएँ क्या हैं और ये सीमाएँ किस प्रकार सतत विकास की प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं? उदाहरणों के साथ समझाइए।
3. सतत विकास के प्रमुख सिद्धांत कौन-कौन से हैं और ये सिद्धांत किस प्रकार पर्यावरणीय संरक्षण, सामाजिक समानता और आर्थिक व्यवहार्यता के बीच संतुलन स्थापित करने में मदद करते हैं? इसके सिद्धांतों के प्रमुख बिंदुओं को विस्तार से समझाइए।

इकाई - 3 सतत विकास मापदंड :- प्रगति और सफलता मापन (Sustainable Development Criteria:- Measuring Progress and Success)

3.1 प्रस्तावना (Introduction)

3.2 उद्देश्य (Objectives)

3.3 सतत विकास लक्ष्य (Sustainable Development Goals)

3.4 सतत विकास के मापदंड (Measurement of Sustainable Development)

3.4.1. पर्यावरण संधारणीयता (Environmental Sustainability)

3.4.2. आर्थिक संधारणीयता (Economic Sustainability)

3.4.3. सामाजिक संधारणीयता (Social Sustainability)

3.4.4. संस्थागत संधारणीयता (Institutional Sustainability)

3.5 सतत विकास मापदंड: प्रगति और सफलता मापन (Sustainable Development Criteria - Measuring Progress and Success)

3.6 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)

3.7 सारांश (Summary)

3.8 शब्दावली (Glossary)

3.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर (Answer for Practice Questions)

3.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची (Bibliography)

3.12 उपयोगी पाठ्य सामग्री (Helpful Text)

3.13 निबन्धात्मक प्रश्न (Essay type Questions)

3.1 प्रस्तावना (Introduction)

सतत विकास, समाज के समग्र विकास को एक नई ऊँचाई पर ले जाने का लक्ष्य रखता है। ये लक्ष्य विभिन्न पहलुओं जैसे गरीबी उन्मूलन, खाद्य सुरक्षा, स्वास्थ्य, शिक्षा, और पर्यावरणीय संरक्षण को सम्मिलित करते हैं और इनका उद्देश्य एक समावेशी और संतुलित समाज का निर्माण करना है।

इस अध्याय में हम सतत विकास के सिद्धांतों और लक्ष्यों की गहराई से जांच करेंगे, जो समग्र विश्व की स्थिरता और समृद्धि को सुनिश्चित करने के लिए डिज़ाइन किए गए हैं। सतत विकास को एक व्यापक दृष्टिकोण से समझना आवश्यक है जिसमें पर्यावरणीय, आर्थिक और सामाजिक पहलुओं के बीच संतुलन बनाए रखना शामिल है। हम इस बात पर ध्यान केंद्रित करेंगे कि सतत विकास लक्ष्य (Sustainable Development Goals) जिनमें 17 मुख्य लक्ष्य शामिल हैं इसमें वैश्विक चुनौतियों का समाधान कैसे प्रस्तुत करते हैं। ये लक्ष्य गरीबी उन्मूलन, खाद्य सुरक्षा, स्वास्थ्य, शिक्षा, लिंग समानता, स्वच्छ जल और जलवायु परिवर्तन जैसे विविध विषयों को शामिल करते हैं।

इस अध्याय में, हम पर्यावरणीय संधारणीयता पर चर्चा करेंगे, जिसमें जैव विविधता, वन आच्छादित संरक्षण और हरी प्रौद्योगिकियों के उपयोग पर जोर दिया जाएगा। आप जानेंगे कि किस प्रकार पर्यावरणीय समस्याओं जैसे जलवायु परिवर्तन और प्रदूषण को कम करने के लिए ठोस नीतियाँ और प्रौद्योगिकियाँ विकसित की जाती हैं। इसके साथ ही, आर्थिक संधारणीयता के पहलुओं पर भी ध्यान दिया जाएगा, जिसमें गरीबी उन्मूलन, आय में वृद्धि और हरित सूक्ष्म उद्यमों (Green Micro Entreprises) को बढ़ावा देना शामिल है। सामाजिक संधारणीयता की भूमिका को भी समझना महत्वपूर्ण है जोकि मानव जीवन की गुणवत्ता को सुधारने, सार्वजनिक स्वास्थ्य को बढ़ावा देने और सामाजिक समानता को सुनिश्चित करने पर केंद्रित है। हम यह भी देखेंगे कि कैसे संस्थागत संधारणीयता, जैसे प्रभावी निगरानी तंत्र और सक्षम जनशक्ति, सतत विकास की दिशा में प्रभावी भूमिका निभाती है।

अंत में, हम सतत विकास के मापदंडों पर ध्यान देंगे और यह जानेंगे कि पारिस्थितिकीय दबाव और जैव विविधता की क्षमता की तुलना कैसे की जाती है। इस अध्याय में, विकासशील देशों की विशिष्ट जरूरतों और चुनौतियों पर भी चर्चा होगी, और यह देखा जाएगा कि कैसे समुचित नीतियों और वैश्विक साझेदारी से इन समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। इस अध्याय के माध्यम से, आप सतत विकास के जटिल और बहुआयामी परिदृश्य को समझने में सक्षम होंगे, जो वैश्विक और स्थानीय स्तर पर सकारात्मक परिवर्तन को प्रेरित कर सकते हैं।

3.2 उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप -

- ✓ सतत विकास लक्ष्यों को समझा सकेंगे।
- ✓ सतत विकास के मापदंडों को समझ सकेंगे।
- ✓ सतत विकास की प्रगति और सफलता मापन के मापदंडो से अवगत हों सकेंगे।

3.3 सतत विकास लक्ष्य (Sustainable Development Goals)

यहाँ हम सतत विकास लक्ष्योंके विषय में जानेंगे, हम उन महत्वपूर्ण लक्ष्यों की समीक्षा करेंगे जिन्हें वैश्विक रूप से स्थायी विकास और समकालीन चुनौतियों का समाधान सुनिश्चित करने के लिए अपनाया गया है। ये लक्ष्य गरीबी और भूख को समाप्त करने, सभी के लिए अच्छे स्वास्थ्य और गुणवत्ता वाली शिक्षा सुनिश्चित करने, और लिंग समानता को बढ़ावा देने जैसी प्रमुख समस्याओं को शामिल करते हैं। हम पानी और ऊर्जा की सुरक्षा,आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करने और मजबूत अवसंरचना के निर्माण की दिशा में उठाए गए कदमों पर भी ध्यान देंगे। असमानताओं को कम करने, शहरों में जीवन की गुणवत्ता सुधारने और जलवायु परिवर्तन से निपटने की कोशिशों पर चर्चा होगी। इसके अलावा, समुद्री और पारिस्थितिक तंत्रों के

संरक्षण,शांति और न्याय को बढ़ावा देने, और वैश्विक भागीदारी को सुदृढ़ करने पर भी ध्यान केंद्रित किया जाएगा। यह ढांचा समानता, समृद्ध, और सतत भविष्य की दिशा में काम करता है।

गरीबी नहीं
भूख नहीं
उत्तम स्वास्थ्य और कल्याण
स्तरीय शिक्षा
लैंगिक समानता
साफ पानी और स्वच्छता
अक्षय उर्जा
अच्छी नौकरियां और आर्थिक वृद्धि
उद्योग, नवोन्मेष, बुनियादी ढांचा
घटी हुई असमानताएं
सशक्त शहर और समुदाय
जिम्मेदार उपभोग
जलवायु कार्यवाही
पानी के नीचे जीवन
धरती पर जीवन
शांति और न्याय
लक्ष्यों के लिए भागीदारियां

उपरोक्त लक्ष्यों के विषय में आगे विस्तार से चर्चा की गयी है-

1. गरीबी के सभी रूपों को सर्वत्र समाप्त करना।
2. भुखमरी को समाप्त करना, खाद्य सुरक्षा प्राप्त करना और पोषण में सुधार लाना तथा सम्पोषणीय कृषि को बढ़ावा देना।
3. स्वास्थ्य सुनिश्चित करना और हर उम्र में सभी के लिए तंदुरूस्ती को बढ़ावा देना।
4. समावेशी और साम्यपूर्ण स्तरीय शिक्षा सुनिश्चित करना और सबके लिए आजीवन पठन पाठन के अवसरों को बढ़ावा देना।
5. लिंग संबंधी समानता हासिल करना और सभी महिलाओं एवं बालिकाओं का सशक्तिकरण।
6. सबके लिए जल और स्वच्छता की उपलब्धता और स्थायी प्रबंध्र सुनिश्चित करना।
7. सबके लिए वहनीय, विश्वसनीय और आधुनिक ऊर्जा की उपलब्धता सुनिश्चित करना।

8. सबके लिए स्थायी, समावेशी और सतत आर्थिक विकास, पूर्ण एवं लाभकारी तथा उचित रोजगार को बढ़ावा देना।
9. समुत्थानशील अवसंरचना निर्मित करना, समावेशी एवं संपोषणीय औद्योगिकरण को बढ़ावा देना तथा नवोन्मेष को प्रोत्साहित करना।
10. देशों के भीतर और आपस में भी असमानता कम करना।
11. शहरों और मानव बस्तियों को समावेशी, सुरक्षित, समुत्थानशील (Resilient) और सम्पोषणीय बनाना।
12. सम्पोषणीय खपत और उत्पादन पैटर्न सुनिश्चित करना।
13. जलवायु परिवर्तन एवं इसके प्रभावों का मुकाबला करने के लिए तत्काल कार्रवाई करना।
14. सतत विकास के लिए महासागरों, समुद्रों और समुद्री संसाधनो का संरक्षण करना एवं सम्पोषणीय तरीके से उपयोग करना।
15. पृथ्वी के पारिस्थितिकी तंत्रों का संरक्षण, पुनरूद्धार करना एवं उनके सम्पोषणीय उपयोग को बढ़ावा देना।
16. संपोषणीय विकास के लिए शांतिपूर्ण व समावेशी सोसाइटियों का संवर्धन करना, सबके लिए न्याय सुलभ करना और सभी स्तरों पर प्रभावी, जवाबदेही व समावेशी संस्थाओं का निर्माण करना।
17. कार्यान्वियन के तरीके सुदृढ़ करना और सम्पोषणीय विकास हेतु वैश्विक भागीदारी को पुनः सक्रिय करना।

3.4 सतत विकास के मापदंड (Sustainable Development Criteria)

सतत विकास का लक्ष्य कई अंतर-संबंधित मानकों के बीच संयुक्त प्रयास के माध्यम से प्राप्त एक परिणाम है और दोनों लंबवत और क्षैतिज स्तरों पर समन्वय की आवश्यकता है। तीन कुंजी, जैसे पर्यावरण, आर्थिक और सामाजिक मानकों के बीच गतिशील त्रिभुज संबंध मौजूद है।

सामाजिक मापदण्ड पर केंद्रित लोग त्रिकोण के व्यापक आधार को सक्रिय सार्वजनिक भागीदारी के रूप में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। आबादी, पर्यावरण और विकास के बीच अंतरसंबंध जटिल हैं। महत्वपूर्ण कारकों के अलावा, कुशल जनशक्ति क्षमता निर्माण, मजबूत राजनीतिक इच्छाशक्ति और प्रभावी कार्यान्वयन/ निगरानी तंत्र सहित संस्थागत मजबूती, सतत विकास के सफल परिणाम के लिए समान रूप से महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। निम्नलिखित मापदंड पर विचार किया जा सकता है-

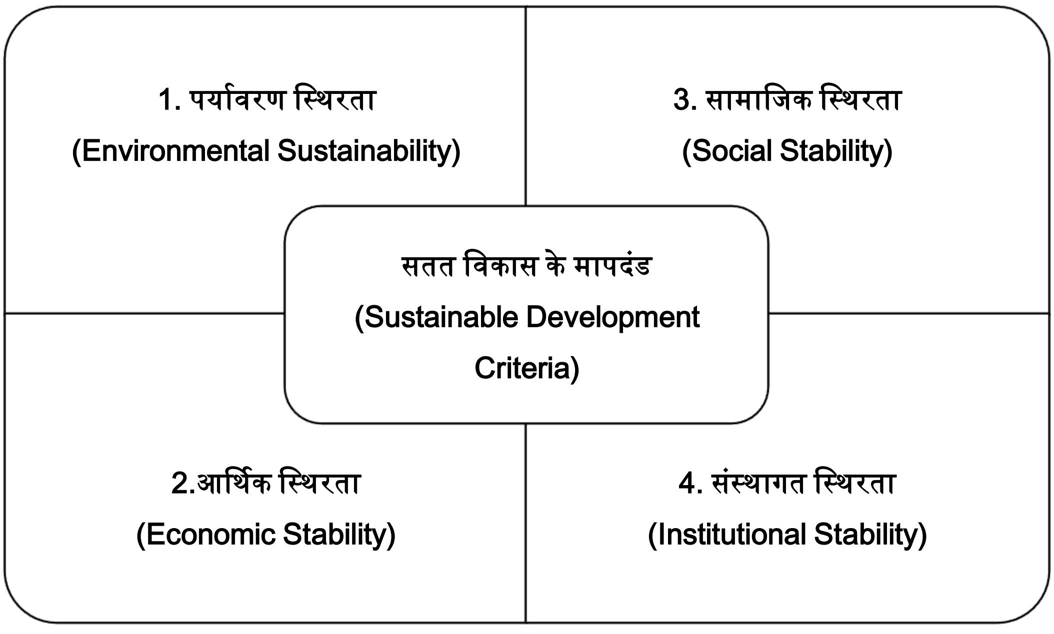

3.4.1. पर्यावरण संधारणीयता (Environmental Sustainability)

पर्यावरण संधारणीयता प्राकृतिक संसाधन आधार और जीवन समर्थन प्रणाली की ले जाने की क्षमता के रखरखाव से संबंधित है। यह जैव विविधता के गर्म स्थानों, वन कवर में वृद्धि, जलसंभर संरक्षण और समग्र दृष्टिकोण को अपनाने के क्षेत्र पर जोर देता है।

पर्यावरणीय खतरों, पर्यावरणीय प्रदूषण में कमी और पर्यावरणीय अनुकूल और प्रौद्योगिकियों का उपयोग वैश्विक स्तर पर पर्यावरणीय समस्याओं जैसेकि जैव विविधता हानि इसका उपयोग अंतर-पीढ़ीगत समानता के परिप्रेक्ष्य से जलवायु परिवर्तन को कम करने के लिए किया जाता है।

3.4.2. आर्थिक संधारणीयता (Economic Sustainability)

आर्थिक संधारणीयता पर्यावरणीय और सामाजिक संधारणीयता को सुरक्षित करने के लिए बैटरी जैसी महत्वपूर्ण ऊर्जा स्रोत प्रदान करती है। यह पर्याप्त बजट, बजट पारदर्शिता और वित्तीय प्रोत्साहन जैसे उपायों के माध्यम से विकास परियोजनाओं के आर्थिक स्व-जीवितता को बढ़ावा देने पर जोर देता है।

फोकस क्षेत्र में शामिल हैं, गरीबी उन्मूलन, प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि, कृषि उत्पादन और हरी सूक्ष्म उद्यमों सहित आय उत्पन्न करने वाली गतिविधियों का प्रचार, लाभ और प्राकृतिक संसाधन लेखांकन के उचित साझाकरण की व्यवस्था की स्थापना।

3.4.3. सामाजिक संधारणीयता (Social Sustainability)

सामाजिक स्थायित्व बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ मानव पर्यावरण की गुणवत्ता की गुणवत्ता को उन्नत करने और सबसे खतरनाक जानवर से सबसे महत्वपूर्ण रचनात्मक संसाधन में बदलने के लिए केंद्रित है। यह स्थानीय समुदायों को संसाधन उपयोग के सतत तरीकों पर अच्छी तरह से सूचित करने पर जोर देता है।

यह विकास के विभिन्न स्तरों पर सक्रिय सार्वजनिक भागीदारी, संरक्षण और विकास गतिविधियों में सहयोगी प्रयासों, सार्वजनिक स्वास्थ्य में सुधार, शिक्षा और बुनियादी आवश्यकता, संसाधन उपयोग पर हितधारकों के बीच संघर्ष में कमी सुनिश्चित करता है। यह सार्वजनिक पर्यावरण जागरूकता, लैंगिक समानता में वृद्धि और स्थानीय समुदाय में आत्मविश्वास के माध्यम से प्राप्त किया जाएगा, जिसमें आर्थिक रूप से वंचित हाशिए के समूहों पर विशेष जोर दिया जाएगा।

3.4.4. संस्थागत संधारणीयता (Institutional Sustainability)

बिना कार्रवाई के योजनाएं और कार्यक्रम व्यर्थ अभ्यास का प्रतिनिधित्व करते हैं। सतत पर्यावरणीय नीतियों, योजनाओं, कानूनों, विनियमों और मानकों की सख्त कार्यान्वयन और निगरानी सतत विकास के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अनिवार्य है। पर्यावरणीय और सामाजिक स्थायित्व को संबोधित करने के लिए पर्याप्त कुशल, प्रेरित जनशक्ति और मजबूत संस्थागत क्षमता होनी चाहिए।

पर्यावरणीय संरक्षण गतिविधियों में केंद्रित क्षेत्र शामिल होने के लिए अंतर्राष्ट्रीय मानक और सार्वजनिक विश्वास के स्वीकृत स्तर पर कम हवा, पानी, मिट्टी, शोर प्रदूषण जैसे जीवन की पर्यावरणीय गुणवत्ता को प्राप्त करने के लिए निहित है। परियोजना प्रबंधन की संस्थागत मजबूती स्थानीय, राष्ट्रीय, क्षेत्रीय से वैश्विक स्तर के महत्व और कानूनी रूप से बाध्यकारी विश्व सम्मेलनों और संधि सहित पर्यावरणीय समस्याओं से निपटने के लिए प्रभावी होनी चाहिए।

3.5 सतत विकास मापदंड - प्रगति और सफलता मापन (Sustainable Development Criteria - Measuring Progress And Success)

सतत विकास के संदर्भ में वैश्विक सीमाओं को पारिस्थितिकीय प्रभाव के संदर्भ से समझा जा सकता है, जो उस दबाव का परिचायक है, जो मानवीय कार्यकलाप पारिस्थितिकी तंत्र पर डालते है। उनकी तुलना जब जैव क्षमता (उपयोगी जैव सामग्री सृजित करने और मानव द्वारा सृजित अपशिष्ट पदार्थों को खपाने की पारिस्थितिकी तंत्र की क्षमता का पैमाना) से की जाती है तो हमें पता चलता है कि हम लाभ कमा रहे हैं या घाटा उठा रहे हैं। आंकड़े बताते हैं कि विश्व पारिस्थितिकीय अतिक्रमण की स्थिति में रह रही है। **लिविंग प्लेनेट रिपोर्ट (Living Planet Report)** 2014 के अनुसार वर्ष 2010 में वैश्विक पारिस्थितिकीय फुटप्रिंट 18.1 बिलियन वैश्विक हैक्टेयर (Global Hectare – GHA) अथवा प्रति व्यक्ति 2.6 (Global Hectare – GHA) था और पृथ्वी की कुल जैव क्षमता 12 बिलियन (Global Hectare – GHA) अथवा प्रतिव्यक्ति 1.3 (Global Hectare – GHA) थी। जैव क्षमता विश्व भर में समान रूप से व्याप्त नहीं है। दुर्भाग्यवश कम आय वाले देशों का सबसे छोटा फुटप्रिंट होता है लेकिन वे सबसे बड़ी पारिस्थितिकीय हानियों को झेलते हैं। संयुक्त राष्ट्र के सामान्य परिदृश्य यह इंगित करते हैं कि यदि वर्तमान आबादी और खपत की प्रवृत्ति जारी रहती है तो वर्ष 2030 तक हमें अपने भरण-पोषण के लिए दो पृथ्वी की जरूरत पड़ेगी।

मेकिन्जी रिपोर्ट के अनुसार, भारत शहरी दावानल की दहलीज पर खड़ा है। भारतीय शहरों की आबादी 2008 में 340 मिलियन से बढ़कर वर्ष 2030 तक 590 मिलियन हो जाएगी। 2030 के दशक में भारत के सबसे बड़े शहर बहुत से बड़े-बड़े देशों से भी अधिक बड़े होंगे। जैसे-जैसे आबादी बढ़ेगी, प्रत्येक मुख्य सेवा की मांग में पांच से सात गुना बढ़ोत्तरी हो जाएगी। गरीबी उन्मूलन, खाद्य और ऊर्जा सुरक्षा, शहरी अपशिष्ट प्रबंधन और पानी की कमी मौजूदा चुनौतियों के साथ मिलकर के प्रवृत्तियां हमारे निर्मित संसाधनों पर और अधिक दबाव डालेंगी। यदि इन दोनों घटकों को और अधिक अलग नहीं किया गया तो इसके परिणामस्वरूप ऊर्जा की जरूरतों में बढ़ोत्तरी होगी और उत्सर्जनों में वृद्धि होगी। लेकिन साथ ही इस चुनौती में बड़े अवसर छिपे बैठे हैं। बहुत से देशों के विपरीत, भारत की अधिकांश जनसंख्या में युवा है और इसलिए जनसांख्यिकीय लाभांश जनसंख्या से लाभ उठाए जा सकते हैं। वर्ष 2030 के भारत का आधा से अधिक हिस्सा अभी निर्मित किया जाना शेष होने के चलते, हमारे पास मौका है कि हम जीवाश्म ईंधन पर आधारित ऊर्जा प्रणालियों और कार्बन लॉकइन पर अत्यधिक निर्भर होने से बचें, जिसका सामना आज बहुत से औद्योगीकृत देश कर रहे हैं। एक सजग नीतिगत रूपरेखा, जिसमें विकास संबंधी जरूरतों और पर्यावरणीय मुद्दों, दोनों का ध्यान रखा जाए, इन चुनौतियों को अवसरों में बदल सकता है।

सितम्बर 2015 में समझौता निष्पादन के लिए निर्धारित 2015 के बाद विकास एजेंडा की तरफ राजनीतिक हलचल बढ़ती जा रही है। इसी दिशा में रियो में जून 2012 में आयोजित सतत विकास संबंधी संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन (रियो +20) के परिणाम दस्तावेज **The Future We Want** (हम जो भविष्य चाहते हैं) द्वारा अधिदेशित तीस सदस्यीय खुले कार्यदल ने 17 सतत विकास लक्ष्य निर्धारित किए। इन सतत विकास लक्ष्यों में व्यापक स्तर पर सम्पोषीय विकास के मुद्दे शामिल हैं और इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए एक व्यापक उद्देश्य के तौर पर कार्यान्वयन के साधनों पर भी ध्यान केन्द्रित किया गया है। इन लक्ष्यों को संयुक्त राष्ट्र के 2015 विकास के बाद की स्थिति में समेकित किए जाने की संभावना है। वर्तमान में, 2015 के बाद एजेंडा और सतत विकास लक्ष्यों की प्रक्रियाएं इस वर्ष अपने समापन की ओर तेजी से बढ रही हैं।

संक्षेप में, जलवायु परिवर्तन और सतत विकास के मुद्दे पर अंतर्राष्ट्रीय और घरेलू मोर्चे पर राजनीतिक जागरूकता काफी बढ़ गई है। भारत समेत अनेक विकासशील देशों में जलवायु परिवर्तन की समस्याओं का समाधन करने में उल्लेखनीय प्रगति की गई है। वर्ष 2015 में, पेरिस करार से पहले अनेक कार्यक्रम आयोजित किए जाने की संभावना है। आज जबकि हम जलवायु परिवर्तन पर 2015 करार के बाद

की स्थितियों के लिए मिलकर कार्य कर रहे हैं, यह सुनिश्चित करना बेहद जरूरी है कि नया समझौता, व्यापक सन्तुलित, साम्यपूर्ण और व्यवहारिक हो। इस समझौते में, भारत जैसे विकासशील देशों की वास्तविक जरूरतों का समाधान किया जाना चाहिए। इस समझौते में, उनके लिए साम्यपूर्ण विकास की गुंजाइश होनी चाहिए ताकि वे सतत विकास कर सके और गरीबी मिटा सकें।

यह हासिल करने के लिए जलवायु परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र का फ्रेमवर्क कन्वेंशन (United Nations Framework Conventionon Climate Change) के सिद्धान्तों और उपबंधों का पालन करना अति आवश्यक है। अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि वैश्विक जलवायु संबंधी कार्रवाई, कार्यान्वियन के तरीकों विशेषकर वित्त साधनों और प्रौद्योगिकी पर बहुत अधिक निर्भर है, जिसके लिए इस करार में पर्याप्त ध्यान दिए जाने की जरूरत है। जैसा कि **प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी** ने सितम्बर 2014 **में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा** में कहा **"हमें इन चुनौतियों का सामना करने में अपनी जिम्मेदारियां उठाने में ईमानदार होना चाहिए। विश्व समुदाय सामूहिक कार्रवाई के खूबसूरत संतुलन पर सहमत हुआ है साझी लेकिन अलग-अलग जिम्मेदारियां। यही सतत कार्रवाई का आधार भी होना चाहिए।"**

3.7 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

1. लिविंग प्लेनेट रिपोर्ट 2014 के अनुसार वर्ष 2010 में वैश्विक पारिस्थितिकीय फुटप्रिंट.................. बिलियन जीएचए था। (10.5 **या** 18.1)
2. 2030 तक भारत की शहरी आबादी .... मिलियन होने की संभावना है। (590 **या** 700)
3. जलवायु परिवर्तन पर संयुक्त राष्ट्र का फ्रेमवर्क कन्वेंशन (United Nations Framework Conventionon Climate Change) का मुख्यालय ....में स्थित है। (बर्लिन **या** जिनेवा)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य या असत्य कथन का चुनाव कीजिए-

1. वैश्विक पारिस्थितिकीय अतिक्रमण मानव गतिविधियों द्वारा पारिस्थितिकी तंत्र पर डाले गए दबाव का संकेत दर्शाता है।
2. पेरिस करार के संदर्भ में प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र मोदी ने वैश्विक जलवायु संबंधी कार्रवाई की आवश्यकता को रेखांकित किया।

3.8 सारांश (Summary)

इस अध्याय में आपने सतत विकास की अवधारणा को समझा जिसे 1987 में संयुक्त राष्ट्र को अपनी रिपोर्ट में पर्यावरण और विकास (ब्रुंडलैंड आयोग) पर विश्व आयोग ने अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए भविष्य की पीढ़ी की क्षमता समझौता किए बिना वर्तमान की जरूरतों को पूरा करने के रूप में टिकाऊ विकास के रूप में परिभाषित किया। हमने सतत विकास लक्ष्य के 17 लक्ष्यों पर चर्चा की, जो गरीबी उन्मूलन, खाद्य सुरक्षा, स्वास्थ्य, शिक्षा, और जलवायु परिवर्तन जैसे महत्वपूर्ण मुद्दों को संबोधित करते हैं।

इस अध्याय में यह भी चर्चा की गयी है कि विभिन्न नीतियों के माध्यम से किस प्रकार पारिस्थितिकी चिंताओं को विकास प्रक्रिया में समाहित किया गया है ताकि पर्यावरण को अधिक क्षति पहुंचाए बगैर आर्थिक विकास किया जा सकता है। इस अध्याय में, हमने सतत विकास के प्रमुख सिद्धांतों और लक्ष्यों के बारे में सीखा। सतत विकास का मतलब है कि हम पर्यावरण, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में संतुलन बनाए रखें ताकि भविष्य के लिए बेहतर दुनिया बना सकें।

पर्यावरणीय संधारणीयता पर ध्यान केंद्रित करते हुए, हमने देखा कि प्राकृतिक संसाधनों की रक्षा और जैव विविधता का संरक्षण कितना महत्वपूर्ण है। पर्यावरणीय समस्याओं जैसे जलवायु परिवर्तन और प्रदूषण को कम करने के लिए नई और हरी प्रौद्योगिकियों का उपयोग करना चाहिए। आर्थिक संधारणीयता

पर चर्चा करते हुए, यह समझा कि विकास परियोजनाओं को आर्थिक रूप से मजबूत और स्व-निर्भर बनाना आवश्यक है। इसमें गरीबी उन्मूलन, आय बढ़ाना, हरित उद्यमों को बढ़ावा देना शामिल है। इसके लिए सही बजट और वित्तीय योजनाओं की भी जरूरत है। सामाजिक संधारणीयता की ओर, हमने सीखा कि सभी लोगों की बुनियादी जरूरतों जैसे शिक्षा और स्वास्थ्य को पूरा करना आवश्यक है। समाज के हर वर्ग की भागीदारी और सहयोग से संसाधनों का सही ढंग से उपयोग किया जा सकता है। संस्थागत संधारणीयता पर ध्यान देते हुए, यह महत्वपूर्ण है कि पर्यावरण और समाज से जुड़ी नीतियों और योजनाओं का सही तरीके से कार्यान्वियन और निगरानी की जाए। इसके लिए सक्षम और प्रेरित टीमों की जरूरत होती है।

यह भी जाना कि जनसंख्या, पर्यावरण और विकास के बीच अंतर संबंध जटिल है। महत्वपूर्ण कारकों के अलावा, कुशल जनशक्ति क्षमता निर्माण, मजबूत राजनीतिक इच्छा शक्ति और प्रभावी कार्यान्वयन निगरानी तंत्र सहित संस्थागत मजबूती, सतत विकास के सफल परिणाम के लिए समान रूप से महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

3.9 शब्दावली (Glossary)

- **सतत विकास (Sustainable Development)** - यह वर्तमान पीढ़ी की जरूरतों को पूरा करने के साथ-साथ भविष्य की पीढ़ियों की जरूरतों को पूरा करने की क्षमता को समझौता किए बिना करना है।
- **ब्रुंडलैंड आयोग(Brundtland Commission)** - 1987 में संयुक्त राष्ट्र द्वारा स्थापित आयोग, जिसने टिकाऊ विकास की परिभाषा प्रस्तुत की।
- **एजेंडा 21 (Agenda21)** - 1992 में रियो डी जेनेरो में आयोजित पृथ्वी शिखर सम्मेलन के दौरान अपनाया गया एक वैश्विक कार्य योजना, जो सतत विकास के तरीके पर एक नीला प्रिंट प्रदान करता है।
- **सतत विकास लक्ष्य (Sustainable Development Goals - SDGs)** - संयुक्त राष्ट्र द्वारा निर्धारित 17 वैश्विक लक्ष्यों का सेट जो 2030 तक वैश्विक सतत विकास को प्रोत्साहित करता है।
- **पर्यावरण संधारणीयता (Environmental Sustainability)** - प्राकृतिक संसाधनों और जीवन समर्थन प्रणाली की संजीवनी शक्ति को बनाए रखने से संबंधित।
- **आर्थिक संधारणीयता (Economic Sustainability) -** विकास परियोजनाओं की आर्थिक स्व-जीवितता को बढ़ावा देने के लिए बजट पारदर्शिता और वित्तीय प्रोत्साहन को सुनिश्चित करना।
- **सामाजिक संधारणीयता (Social Sustainability) -** बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति और मानव पर्यावरण की गुणवत्ता में सुधार पर केंद्रित है।
- **संस्थागत संधारणीयता (Institutional Sustainability)** - सतत विकास के लिए नीतियों, योजनाओं, कानूनों और मानकों की प्रभावी कार्यान्वियन और निगरानी की आवश्यकता।
- **पारिस्थितिकीय अतिक्रमण (Ecological Overshoot)** - जब मानव गतिविधियाँ पारिस्थितिकी तंत्र की क्षमताओं को पार कर जाती हैं जिससे संसाधनों का अत्यधिक उपयोग और जैव विविधता का नुकसान होता है।
- **जैव क्षमता (Biocapacity)** - जैविक क्षमता को जनसंख्या की अप्रतिबंधित वृद्धि द्वारा वर्णित किया जाता है जिसके परिणामस्वरूप उस जनसंख्या की अधिकतम वृद्धि होती है। जैविक क्षमता किसी प्रजाति का उच्चतम संभव महत्वपूर्ण सूचकांक है इसलिए जब प्रजाति की जन्म दर सबसे अधिक और मृत्यु दर सबसे कम होती है। ।

- **वैश्विक हेक्टेयर (Global Hectare – gha) -** लोगों या गतिविधियों के पारिस्थितिक पदचिह्न और पृथ्वी या उसके क्षेत्रों की जैव क्षमता के लिए एक माप इकाई है।
- **जनसांख्यिकीय लाभांश (Demographic Dividend) -** किसी देश की जनसंख्या की संरचना में बदलाव के कारण होने वाली आर्थिक वृद्धि है, जो आमतौर पर प्रजनन और मृत्यु दर में गिरावट का परिणाम है। जनसांख्यिकीय लाभांश तब आता है जब कामकाजी आबादी की उत्पादकता में वृद्धि होती है, जिससे प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती है।
- **लिविंग प्लेनेट रिपोर्ट (Living Planet Report)** - वैश्विक पारिस्थितिकी तंत्र की स्थिति और जैव विविधता के रुझानों पर रिपोर्ट, जो पर्यावरणीय प्रभावों का आकलन करती है।
- **पेरिस करार (Paris Agreement)** - 2015 में जलवायु परिवर्तन के खिलाफ अंतरराष्ट्रीय समुदाय द्वारा किए गए एक महत्वपूर्ण समझौते का नाम।
- **साम्यपूर्ण कार्बन (Equitable Carbon)** - जलवायु परिवर्तन की कार्रवाई में विकसित और विकासशील देशों के बीच न्यायपूर्ण वितरण और जिम्मेदारी का सिद्धांत।
- **जनशक्ति (Manpwer) -** उन लोगों की कुल संख्या है जो किसी काम को पूरा करने के लिए काम कर सकते हैं। जनशक्ति शब्द का अर्थ 'श्रम बल', 'कार्यबल', 'श्रमिक', या 'लोग' हो सकता है और यह पुरुषों और महिलाओं दोनों पर लागू होता है।
- **गरीबी उन्मूलन (Poverty Eradication)-** गरीबी को कम करने या खत्म करने के उद्देश्य से किए जाने वाले प्रयासों, रणनीतियों और नीतियों को संदर्भित करता है।
- **खाद्य सुरक्षा (Food Security)-** किसी व्यक्ति की पौष्टिक और पर्याप्त मात्रा में भोजन तक पहुँचने की क्षमता का माप है। खाद्य सुरक्षा की कुछ परिभाषाएँ निर्दिष्ट करती हैं कि भोजन को व्यक्ति की खाद्य प्राथमिकताओं और सक्रिय और स्वस्थ जीवन शैली के लिए आहार संबंधी ज़रूरतों को भी पूरा करना चाहिए।
- **लैंगिक समानता (Gender Equality) -** महिलाओं और पुरुषों के प्रति निष्पक्ष होने की प्रक्रिया है। निष्पक्षता सुनिश्चित करने के लिए, महिलाओं के ऐतिहासिक और सामाजिक नुकसान की भरपाई के लिए अक्सर रणनीतियाँ और उपाय उपलब्ध होने चाहिए जो महिलाओं और पुरुषों को समान स्तर पर काम करने से रोकते हैं। समानता से समानता आती है।
- **स्वच्छ जल (Clean Water) –** इसे पीने योग्य पानी अथवा पीने का पानी भी कहा जाता है, सतही और ज़मीनी स्रोतों से आता है और इसे ऐसे स्तरों पर उपचारित किया जाता है जो उपभोग के लिए राज्य और संघीय मानकों को पूरा करते हैं। प्राकृतिक स्रोतों से प्राप्त पानी को सूक्ष्मजीवों, बैक्टीरिया, विषैले रसायनों, वायरस और मल पदार्थों के लिए उपचारित किया जाता है।
- **जलवायु परिवर्तन (Climate Change) -** जलवायु परिवर्तन का मतलब तापमान और मौसम के पैटर्न में दीर्घकालिक बदलाव से है। ऐसे बदलाव प्राकृतिक हो सकते हैं, जो सूर्य की गतिविधि में बदलाव या बड़े ज्वालामुखी विस्फोटों के कारण हो सकते हैं।
- **हरित उद्यमी (Green Entrepreneur) -** टिकाऊ व्यावसायिक प्रथाओं, पर्यावरणीय मुद्दों, सामाजिक न्याय और पर्यावरण के अनुकूल उत्पादों को बढ़ावा देने पर ध्यान केंद्रित करते हैं। उनका उद्देश्य अर्थव्यवस्था, समुदाय और पर्यावरण पर सकारात्मक प्रभाव डालना है।
- **हरित सूक्ष्म उद्यमों (Green Micro Entreprises) -** वे उद्योग हैं जिनमें काम करने वालों की संख्या एक सीमा से कम होती है तथा उनका वार्षिक उत्पादन (turnover) भी एक सीमा के अन्दर रहता है। किसी भी देश के विकास में इनका महत्वपूर्ण स्थान है। जैसे – बैटरी इलैक्ट्रिक वाहन ई-रिक्शा, संपीड़ित वायु वाहन, सौर ऊर्जा गैजेट, पॉली हाउस।
- **सार्वजनिक स्वास्थ्य (Public Health) –** यह लोगों और उनके समुदायों के स्वास्थ्य की रक्षा और सुधार का विज्ञान है। यह कार्य स्वस्थ जीवन शैली को बढ़ावा देने, बीमारी और चोट की रोकथाम

पर शोध करने और संक्रामक रोगों का पता लगाने, उन्हें रोकने और उनका जवाब देने के द्वारा प्राप्त किया जाता है।

- **जलसंभर (Watershed)-** जलसंभर या द्रोणी उस भौगोलिक क्षेत्र को कहते हैं जहाँ वर्षा अथवा पिघलती बर्फ़ का पानी नदियों, नहरों और नालों से बह कर एक ही स्थान पर एकत्रित हो जाता है। उस स्थान से या तो एक ही बड़ी नदी में पानी जलसंभर क्षेत्र से निकास कर के आगे बह जाता है या फिर किसी सरोवर, सागर, महासागर या दलदली इलाक़े में जाकर मिल जाता है।

3.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर (Answer for Practice Questions)

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

1. 18.1 2. 590 3. जिनेवा

निम्नलिखित कथनों में से सत्य या असत्य कथन का चुनाव कीजिए-

1. सत्य 2. सत्य

3.11 संदर्भ ग्रन्थ सूची (Bibliography)

- Andriantiatsaholiniaina, L. A., Kouikoglou, V. S., & Phillis, Y. A. (2004). ***Evaluating strategies for sustainable development: fuzzy logic reasoning and sensitivity analysis. Ecological Economics***, 48(2), 149–172. https://doi.org/10.1016/j.ecolecon.2003.08.009
- Bhalachandran, G. (2011). ***Kautilya's model of sustainable development***. Humanomics, 27(1), 41–52. https://doi.org/10.1108/08288661111110169
- Chen, H., & Yada, R. (2011). ***Nanotechnologies in agriculture: New tools for sustainable development***. Trends in Food Science & Technology, 22(11), 585–594. https://doi.org/10.1016/j.tifs.2011.09.004
- Dev, R. (n.d.-a). ***Corporate Social Responsibility (CSR) in Indian Banking Sector: An analytical study of ICICI bank limited***.
- Dev, R. (n.d.-b). ***Corporate Social Responsibility in India: Reaching to Unreached?***
- ***India follows a holistic approach towards its 2030 Sustainable Development Goals (SDGs).*** (n.d.). Retrieved February 13, 2020, from https://pib.gov.in/newsite/PrintRelease.aspx?relid=191192
- Kaygusuz, K. (2012). ***Energy for sustainable development: A case of developing countries. Renewable and Sustainable Energy Reviews***, 16(2), 1116–1126. https://doi.org/10.1016/j.rser.2011.11.013

- Oparaocha, S., & Dutta, S. (2011). ***Gender and energy for sustainable development. Current Opinion in Environmental Sustainability***, 3(4), 265–271. https://doi.org/10.1016/j.cosust.2011.07.003
- Smyth, J. C. (1995). ***Environment and Education: a view of a changing scene. Environmental Education Research***, 1(1), 3–120. https://doi.org/10.1080/1350462950010101

3.12 उपयोगी पाठ्य सामग्री (Helpful Text)

- ***Theories of Sustainable Development*** (2015). Edited by Judith C. Enders and Moritz Remig, Routledge, 2 Park Square, Milton Park, Abingdon, Oxon OX14 4RN
- Simon Dresner (2008). ***The Principles of Sustainability***, Earthscan Publication, Dunstan House, 14a St Cross St, London, EC1N 8XA, UK
- Jennifer A. Elliott (2013). ***An Introduction to Sustainable Development***, Routledge, 2 Park Square, Milton Park, Abingdon, Oxon OX14 4RN Island Publishing House, Inc., Philippines

3.13 निबन्धात्मक प्रश्न (Essay type Questions)

1. सतत विकास का उद्देश्य एक समावेशी और संतुलित समाज का निर्माण करना है सतत विकास के सिद्धांत और लक्ष्यों की व्यापक समीक्षा कीजिए।
2. सतत विकास के चार प्रमुख मापदंडों-पर्यावरणीय संधारणीयता, आर्थिक संधारणीयता, सामाजिक संधारणीयता, और संस्थागत संधारणीयता का विस्तृत से विश्लेषण कीजिए ।
3. सतत विकास लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रभावी नीतियों और वैश्विक साझेदारी की आवश्यकता पर विस्तृत चर्चा कीजिए।

इकाई 4 सतत विकास के प्रारूप
(Models of Sustainable Development)

4.1 प्रस्तावना (Introduction)

4.2 उद्देश्य (Objectives)

4.3 सतत विकास प्रारूपों की आवश्यकता (Need for Sustainable Development Models)

4.4 सतत विकास के विभिन्न प्रारूप (Different Models of Sustainable Development)

- 4.4.1 तीन स्तंभ प्रारूप (Three Pillar Model)
- 4.4.2 पूंजी स्टॉक प्रारूप (Capital Stock Model)
- 4.4.3 प्रिज्म प्रारूप (Prism Model)
- 4.4.4 अंडा प्रारूप (The Egg Model)
- 4.4.5 एटकिसन का पिरामिड प्रारूप (Atkisson's Pyramid Model)
- 4.4.6 अमीबा प्रारूप (Amoeba Model)
- 4.4.7 तीन पैरों वाला तिपाई प्रारूप (Three-Legged Stool Model)
- 4.4.8 दो-स्तरीय संधारणीयता संतुलन प्रारूप (Two-Tier Sustainability Equilibrium Model)

4.5 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)

4.6 सांराश (Summary)

4.7 शब्दावली (glossary)

4.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर (Answer for Practice Questions)

4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची (Bibliography)

4.10 उपयोगी पाठ्य सामग्री (Useful Text)

4.11 निबंधात्मक प्रश्न (Essay Type Questions)

4.1 प्रस्तावना (Introduction)

सतत विकास के सन्दर्भ में यह चौथी इकाई हैं, इससे पहले की इकाई में आपने सतत विकास के बारे में अध्ययन किया किया और जाना कि सतत विकास परिवर्तन की एक प्रक्रिया है जिसमें समान रूप से संसाधनों का शोषण, निवेश की दिशा, तकनीकी विकास और संस्थागत परिवर्तन का अभिविन्यास सुनिश्चित करना है और मानव की दोनों वर्तमान और भविष्य की जरूरतों और आकांक्षाओं को पूरा करने की क्षमता को बढ़ाना है।

साथ ही आपने जाना सतत विकास के लक्ष्यों के बारें में अध्ययन किया हैं और जाना कि सतत विकास ,समाज के समग्र विकास को एक नई ऊँचाई पर ले जाने का लक्ष्य रखता है। ये लक्ष्य विभिन्न पहलुओं जैसे गरीबी उन्मूलन ,खाद्य सुरक्षा ,स्वास्थ्य, शिक्षा ,और पर्यावरणीय संरक्षण को सम्मिलित करते हैं और इनका उद्देश्य एक समावेशी और संतुलित समाज का निर्माण करना है।

आपने जाना कि दुनिया भर से गरीबी और अन्य बुराइयों को मिटाने के लिए सहस्राब्दि विकास लक्ष्य को विश्व नेताओं द्वारा अपनी राजनीतिक सीमाओं के भीतर आठ सामाजिक और आर्थिक चिंताओं से निपटने के लिए अपनाया गया था। ये लक्ष्य वैश्विक दृष्टि और व्यक्तिगत जिम्मेदारी के साथ तय किए गए थे।

प्रस्तुत इकाई में आप पढेंगे की किस प्रकार सतत विकास के लक्ष्यों को प्राप्त किया जा सकता हैं। कुछ अर्थशास्त्री एवं वैज्ञानिकों ने कुछ प्रारूप तैयार किए हैं जिनकी सहायता से हम अपनी अर्थव्यवस्था को गति प्रदान कर सकते हैं एवं साथ ही पृथ्वी और पर्यावरण का ध्यान भी रख सकते हैं। इस इकाई में आप एक-एक करके इन सभी प्रारूपों को विस्तार से पढ़ेगें एवं साथ ही जानेंगे कि किसी देश में सतत विकास के लिए इन प्रारूपों को महत्व क्यों दिया जाता हैं।

4.2 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- ✓ सतत विकास प्रारूप के महत्व को जानेंगे।
- ✓ सतत विकास के अलग अलग प्रारूप को पढेंगे।
- ✓ सतत विकास के तीन स्तंभ प्रारूप को पढेंगे।
- ✓ सतत विकास के प्रिज्म प्रारूप को जानेंगे।
- ✓ सतत विकास के अंडा प्रारूप को पढेंगे।
- ✓ सतत विकास के पूंजी स्टॉक प्रारूप को जानेंगे।
- ✓ सतत विकास के एटकिसन का पिरामिड प्रारूप को पढेंगे।
- ✓ सतत विकास के अमीबा प्रारूप को जानेंगे।
- ✓ सतत विकास के तीन पैरों वाला तिपाई प्रारूप को पढेंगे।
- ✓ दो-स्तरीय संधारणीयता संतुलन प्रारूप को जानेंगे।

4.3 सतत विकास प्रारूपों की आवश्यकता (Need for Sustainable Development Models)

आर्थिक प्रारूप (Economic model), वास्तविकता का एक सरलीकृत विवरण है जिसे आर्थिक व्यवहार के बारे में परिकल्पनाएँ प्रदान करने के लिए डिज़ाइन किया गया है और जिसका परीक्षण किया जा सकता है। आर्थिक प्रारूप (Economic model) की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह मूलत: व्यक्तिपरक प्रकृति का है क्योंकि यह आर्थिक परिणामों का कोई वस्तुनिष्ठ माप नहीं हैं। एक आर्थिक प्रारूप (Economic model) में मान्यताएं एवं आलोचनाएं भी शामिल होती हैं जो उस प्रारूप (model) की सीमाओं को दर्शाती हैं। इस इकाई में आप विभिन्न प्रारूपों(models) के माध्यम से सतत विकास का

अध्ययन करेंगे। सतत विकास लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए, ये प्रारूप (model) एक रूपरेखा का कार्य करते हैं।

4.4 सतत विकास के विभिन्न प्रारूप (Different Models of Sustainable Development)

सतत विकास, मानव विकास लक्ष्यों को पूरा करने के लिए संगठित सिद्धांत है। यह प्राकृतिक प्रणालियों द्वारा प्राकृतिक संसाधनों और पारिस्थितिकी तंत्र सेवाएं प्रदान करने की क्षमता को बनाए रखने पर जोर देता है। सतत विकास की अवधारणा आर्थिक विकास, पर्यावरण की गुणवत्ता एवं सामाजिक समानता के बीच संबंधों की खोज करती है। सतत विकास तक पहुँचने के लिए हमें कुछ प्रारूप (model) की आवश्यकता पड़ती हैं जिनका अनुसरण करके हम सतत विकास को प्राप्त कर सकते हैं। यह दिए हुए प्रारूप (model) एक मानचित्र हैं जिनकी मदद से हम विकास के साथ-साथ पर्यावरण का भी ख्याल रख सकते हैं एवं संसाधनों को बचा सकते हैं। इन प्रारूप (model) में बताया गया हैं की किसी भी देश में किस तरह पर्यावरण एवं संसाधनों का इष्टतम उपयोग किया जाए जिससे अर्थव्यवस्था के साथ-साथ पृथ्वी का भी ध्यान रखा जा सके। इकाई में आगे आप सतत विकास के लिए दिए गए प्रारूप (model) को एक-एक कर विस्तार से पढ़ेंगे।

4.4.1 तीन स्तंभ प्रारूप (Three Pillar Model)

अर्थव्यवस्था, समाज और पर्यावरण को संधारणीयता के तीन स्तंभ माना जाता है।

सामाजिक संधारणीयता (Social Sustainability) में पर्यावरण न्याय, मानव स्वास्थ्य, शिक्षा आदि सम्मिलित हैं। अगर हम सामाजिक संधारणीयता (Social Sustainability) को बढ़ाने के लिए प्रयास करते हैं तो इससे पर्यावरण को भी लाभ हो सकता है। उदाहरण के लिए, हमारे आहार विकल्पों का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में मानव के स्वास्थ्य और पर्यावरण के स्वास्थ्य पर पड़ सकता है इसलिए स्वस्थ भोजन (healthy Food) की पक्षपोषित करने (advocating) से पर्यावरण को भी लाभ हो सकता है।

आर्थिक संधारणीयता (Economic Sustainability) में रोजगार सृजन, नवाचार, रोजगार और इष्टतम (Optimal) लागत-लाभ विश्लेषण (Cost-Benefit Analysis) के लिए पारिस्थितिकी तंत्र की सेवाओं का उचित लेखा-जोखा सम्मिलित है। शोध से पता चलता है कि रोजगार की उच्च दर से अर्थव्यवस्था और लोगों की सामाजिक भलाई दोनों को संसाधन सुरक्षा के माध्यम (Means of resource Protection) से लाभ पहुँचाती हैं। आप जानते ही होंगे कि आज की गिग अर्थव्यवस्था (Gig Economy) सामाजिक संधारणीयता (Social Sustainability) और आर्थिक संधारणीयता (Economic Sustainability) दोनों को एक दूसरे के साथ जोड़ देती है। गिग अर्थव्यवस्था (Gig Economy) के कारण कई लोग कंपनियों की आर्थिक संधारणीयता (Economic Sustainability) में योगदान करते हैं परन्तु बदले में उन्हें रोज़गार के ज़रिए मिलने वाली सामाजिक सुरक्षा प्राप्त होती। कृत्रिम बुद्धिमत्ता (Artifical Intelligence), रोबोटिक्स (Robotics) के विकास जैसी तकनीक कई लोगों को बेरोज़गार बना सकती है। इसलिए आर्थिक संधारणीयता (Economic Sustainability) बनाने के लिए नवाचार को रोज़गार के समानांतर होना चाहिए।

पर्यावरण एवं प्रकृति ही सब कुछ है। पर्यावरण के बिना, हम कुछ भी नहीं हैं। **पर्यावरणीय संधारणीयता** (Environmental Sustainability) मुख्य रूप से पर्यावरण की भलाई पर केंद्रित है। आजकल, हम पर्यावरण प्रदूषण, ग्रीन हाउस प्रभाव, जलवायु परिवर्तन आदि के कारण विभिन्न

प्रकार की समस्याओं का सामना कर रहे हैं। पर्यावरण की रक्षा करने से लोगों को भी लाभ होता है क्योंकि पर्यावरण ही मनुष्य के लिए भोजन, आवास, पानी आदि का मुख्य स्रोत है।

यह प्रारूप (model) अर्थव्यवस्था, समाज और पर्यावरण का एक साथ संतुलन बनानें एवं इन तीनों तत्वों पर ध्यान देने की बात करता हैं। सतत विकास के लिए हमें इन तीनों तत्वों को साथ लेकर ही चलना होगा और साथ ही तीनों पर ध्यान भी देना होगा, इस प्रारूप (model) को आप नीचे दिए गये चित्र की मदद से भी समझ सकते हैं।

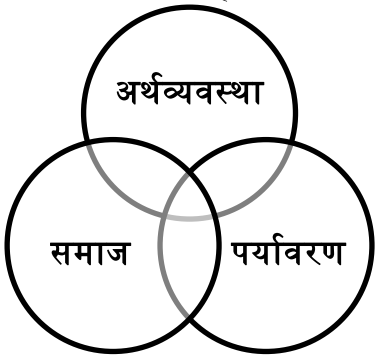

चित्र 4.1 तीन स्तंभ प्रारूप

4.4.2 पूंजी स्टॉक प्रारूप (Capital Stock Model)

विश्व बैंक के एक अध्ययन समूह ने वर्ष 1994 में, 'सतत विकास का पूंजी स्टॉक' (Capital Stock of Sustainable Development) नामक प्रारूप विकसित किया था। पर्यावरणीय स्टॉक, आर्थिक स्टॉक और सामाजिक स्टॉक इसका मुख्य हिस्सा है। इसका मूल विचार यह था कि जब हम केवल ब्याज पर जीते हैं और पूंजी पर नहीं, तब समृद्धि का आधार बना रहता है। हालाँकि यदि हम पदार्थ का उपभोग करते हैं तो लंबे समय में, हमारे अस्तित्व के साधन (means of Survival) खतरे में पढ़ जाते हैं।

पारिस्थितिक पूंजी की परिभाषा में नियोजन प्रक्रिया के लिए जैव-विविधता, भू-दृश्य, खनिज संसाधन, स्वच्छ हवा और स्वस्थ पानी सम्मिलित हैं। मानव और सामाजिक पूंजी की परिभाषा में स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा, सामाजिक सामंजस्य, स्वतंत्रता, न्याय, अवसर की समानता और शांति सम्मिलित हैं।

$$\text{सतत विकास का पूंजी स्टॉक } (\textbf{Capital Stock of Sustainable Development}) = \sum \text{पर्यावरणीय स्टॉक} + \text{आर्थिक स्टॉक} + \text{सामाजिक स्टॉक}$$

4.4.3 प्रिज्म प्रारूप (Prism Model)

प्रिज्म प्रारूप वर्ष 2001 में, **स्टेनबर्ग (Stenberg)** द्वारा प्रस्तावित किया गया था। जिसे 'सतत विकास का प्रिज्म' प्रारूप और कभी कभी चार स्तंभ प्रारूप सतत विकास के चार आयामों के बारे में बताता है। **स्टेनबर्ग (Stenberg)** और **बोनियट (Bonnet)** (1998) से अनुकूलित 'सतत विकास का प्रिज्म' या कभी-कभी 'चार स्तंभ प्रारूप' (Four Pillar Model) भी कहा जाता है। यह प्रारूप (Model) मुख्यत: चार आयामों के बारे में बात करता है जोकि इस प्रकार है ***पहला***, आर्थिक आयाम, ***दूसरा***, पर्यावरणीय आयाम, ***तीसरा***, संस्थागत आयाम और ***चौथा*** , सामाजिक आयाम।

आर्थिक आयाम (Economic Dimension) का तात्पर्य मानव निर्मित पूंजी (man-made Capital) से है। **पर्यावरणीय आयाम** (Environmental Dimension) का तात्पर्य

प्राकृतिक पूंजी (Natural Capital) से है। **सामाजिक आयाम** (Social Dimension) का तात्पर्य मानव पूंजी (Human Capital) से है। **संस्थागत आयाम** (Institutional Dimension) का तात्पर्य सामाजिक पूंजी से है।

सतत विकास के प्रिज्म के प्रत्येक आयाम में अनिवार्यताएँ हैं। सतत विकास के इस प्रिज्म की आलोचना करते हुए, **कैन (Cenn)** तर्क देते हैं कहते है कि ***'आर्थिक आयाम में सभी चार आयामों से निकलने वाली संपत्तियाँ शामिल होती हैं, इस प्रकार विवरण और विश्लेषण में भ्रम पैदा होता है।'*** परिणामस्वरूप, वही लेखक 'सतत विकास का मुख्य प्रिज्म' को प्रस्तावित करता है।

इस प्रारूप में, उन्होंने प्रिज्म को सामाजिक और आर्थिक जैसे भावों के बोझ से मुक्त करने के लिए मन, कलाकृति, संस्थान और प्रकृति की शर्तों का इस्तेमाल किया जोकि व्याख्यात्मक होने की तुलना में अधिक भ्रामक प्रतीत होते हैं। **कैन (Cenn)** के मुख्य प्रिज्म प्रारूप को सामान्य प्रिज्म प्रारूप के साथ मिलाकर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि **पर्यावरणीय आयाम (प्रकृति)** में सभी प्राकृतिक पूंजी सम्मिलित है जिसे गैर-नवीकरणीय और नवीकरणीय संसाधनों के स्टॉक में विभाजित किया जा सकता है। **आर्थिक आयाम (कलाकृतियाँ)** सभी मानव निर्मित भौतिक संपत्तियों, इमारतों और सड़कों जैसे संसाधनों का प्रतिनिधित्व करता है। **सामाजिक आयाम (मन)** को व्यक्तिगत विषय (वैश्विक नजरिया, ज्ञान एवं अनुभव) की जागरूकता के रूप में माना जा सकता है। **संस्थागत आयाम (सामाजिक पूंजी)** हमारे समाज के संगठन और लोगों के बीच संबंधों को सम्मिलित करता है, जिसे आप नीचें दिए गए चित्र की सहायता से भी समझ सकते हैं।

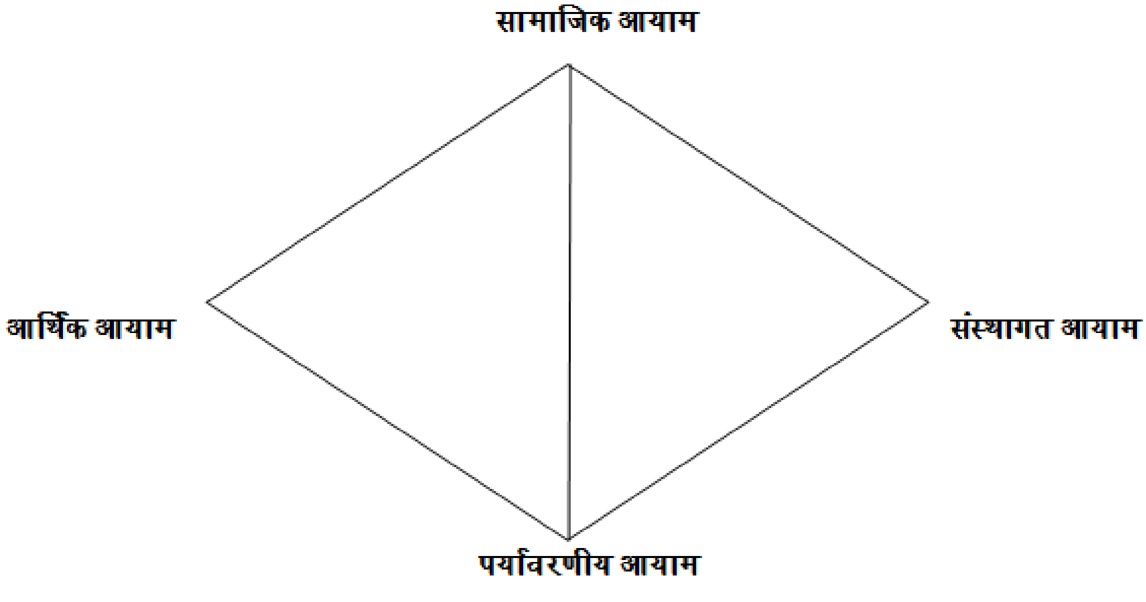

चित्र 4.2 प्रिज्म प्रारूप

4.4.4 अंडा प्रारूप (The Egg Model)

प्रिज्म प्रारूप की आलोचना की जा सकती है कि वे पर्यावरणीय आयाम (प्राकृतिक पूंजी) पर बहुत कम ध्यान देते हैं। अधिकांश लोगों के लिए, पर्यावरण मानव कल्याण के विकास के लिए पूर्व शर्त है। इस दृष्टिकोण के लिए संधारणीयता के एक ऐसे प्रारूप की आवश्यकता है जोकि पर्यावरण को केंद्र में रखता हो।

अंतर्राष्ट्रीय विकास अनुसंधान केंद्र (International Development Research Centre) ने वर्ष 1997 में 'संधारणीयता का अंडा' प्रस्तावित किया था। जिसे मूल रूप से प्रकृति

संरक्षण के लिए अंतर्राष्ट्रीय संघ (International Union for the Conservation of Nation - IUCN) द्वारा वर्ष 1994 में डिजाइन किया गया था।

सतत विकास = मानव कल्याण + पारिस्थितिकी तंत्र कल्याण

'संधारणीयता का अंडा' लोगों और पारिस्थितिकी तंत्र के मध्य के रिश्ते को एक घेरे के अंदर दूसरे घेरे (Circle) के रूप में प्रदर्शित करता है। उदाहरण के रूप में जिस प्रकार अंडे की जर्दी होती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि लोग, पारिस्थितिकी तंत्र के भीतर हैं और दोनों ही एक दूसरे पर पूरी तरह से निर्भर रहते है। जिस तरह एक अंडा तभी अच्छा होता है जब उसका सफेद भाग और जर्दी दोनों अच्छे हों, उसी तरह एक समाज तभी अच्छा और संधारणीय होता है जब लोग और पारिस्थितिकी तंत्र दोनों अच्छे हों। किसी देश में सामाजिक और आर्थिक विकास तभी संभव हो सकता है जब पर्यावरण आवश्यक संसाधन प्रदान करता है, जैसे - कच्चा माल, नए उत्पादन स्थलों (Production Sites) के लिए जगह और नौकरियों, संवैधानिक गुण (मनोरंजन, स्वास्थ्य आदि)। इसलिए पारिस्थितिकी तंत्र को त्रिभुज या प्रिज्म प्रारूप के अन्य आयामों के लिए एक उच्चकोटी की प्रणाली (Superordinated System) के रूप में माना जाना चाहिए, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और संस्थागत सम्मिलित होते है। बाद में यह केवल तभी समृद्ध हो सकते हैं जब वह पर्यावरण वहन क्षमता (Environmental carring Capacity) की सीमाओं के अनुकूल खुद को ढाल लें।

बुश-लुथी (Busch-Luthy) द्वारा वर्ष 1995 में, स्वतंत्र रूप से समरूप से एक अंडा प्रारूप प्रस्तावित किया गया था, जिसमें जर्दी में 'लोगों' के स्थान पर 'अर्थव्यवस्था' और 'समाज' को रखा गया था। हम सभी जानते हैं कि पारिस्थितिकी तंत्र के कल्याण के बिना सामाजिक और आर्थिक कल्याण संभव नहीं होगा और प्रारूप (Model) में, इसी तर्क का पालन करते हुए, उन अंडों में पारिस्थितिकी तंत्र को केंद्र में रखा था। हालाँकि दिखाए गए सभी प्रारूप (Model) वास्तविकता से बहुत सरल सारग्रहण (Abstractions) हैं लेकिन विकास के विकल्पों पर बहस करने और उनका बचाव करने के लिए स्थानिक नियोजन में उनका व्यापक रूप से उपयोग किया जाता है।

स्थानिक विकास के भविष्य पर बहस में आजकल 'संधारणीयता' शब्द का बोलबाला है, जो (सतत) स्थानिक विकास के लिए दिशा-निर्देशों की ओर ले जाने वाली अवधारणाओं और रणनीतियों के लिए शुरुआती बिंदु है।

इसके अलावा, यह देखना आश्चर्यजनक है कि 'नई बात' के शीर्ष पर कूदने के लिए किस प्रकार 'अर्थव्यवस्था' (यानी निवेशक, निर्णयकर्ता, प्रमोटर आदि) का विपणन अपने हितों को बढ़ावा देने के लिए संधारणीयता की शर्तों को आत्मसात कर रहा है। ऐसा करने से आर्थिक हितों का प्रतिनिधित्व करते हुए वे उसी शब्दावली और तर्क-वितर्क का उपयोग करते हैं जिसका उपयोग पर्यावरणविदों द्वारा पहले भी पारिस्थितिकी तंत्र पर आर्थिक विकास के बढ़ते प्रभाव को रोकने के लिए विकसित किया गया था।

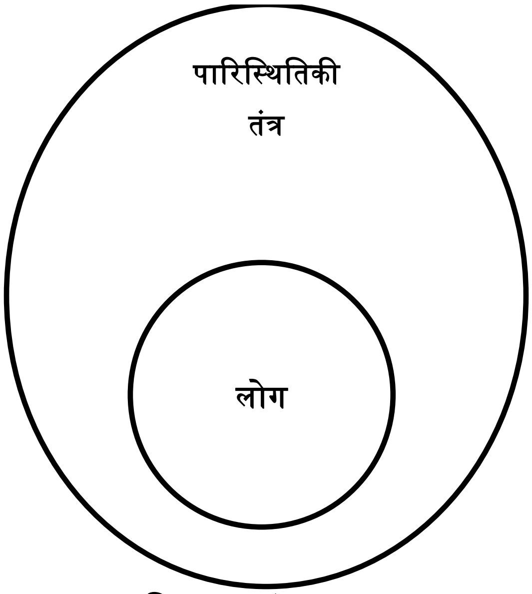

चित्र 4.3 अंडा प्रारूप

अंत में, अर्थशास्त्रियों और उद्यमियों द्वारा सतत विकास की अवधारणा को अपनाने से सतत विकास के कई आयामों के बीच समानता आई है जिससे प्राकृतिक मूल्यों और प्राथमिक संसाधनों के अधिक गहन संरक्षण और संवर्धन की आवश्यकता प्रबल हो गई है। दूसरे शब्दों में, पर्यावरण की गरज (thunder) चुरा ली गई है एवं कम से कम पारिस्थितिकीविदों के अगले दौर तक अदूरदर्शी भौतिक सुख के लिए प्रयास जारी रह सकते हैं। यही एक कारण है कि सतत विकास की वर्तमान अवधारणा की समीक्षा की जानी चाहिए एवं उस पर सवाल भी उठाए जाने चाहिए।

4.4.5 एटकिसन का पिरामिड प्रारूप (Atkisson's Pyramid Model)

हम इस प्रारूप को सतत विकास के लिए एक ख़ाका (Blue Print) के रूप में मान सकते हैं। 'पिरामिड' की संरचना पहले एक मजबूत आधार बनाने की प्रक्रिया के माध्यम से मार्गदर्शन करती है फिर जो महत्वपूर्ण, प्रभावी, करने योग्य और कुछ ऐसा है उस पर ध्यान केंद्रित कर सीमित करती है जिस पर हर कोई सहमत हो सकता है। इस प्रारूप (Model) के अनुसार समाज, पर्यावरण और आर्थिक विकास के बीच समझौते के रूप में अंतर सांस्कृतिक संबंध के द्वारा संधारणीयता विकसित की जा सकती हैं।

इस प्रारूप (model) में पिरामिड में पाँच स्तर हैं जिसमें ***पहला*** स्तर ***'क्या हो रहा है?'*** को दर्शाता हैं जिसकों मापने के लिए 'रुझानों/ प्रवृत्तियों को मापना' सूचक (indicators) का प्रयोग किया जाता हैं। ***दूसरा*** स्तर ***'ऐसा क्यों हो रहा है?'*** को दर्शाता हैं जिसके लिए 'कारणों, प्रभावों और फायदा उठाने के बिंदुओं के बीच संबंध बनाना' प्रणाली (Systems) का प्रयोग किया जाता हैं। ***तीसरा*** स्तर ***'हम क्या कर सकते हैं?'*** को दर्शाता हैं जिसके लिए 'ऐसे विचार जो फर्क लाते हैं' इस प्रकार के नवाचार का प्रयोग किया जाता हैं। ***चौथा*** स्तर ***'यह कैसे करें?'*** को दर्शाता हैं जिसके लिए 'विचार से वास्तविकता तक' इस प्रकार की रणनीतियों का प्रयोग किया जाता हैं। ***पांचवा एवं अंतिम*** स्तर ***'चलो इसे करते हैं!'*** को दर्शाता हैं जिसके लिए 'कार्यशाला से वास्तविक दुनिया तक' इस प्रकार की कार्यों या समझौतों का प्रयोग किया जाता हैं।

इस प्रारूप (model) को आप नीचें दिए गए चित्र से समझ सकते हैं:

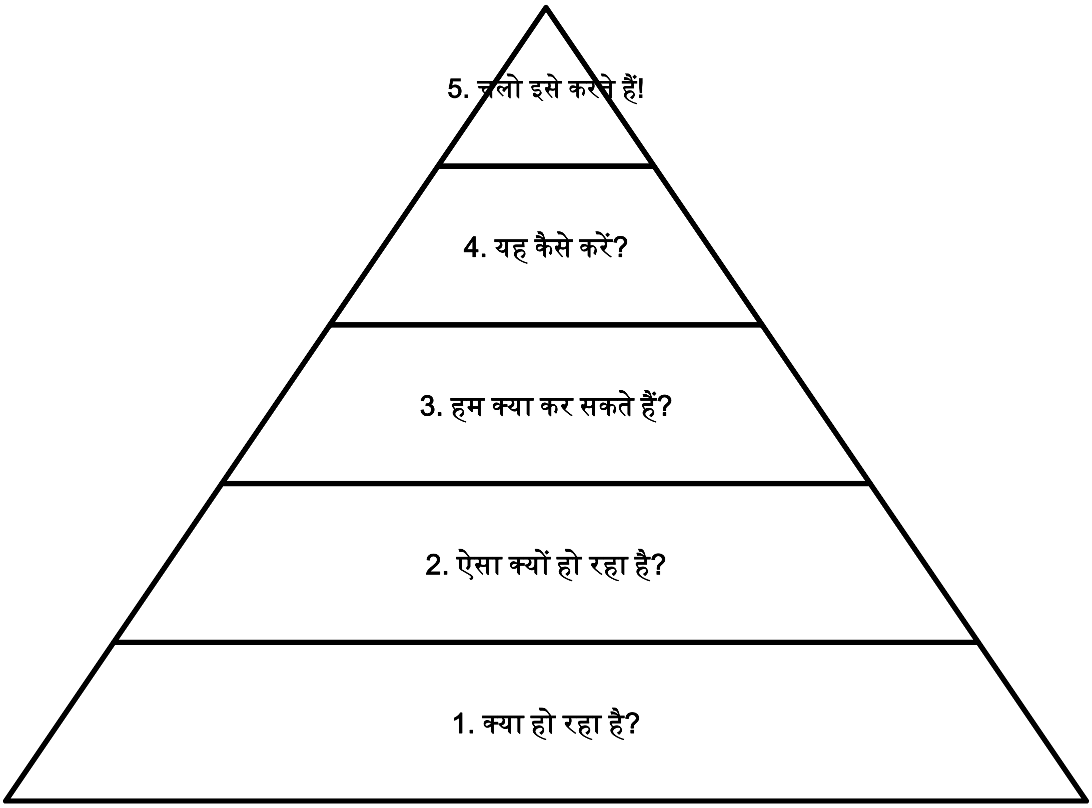

चित्र 4.4 एटकिसन का पिरामिड प्रारूप

4.4.6 अमीबा प्रारूप (Amoeba Model)

डच भाषा में अमीबा का तात्पर्य पारिस्थितिकी तंत्र के विवरण और मूल्यांकन के लिए सामान्य विधि से है। संधारणीयता की डिग्री का न्याय करने के लिए सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता संदर्भ मूल्यों का अस्तित्व है। अमीबा दृष्टिकोण का उपयोग किसी प्रणाली (system) की स्थिति को इष्टतम स्थिति (optimal condition) के सापेक्ष दृष्टिगत रूप से आंकने के लिए किया जाता है। यह प्रारूप (model) गोलाकार है जिसके बाहरी भाग में विभिन्न संकेतक लगे हुए हैं। किसी संकेतक की प्रभावशीलता उसकी स्पष्टता पर निर्भर करती है। उदाहरण के लिए जहाँ वैज्ञानिकों को मुख्य रूप से सांख्यिकीय रूप से उपयोगी और संभवतः कच्चे आंकड़ों में रुचि रखते हैं। वहीँ राजनीतिक निर्णय निर्माताओं को आंकड़ों के कुछ संक्षेपण (condensation) की आवश्यकता होती है और साथ ही आंकड़ों को राजनीतिक लक्ष्यों और मानदंडों से जोड़ना भी होता है। जनता स्पष्ट कथन और एक मूल्य के संक्षेपण (condensation) को पसंद करती है। आंकड़ों के सम्बन्ध में यहाँ आपको पता होना चाहिए कि किसी एक आदमी के लिए जो अपशिष्ट (waste) है वहीँ दूसरे आदमी के लिए खजाना हो सकता है।

अमीबा दृष्टिकोण एक ऐसा उपकरण हो सकता है जो पारिस्थितिकी तंत्र को राजनीतिक निर्णय निर्माताओं और जनता के लिए अधिक समझने योग्य बनाने में मदद करता है। संबंधित अमीबा संकेतकों की तुलना करके नीति विकल्पों का मूल्यांकन किया जा सकता है जोकि इस प्रकार हैं।

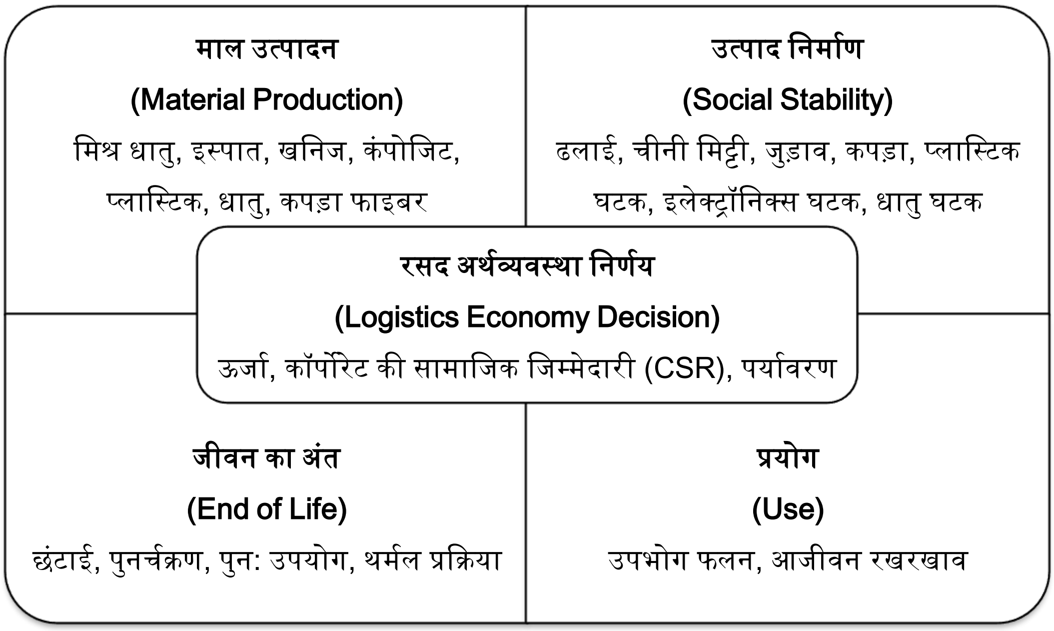

चित्र 4.5 संधारणीयता का अमीबा प्रारूप

4.4.7 तीन पैरों वाला तिपाई प्रारूप (Three-Legged Stool Model)

तीन पैरों वाला तिपाई (Stool) प्रारूप को 'तिहरा नीचे की कड़ी - ट्रिपल बॉटम लाइन' (Triple bottom Line) परिप्रेक्ष्य के रूप में भी जाना जाता है।

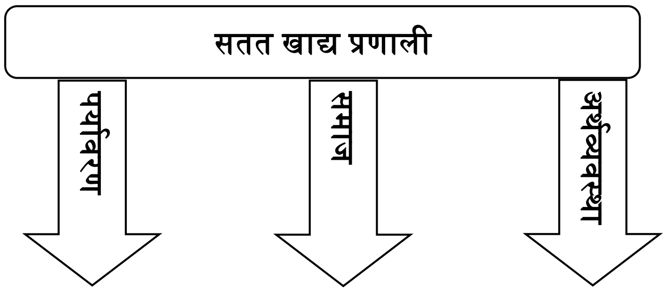

चित्र 4.6 तीन पैरों वाला तिपाई प्रारूप

यह सतत विकास को दर्शाने का बहुत सरल तरीका है। तिपाई (Stool) के तीन अलग-अलग पैरों द्वारा यह पर्यावरण, अर्थव्यवस्था और समाज का प्रतिनिधित्व करते है। यदि एक पैर दूसरे की तुलना में अधिक या कम महत्वपूर्ण है (यानी, छोटा या लंबा), तो तिपाई (Stool) अस्थिर होगा (लेकिन शायद अभी भी कम से कम कुछ समय के लिए उपयोग करने योग्य होगा)। यदि कोई पैर गायब है तो तिपाई (Stool) काम नहीं करेगा। लेकिन अगर तीनों पैर एक ही लंबाई के हैं (यानी, पर्यावरण, आर्थिक और सामाजिक विचारों को समान महत्व दिया गया है), तो परिणाम एक अच्छी तरह से संतुलित तिपाई (Stool) होगा जो अनिश्चित काल तक अपने उद्देश्य को पूरा करेगा जिसको **स्कॉटिश पर्यावरण संरक्षण एजेंसी** ने वर्ष 2002 में एक टिकाऊ तिपाई (Stool) की संज्ञा दी गयी थी।

तिपाई (Stool) के पहले पाँव ***पर्यावरण*** को पर्यावरणीय प्रदूषण और अपशिष्ट को कम करके, नवीकरणीय ऊर्जा का उपयोग करके, संरक्षण एवं पुनर्स्थापन द्वारा सतत बनाया जाना चाहिए। इसके दुसरे पाँव ***समाज*** में सामुदायिक और सामाजिक स्थिरता को बनाने के लिए काम करने की अच्छी स्थितियाँ, स्वास्थ्य देखभाल, शिक्षा, समुदाय और संस्कृति पर कार्य करना चाहिए। इसके

तीसरे पाँव ***अर्थव्यवस्था*** को सतत बनाने के लिए बेहतर रोजगार, लाभदायक उद्यम, अधोसंरचना, निष्पक्ष व्यापार एवं सुरक्षा पर कार्य करना चाहिए। तीनों ही पाँवों पर एक समान ध्यान दिया जाना चाहिए ताकि विकास में संधारणीयता का गुण भी निहित हो सके।

4.4.8 दो-स्तरीय संधारणीयता संतुलन प्रारूप (Two-Tier Sustainability Equilibrium Model)

यह सबसे उभरते प्रारूपों (models) में से एक है और इसकी सबसे कम आलोचना की गई है। इस प्रारूप (model) के अनुसार, समय के साथ संधारणीयता प्राप्त करने का अर्थ यह है कि हमें सतत विकास लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए हमारी वर्तमान सभी गतिविधि को पहचानना होगा जिसको इस प्रारूप (model) में एक आदर्श सिलेंडर (Ideal Cylinder) के रूप में में दर्शाया गया है।

यह प्रारूप (model) यह भी दर्शाता है कि सतत विकास एक गतिशील प्रक्रिया है जिसमें डोनट (Donut) आकार या टोरस बनाने के लिए, समय आयाम (Time Dimension) को अपनी ओर वापस झुकने की आवश्यकता होती है। यह इस धारणा का प्रतिनिधित्व करता है कि वर्तमान में संधारणीय विकास पर लिए जाने वाले निर्णय ही भविष्य में संधारणीय विकास के निर्णयों की उपलब्धता को तैयार करते हैं।

इसको निम्नलिखित चित्रों के माध्यम से भी समझा जा सकता हैं।

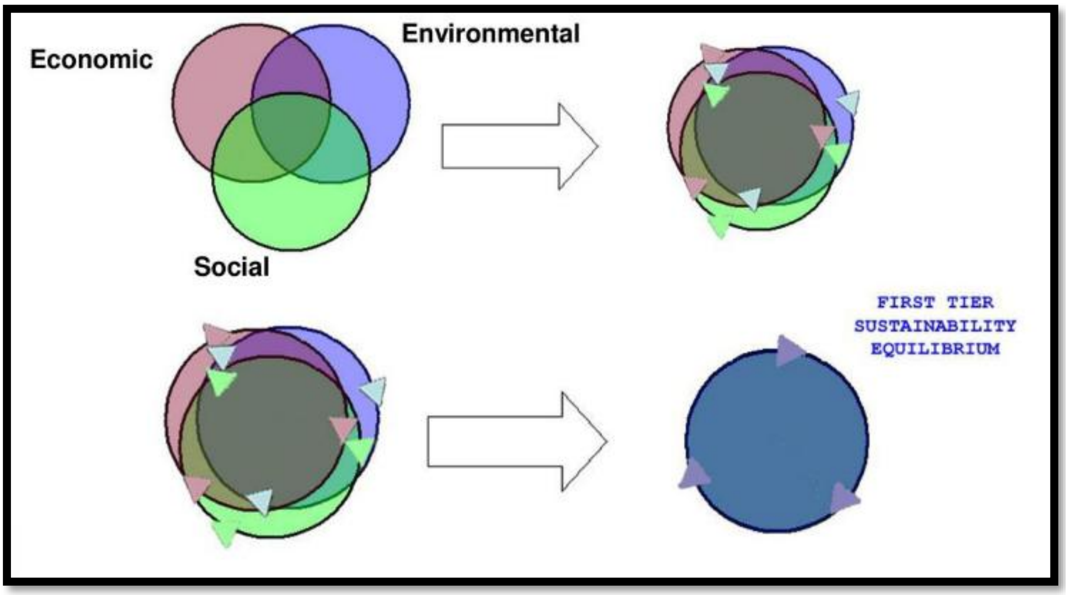

चित्र 4.7 प्रथम स्तरीय संधारणीय संतुलन (venn diagram के माध्यम से)

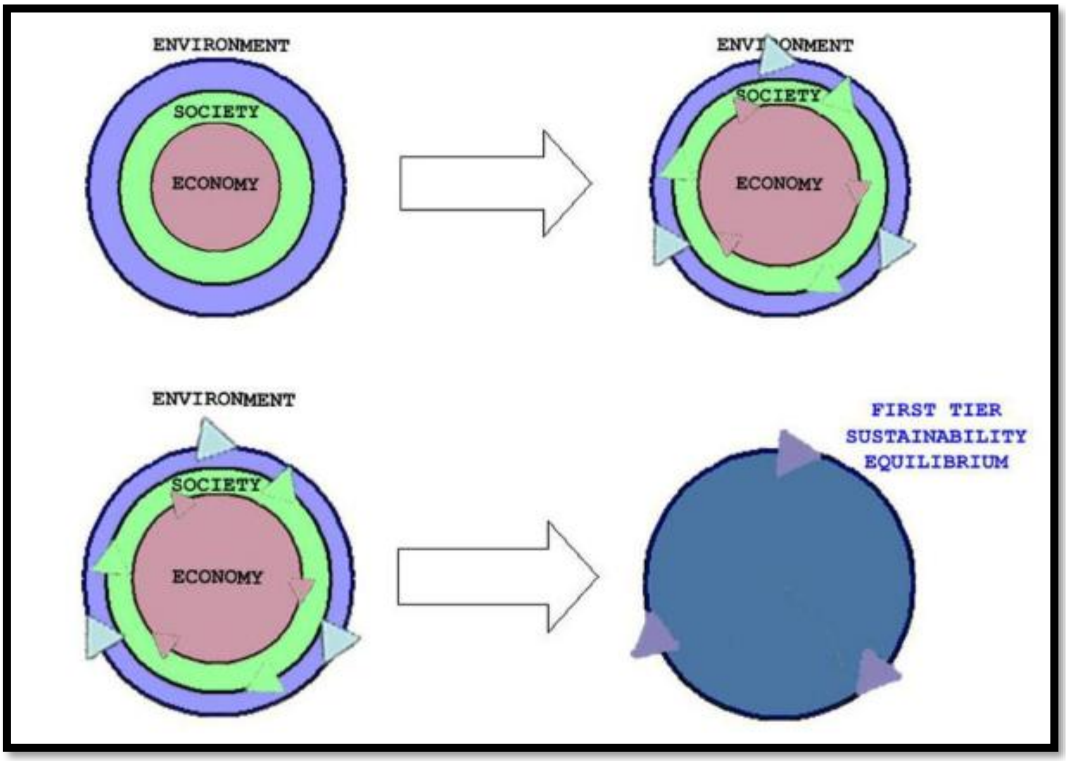

चित्र 4.8 प्रथम स्तरीय संधारणीय संतुलन (Concentric Circles के माध्यम से)

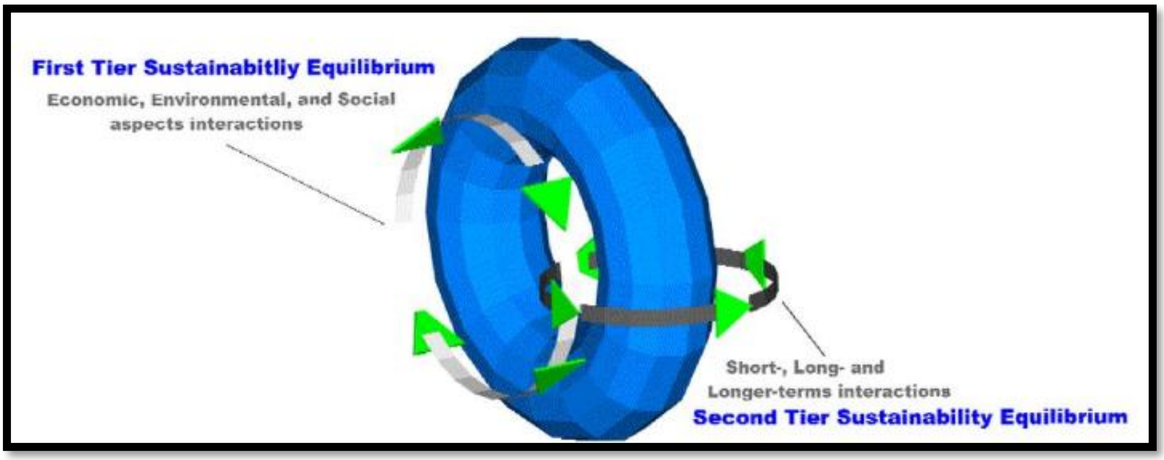

चित्र 4.9 द्वितीय स्तरीय संधारणीय संतुलन (Concentric Circles के माध्यम से)

लोज़ानो का (Lozano)तर्क है कि संकेंद्रित वृत्त प्रारूप (model) अत्यधिक मानवकेंद्रित है और आर्थिक उप-प्रणाली को इसके केंद्र में रखता है। इसके बजाय, पहले चरण में यह तर्क दिया जाता है कि वास्तविक सतत विकास के लिए संकेंद्रित वृत्त/तीन वृत्त पूरी तरह से अधिव्यापन (overlap)होने चाहिए; इसे '**प्रथम स्तरीय संधारणीय संतुलन**' के रूप में जाना जाता है। यह पहला चरण समय में एक बिंदु (आमतौर पर वर्तमान) पर परस्पर निर्भरता को दर्शाता है। दूसरे चरण में, प्रथम स्तरीय संधारणीय संतुलन को एक आदर्श सिलेंडर के रूप में चित्रित करके समय आयाम (Time Dimension) को शामिल किया गया है। यदि वर्तमान या भविष्य पर बहुत अधिक जोर दिया जाता है तो सिलेंडर एक शंकु की तरह दिखेगा (यानी शंकु उस बिंदु पर सबसे चौड़ा होगा जहां जोर दिया गया है)।

4.5 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

1. प्रिज्म प्रारूप 2001 में .... द्वारा प्रस्तावित किया गया था। (स्टेनबर्ग **या** एटकिसन)
2. एटकिसन के पिरामिड प्रारूप में............ स्तर हैं। (दो **या** पाँच)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य या असत्य कथन का चुनाव कीजिए-

1. तीन स्तंभ प्रारूप के अंतर्गत अर्थव्यवस्था, समाज एवं पर्यावरण आते हैं।
2. प्रिज्म प्रारूप में पर्यावरणीय आयाम (प्राकृतिक पूंजी) पर बहुत अधिक ध्यान दिया गया हैं।
3. अंडा प्रारूप के अंतर्गत यह बताया गया हैं की लोग एक दूसरे पर निर्भर नहीं है।

4.6 सांराश (Summary)

प्रस्तुत इकाई में आप प्रारूपों (models) के माध्यम से सतत विकास का अध्ययन कर चुके हैं और समझ चुके हैं की यह प्रारूप सतत विकास के लक्ष्यों को प्राप्त करने की एक रूपरेखा हैं। सतत विकास के कई लक्ष्य हैं जिन्हें प्राप्त करने के लिए हमें इन प्रारूपों की आवश्यकता पड़ती हैं। यह प्रारूप बहुत सोच विचार कर बनाए गए हैं जिनका अनुसरण करके हम सतत विकास की ओर बढ़ सकते हैं। इकाई में आपने कुल आठ प्रारूपों के बारे में जाना जोकि अलग-अलग पहलुओं एवं आयामों की बात करते हैं लेकिन फिर भी सभी प्रारूपों का लक्ष्य सतत विकास की तरफ केन्द्रित हैं।

इकाई में सबसे पहले आपने तीन स्तंभ प्रारूप के बारे में पढ़ा जिसमें आपने जाना की अर्थव्यवस्था, समाज और पर्यावरण को संधारणीयता के तीन स्तंभ माना जाता है। सामाजिक संधारणीयता में पर्यावरण न्याय, मानव स्वास्थ्य, शिक्षा आदि शामिल हैं। अगर हम सामाजिक संधारणीयता को बढ़ाने के लिए प्रयास करते हैं तो इससे पर्यावरण को भी लाभ हो सकता है। यह प्रारूप तीन महत्वपूर्ण स्तंभों को दर्शाता हैं।

इकाई में दूसरा प्रारूप हैं स्टेनबर्ग और बोनियट द्वारा दिया गया प्रिज्म प्रारूप जिसे चार स्तंभ प्रारूप भी कहा जाता है क्योकि यह चार आयामों (आर्थिक, पर्यावरणीय, सामाजिक एवं संस्थागत) के बारे में बात करता है। इकाई में आगे आपने अंडा प्रारूप के बारे में पढ़ा जोकि प्रिज्म प्रारूप की आलोचना के बाद आया। प्रिज्म प्रारूप में पर्यावरणीय आयाम पर बहुत कम ध्यान दिया गया जबकि कई लोगों के लिए पर्यावरण मानव कल्याण के विकास के लिए पूर्व शर्त है। इस दृष्टिकोण के लिए संधारणीयता के एक प्रारूप की आवश्यकता को महसूस करते हुए यह प्रारूप बना जो पर्यावरण को केंद्र में रखता है। संधारणीयता का अंडा लोगों एवं पारिस्थितिकी तंत्र के बीच के रिश्ते को एक चक्र के अंदर दूसरे चक्र के रूप में दर्शाता है, जैसे अंडे की जर्दी। इसका तात्पर्य यह है कि लोग पारिस्थितिकी तंत्र के भीतर हैं एवं अंतत: एक दूसरे पर पूरी तरह से निर्भर है।

पूंजी स्टॉक प्रारूप जोकि वर्ष 1994 में दिया गया था यह कहता हैं की यदि हम केवल ब्याज पर जीते हैं और पूंजी पर नहीं, तो समृद्धि का आधार बना रहता है। हालाँकि, यदि हम पदार्थ का उपभोग करते हैं, तो हमारे अस्तित्व के साधन लंबे समय में खतरे में पढ़ जाते हैं। इकाई में अगला प्रारूप हैं पिरामिड प्रारूप जिसे एटकिसन ने दिया था। इस प्रारूप को सतत विकास के लिए एक ख़ाका माना जा सकता हैं। इस प्रारूप के अनुसार, समाज, पर्यावरण और आर्थिक विकास के बीच सहमति के रूप में अंतर सांस्कृतिक संबंध संधारणीयता विकसित कर सकते हैं। पिरामिड में पाँच स्तर हैं पहला *संकेतक*, प्रवृत्ति को मापना दूसरा *प्रणाली*, कारणों, प्रभावों और उत्तोलन बिंदुओं के बीच संबंध बनाना, तीसरा *नवाचार*: विचार जो बदलाव लाते हैं, चौथा *रणनीतियाँ*: विचार से वास्तविकता तक और पाँचवा *कार्य या समझौते*: कार्यशाला से वास्तविक दुनिया तक।

इकाई में आगे आपने अमीबा प्रारूप के बारे में पढ़ा और समझा की यह एक ऐसा उपकरण है जो पारिस्थितिकी तंत्र को राजनीतिक निर्णय निर्माताओं और जनता के लिए अधिक समझने योग्य बनाने में मदद करता है। संबंधित अमीबा संकेतकों की तुलना कर के नीति विकल्पों का मूल्यांकन किया जा सकता है।

अगला प्रारूप अपने पढ़ा तीन पैरों वाला तिपाई प्रारूप, यह तिपाई के तीन अलग-अलग पैरों द्वारा जैसे पहला पर्यावरण, दूसरा अर्थव्यवस्था और तीसरा समाज का प्रतिनिधित्व करता है। यदि एक पैर दूसरों की तुलना में अधिक या कम महत्वपूर्ण है (छोटा या लंबा), तो तिपाई अस्थिर होगा। इकाई में आखिरी प्रारूप हैं दो-स्तरीय संधारणीयता संतुलन प्रारूप जोकि सबसे उभरते हुए प्रारुपों में से एक है एवं इसकी आलोचना भी कम की जाती है। इस प्रारूप के अनुसार, समय के साथ संधारणीयता प्राप्त करने का अर्थ है सतत विकास लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए हमारी वर्तमान गतिविधि को पहचानना, जिसे एक आदर्श सिलेंडर में दर्शाया गया है।

4.7 शब्दावली (Glossary)

- □**इष्टतम उपयोग (Optimum Utilization):** संसाधनों के इष्टतम उपयोग से तात्पर्य सीमित संसाधनों (जैसे पूंजी और श्रम) का सर्वोत्तम संभव उपयोग करने से है ताकि न्यूनतम संभव लागत पर अधिकतम लाभ प्राप्त किया जा सके।
- □**सामाजिक संधारणीयता (Social Sustainability):** सामाजिक स्थिरता एक स्वस्थ समुदाय के निर्माण में मदद करती है जो वर्तमान और साथ ही भविष्य की पीढ़ियों की जरूरतों को पूरा कर सके। इसमें पर्यावरण न्याय, मानव स्वास्थ्य, शिक्षा आदि सम्मिलित हैं।
- □**संस्थागत आयाम (Institutional Dimension):** विकास के संस्थागत आयाम को संगठनों के बीच स्थापित सामाजिक पूंजी द्वारा दर्शाया जाता है, जिसे संबंधपरक संपत्तियों के एक समूह के रूप में समझा जाता है जो किसी संगठन की उत्पादक क्षमता को प्रभावित कर सकता है।
- □**नवीकरणीय संसाधन (Renewable Energy):** नवीकरणीय संसाधन प्राकृतिक स्रोतों से प्राप्त ऊर्जा है, जिसकी खपत की तुलना में अधिक दर पर पुन: पूर्ति की जाती है।
- □**नवाचार (Innovation):** नवाचार का अर्थ है किसी उत्पाद, प्रक्रिया या सेवा में छोटा या बड़ा परिवर्तन करना।
- □**सामाजिक सामंजस्य (Social Cohesion):** सामाजिक सामंजस्य जिसे सामाजिक संबंधों की गुणवत्ता और समुदायों में विश्वास, पारस्परिक दायित्वों और सम्मान के अस्तित्व के रूप में परिभाषित किया जाता है।
- **आर्थिक प्रारूप (Economic Model):** किसी प्रारूप में निहित चरों के बीच एक तार्किक / संख्यात्मक सम्बन्ध है। प्रारूपों का उपयोग करके इस बात की जाँच की जा सकती है आर्थिक प्रक्रिया के किसी चर को बदलने पर अर्थतन्त्र पर क्या प्रभाव होगा।
- **प्राकृतिक संसाधन (Natural Resources):** यह ऐसे संसाधन हैं जो प्रकृति से लिए गए हैं और कुछ संशोधनों के साथ उपयोग किए जाते हैं। इसमें वाणिज्यिक और औद्योगिक उपयोग, सौंदर्य मूल्य, वैज्ञानिक रुचि और सांस्कृतिक मूल्य जैसी मूल्यवान विशेषताओं के स्रोत शामिल हैं। पृथ्वी पर, इसमें सौर प्रकाश, वायुमंडल, जल, भूमि, सभी खनिज के साथ-साथ सभी वनस्पति और पशु जीवन शामिल हैं।
- **पारिस्थितिकी (Ecology):** यह जीव-विज्ञान तथा भूगोल की एक शाखा है जिसमें जीव समुदायों का उसके वातावरण के साथ पारस्परिक संबंधों का अध्ययन करतें हैं। प्रत्येक जन्तु या वनस्पति एक निश्चित वातावरण में रहता है। पारिस्थितिज्ञ इस तथ्य का पता लगाते हैं कि जीव आपस में और पर्यावरण के साथ किस तरह क्रिया करते हैं और वह पृथ्वी पर जीवन की जटिल संरचना का पता लगाते हैं।

- **सामाजिक समानता (Social Equality):** सामाजिक सन्दर्भों में समानता का अर्थ किसी समाज की उस स्थिति से है जिसमें उस समाज के सभी लोग समान अधिकार या प्रतिष्ठा रखते हैं। समानता का अधिकार एक अत्यंत महत्वपूर्ण अधिकार है और इसका तात्पर्य यह है की प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति को व्यक्ति होने के नाते सम्मान और महत्त्व प्राप्त होना चाहिए जिसके अन्तर्गत सुरक्षा, मतदान का अधिकार, भाषण की स्वतंत्रता, एकत्र होने की स्वतंत्रता, सम्पत्ति अधिकार, सामाजिक वस्तुओं एवं सेवाओं पर समान पहुँच आदि आते हैं। सामाजिक समानता में स्वास्थ्य समानता, आर्थिक समानता तथा अन्य सामाजिक सुरक्षा भी आतीं हैं।
- **समाज (society):** समाज शब्द का अर्थ व्यक्तियों के समूह से ना हो करके उनके बीच में पाए जाने वाले संबंधों की व्यवस्था से है। और इस व्यवस्था का निर्माण अनेक सामाजिक संबंधों के कारण होता है।
- **अर्थव्यवस्था (Economy):** यह उत्पादन, वितरण और उपभोग की एक प्रणाली है। यह एक विशेष अवधि की होती है।
- **पर्यावरण (Environment):** यह हमारे जीवन को प्रभावित करने वाले सभी जैविक और अजैविक तत्वों, तथ्यों और प्रक्रियाओं का योग है।
- **गिग इकॉनमी(The gig economy)-** यह एक मुक्त बाज़ार प्रणाली है जिसमें अस्थायी पद सामान्य होते हैं और संगठन अल्पकालिक कार्यों के लिए स्वतंत्र श्रमिकों के साथ अनुबंध करते हैं।
- **जैव विविधता (Biodiversity):** यह पृथ्वी पर जीवन की विविधता और परिवर्तनशीलता है। इसे विभिन्न स्तरों पर मापा जा सकता है। उदाहरण के लिए आनुवंशिक परिवर्तनशीलता, प्रजाति विविधता और पारिस्थितिकी तंत्र विविधता। पृथ्वी पर विविधता समान रूप से वितरित नहीं है। भूमध्य रेखा के पास के क्षेत्र में गर्म जलवायु और उच्च प्राथमिक उत्पादकता के परिणामस्वरूप यह उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में अधिक है।
- **अवसर की समानता (Equality of Opportunity):** अवसर की समानता का अर्थ है राज्य द्वारा जाति, धर्म, वर्ग, रंग, लिंग और नस्ल आदि के आधार पर बिना किसी भेदभाव के नागरिकों को समान सुविधाएं और रोजगार के अवसर प्रदान करना।

4.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर (Answer for Practice Questions)

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए-

1. स्टेनबर्ग 2. पाँच

निम्नलिखित कथनों में से सत्य या असत्य कथन का चुनाव कीजिए-

1. सत्य 2. असत्य 3. असत्य

4.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची (Bibliography)

- H.E. Daly. (1996). ***Beyond growth: the economics of sustainable development***, Beacon Press. Boston, MA.
- C. Durham, (1997). ***The First Three Years of Sustainability in Action***, County Durham Local Agenda, 21.
- M. Grubb. (1993). ***The Earth Summit agreements: a guide and assessment; an analysis of the Rio'92***, UN Conference on Environment and Development.

Earthscan and the Energy and Environmental Programme of the Royal Institute of International Affairs.

- Daly HE. ***Sustainable development: definitions, principles, policies.*** Washington, DC: World Bank; 2002.

4.10 उपयोगी पाठ्य सामग्री (Useful Text)

- Hardi, P. and Zdan, T.J. (1997): ***Assessing sustainable development—Principles in practice***. International Institute for Sustainable Development. Winnipeg.
- International Development Research Centre IDRC (1997): ***Assessment tools***. Ottawa.
- Kain, J.-H. (2000): ***Urban support systems—Social and technical, socio-technical or socio technical***. Gothenburg.
- WCED (The World Commission on Environment and Development; 1987): ***Our common future.*** Oxford.
- Keiner, Marco (2005): ***History, definition(s) and models of sustainable development,*** Available from : <<https://www.researchcollection.ethz.ch/handle/20.500.11850/53025>>
- Lozano. R. (2008): ***Envisioning sustainability three-dimensionally***. Journal of Cleaner Production. Vol 16 (17), 1838-1846. Available from <<https: // pdfs.semanticscholar.org/7255/a360e76d1c71fd7ed0166c03dd4c03f14fe3.pdf >>

4.11 निबंधात्मक प्रश्न (Essay Type Questions)

1. स्टेनबर्ग द्वारा दिए गये प्रिज्म प्रारूप को चित्र सहित समझाइए।
2. एटकिसन के पिरामिड प्रारूप को विस्तार से लिखिए।
3. सतत विकास क्या हैं? सतत विकास में प्रारूप की क्या आवश्यकता हैं? सतत विकास के किसी एक प्रारूप को विस्तार से लिखिए।

इकाई 5 पर्वतीय क्षेत्रों में विकास की चुनौतियां (Challenges of Development in Hilly Areas)

5.0: उद्देश्य

5.1: परिचय

5.2: सतत विकास

- पर्वतीय क्षेत्रों में नियोजन व विकास के माध्यम
- जल प्रबंधन
- भूउपयोगिता विश्लेषण
- वहन क्षमता विश्लेषण
- जलवायु सचेत भवन प्रारूप

5.3: पर्वतीय क्षेत्रों की समस्याएं

5.4: अनुशंसा

- पर्वतीय दृष्टिकोण एवं संवेदनशीलता
- शिक्षा एवं कौशल विकास
- प्राकृतिक संसाधन विश्लेषण एवं सुझाव केन्द्र
- पर्यावरण मूल्यांकन
- वित्तीय प्रोत्साहन, पुरस्कार एवं छूट
- भारतीय हिमालयी क्षेत्र में संसाधनों का वितरण
- जलमार्ग एवं रज्जूमार्ग
- कचरा प्रबंधन
- त्वरित आपदा राहत एवं शमन
- उद्योग
- जलवायु परिवर्तन
- नेशनल मिशन फॉर सस्टेनिंग हिमालयन इकोसिस्टम

5.5:सन्दर्भ

5.0: उद्देश्य (Objectives)

भारतीय हिमालयी क्षेत्र (IHR) में विकास की चुनौतियों का दस्तावेजीकरण।

5.1: परिचय (Introduction)

भारतीय हिमालयी क्षेत्र को प्रकृति ने पारिस्थितिकीय विविधता, सबसे विस्तृत वनक्षेत्र, समृद्ध वनस्पति एवं जीव विविधिता, अद्वितीय पर्यावास, प्रचुर जल संसाधन और विविध सामाजिक–सांस्कृतिक समूहा प्रदान किये हैं। यह न सिर्फ इस क्षेत्र में रहने वाले लोगों मूल्यवान पारिस्थितिकीय सेवाएं और आजीविका प्रदान करता है, बल्कि हिमालयी क्षेत्र से नीचे मैदानी इलाकों में रहने वालों और यहां तक कि देश से बाहर के लोगों को भी यह सेवाएं प्रदान करता है। हालांकि, जलवायु परिवर्तन के कारण हिमालय की वानस्पतिक एवं जीव विविधता में बुनियादी एवं संयोजनात्मक परिवर्तन निरंतर हो रहे हैं। यह दुर्गम भौगोलिक क्षेत्र है, जहां कृषि–जलवायु विविधता मिलती हैं, प्राकृतिक आपदाओं का खतरा बना रहता है, जबकि कमजोर ढांचागत विकास, पहुंच के अवसरों के अभाव के कारण कमजोर सामाजिक–आर्थिक विकास इस क्षेत्र को देश के बाकी हिस्सों से पीछे कर देता है। हर साल बाढ़, भूस्खलन और वनों में आग की घटनाएं जीवन, संपत्ति और प्राकृतिक संसाधनों को भारी नुकसान पहुंचाती हैं। चिंता का विषय यह है कि आपदा की ये घटनाएं नियमित होने लगी हैं। हिमालयी पर्वत श्रृंखलाएं अपेक्षाकृत कम उम्र की हैं, जहां सक्रिय टेक्टोनिक प्लेटों के कारण अस्थायी ढलान मौजूद हैं और यहां का मौसम ऐसा है, जिसका पूर्वानुमान लगा पाना कठिन होता है। परिणामस्वरूप, यह क्षेत्र बाढ़, भूकंप, भूस्खलन जैसी प्राकृतिक आपदाओं के लिहाज से अतिसंवेदनशील है। क्षेत्र में निरंतर बढ़ते मानवीय दबाव, अवैज्ञानिक विकास, प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध दोहन और जलवायु परिवर्तन ने हाल के दौर में हिमालयी क्षेत्र की पारिस्थितिकी को खासा नुकसान पहुंचाया है। क्षेत्र में प्राकृतिक आपदाओं की निरंतर पुनरावृत्ति की यह भी बड़ी वजह है।

Figure 1.

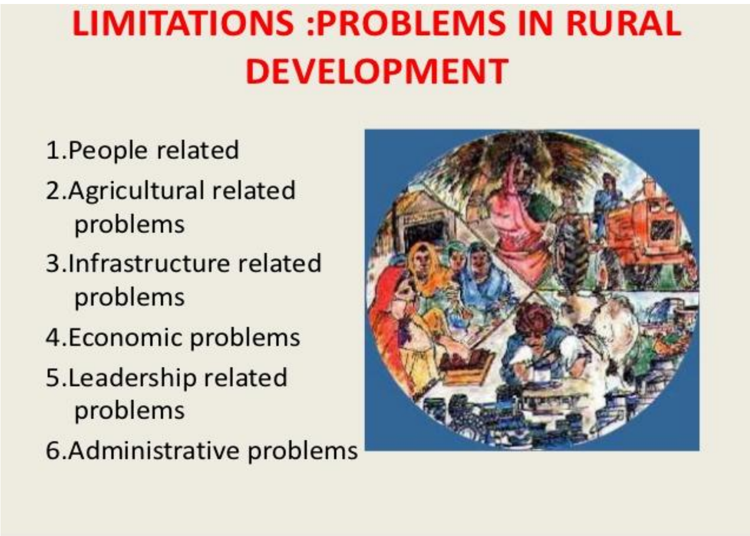

भारतीय हिमालयी क्षेत्र (IHR) से जुड़े मुद्दे बहुआयामी और जटिल हैं, जो सामाजिक, आर्थिक और पारिस्थितिकीय चिंताओं से जुड़े हुये हैं। इसके चलते ऐसी विकास नीतियों की आवश्यकता होती है जो प्राकृतिक, सामाजिक–सांस्कृतिक और सामाजिक–आर्थिक तथा पर्यावरणीय संसाधनों का विश्वसनीय एवं

समग्र आंकड़ों पर आधारित हों। इसीलिये भारतीय हिमालयी क्षेत्र में तेज और समग्र विकास के लिये एकल खिड़की (Single Window) व्यवस्था का प्रस्ताव दिया गया है। वैश्विक पर्वत तंत्र में हिमालय सर्वाधिक जटिल एवं सबसे अधिक विविधताओं वाला पर्वत क्षेत्र है। यह एशिया महाद्वीप के उत्तरी (तिब्बत, चीन, साइबेरिया आदि) और दक्षिणी भागों को अलग करता है। क्षेत्र की अलग भौगोलिक एवं पारिस्थितिकी समृद्धि का धरती के जैवविविधता तंत्र में प्रमुख योगदान है। यह विस्तृत पर्वत शृंखला (2500 किलोमीटर लंबी, 80 से 300 किलोमीटर तक चौड़ी और जमीन से आठ हजार मीटर तक ऊंची) न सिर्फ अपनी स्वयं की विशिष्ट जलवायु का निर्माण करती है, बल्कि एशिया की जलवायु को भी वृहद पैमाने पर प्रभावित करती है (Zobel & Singh, 1997)।

स्थलीय लिहाज से इस क्षेत्र में तीन आयामी विशिष्टताओं (अक्षांशीयः दक्षिण–उत्तर, देशांतरीयः पूर्व–पश्चिम तथा उच्चताः नीचा–ऊंचा) के कारण मौसम एवं पर्यावास संबंधी विविधताएं नजर आती हैं। हिमालय की उपत्ति करीब 55 लाख वर्ष पूर्व 'पेनिन्सुलर इंडिया प्लेट' और 'यूरेशियन प्लेट' के टकराव के परिणामस्वरूप मानी जाती है। हालांकि, हिमालयी शृंखला के निर्माण की यह एकमात्र घटना नहीं थी। निरंतर अस्थायी एवं स्थानिक भौगोलिक परिवर्तनों के चलते हिमालयी क्षेत्रों में भी अलग–अलग स्थानों पर मौसम के साथ भौगोलिक, भूगर्भीय एवं जैविक तत्वों के आधार पर विविधताएं देखी जाती हैं। हिमालय को पांच जैव–भौगोलिक क्षेत्रों का संयोजन बिन्दु माना जाता है, ये हैंः Palaearctic; Mediterranean; Indo-Chinese; Indo-Malayan और Peninsular India. जैवविविधता की यह स्थानिक स्थिति एवं विषमरूप वितरण ने क्षेत्र में जैव–भौगोलिक जटिलता का निर्माण किया है।भारतीय हिमालयी क्षेत्र वैश्विक पारिस्थितिकी में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। भूगर्भीय लिहाज से नये और कम उम्र की यह पर्वत शृंखला न सिर्फ मौसम के लिहाज से अहम है, बल्कि आजीविका के संसाधन उपलब्ध कराने, भारतीय उपमहाद्वीप के बड़े हिस्से को जल देने और पादप, जीव–जन्तुओं की प्रचुर प्रजातियों के साथ यह मानवीय समुदायों, सांस्कृतिक विविधता के लिहाज से भी महत्वपूर्ण है। लेकिन, प्राकृतिक संसाधनों की प्रचुरता के बावजूद हिमालयी क्षेत्रों में रहने वाले अधिकतर लोग हाशिये पर हैं और उनका आजीविका का स्तर पर भी अन्य क्षेत्रों के मुकाबले कमतर है। प्राकृतिक संसाधनों का अवैज्ञानिक दोहन इस क्षेत्र में पर्यावरणीय नुकसान और इसके चलते प्राकृतिक आपदाओं की बड़ी वजह बन रहा है। ऐसे में हिमालयी क्षेत्र में आर्थिक लाभ और पारिस्थितिकी परिस्थितियों में सामाजिक–सांस्कृतिक सिद्धांतों को ध्यान में रखते हुए संतुलन के नये मानकों की जरूरत है।

Table 1: भारतीय हिमालयी राज्य (Indian Himalayan States)

Sl.	State/region	% share of geographical area in the Indian Himalayan Region (IHR)
1	Jammu & Kashmir	41.65
2	Himachal Pradesh	10.43
3	Uttarakhand	10.02
4	Sikkim	1.33
5	West Bengal hills	0.59
6	Meghalaya	4.20
7	Assam hills	2.87
8	Tripura	1.97
9	Mizoram	3.95
10	Manipur	4.18
11	Nagaland	3.11
12	Arunachal Pradesh	15.69

बिजली, सड़क, सिंचाई आदि जैसे अवस्थापना ढांचे के विकास के लिहाज से पर्वतीय क्षेत्र पीछे हैं।

अवस्थापना विकास में अंतर्जनपदीय स्तर पर असमान वितरण मैदान और पर्वतीय क्षेत्रों के लोगों की आय और आजीविका के स्तर में भी असमानता की वजह बनता है। आय के निम्न साधन भौतिक संसाधनों के कम उपभोग और इनसे वंचित रहने की स्थिति को भी पैदा करते हैं। इसके कारण शिक्षा, स्वास्थ्य सुविधाओं तक भी इस क्षेत्र के लोगों की पहुंच कम रहती है, जो निर्धनता के एक निरंतर चक्र का कारण बनती है। पर्वतीय क्षेत्रों में तीन चौथाई से अधिक आबादी आजीविका के लिये कृषि पर ही निर्भर रहती है। हालांकि, यहां भूस्वामित्व बेहद सीमित और बिखरा हुआ होता है, जबकि सिंचाई की सुविधाएं भी बेहद कम होती हैं। मिट्टी एवं जल संरक्षण का अभाव भी बड़ी समस्या है। पर्वतीय क्षेत्रों में भौतिक, भौगोलिक एवं पर्यावरणीय कारणों से आधुनिक खेती को बढ़ावा देने में बाधा बनी रहती है। परिणामस्वरूप पर्वतीय क्षेत्रों की अधिकतर ग्रामीण आबादी या तो बेहद सीमित कृषि के माध्यम से ही आजीविका पर निर्भर रहती है, या फिर रोजगार और आय के बेहतर साधनों की तलाश में पहाड़ से देश के अन्य क्षेत्रों की ओर पलायन कर जाती है। ऐसी परिस्थिति में राज्य के समक्ष यह चुनौती बनी रहती है कि वह पर्वतीय क्षेत्रों के लोगों को पर्वतीय क्षेत्रों में ही बनाये रखने के लिये स्थानीय स्तर पर रोजगार के अवसर उपलब्ध कराकर उनकी आय में बढ़ोतरी और आजीविका में सुधार के लिये निरंतर प्रयास करता रहे।

Figure 2.

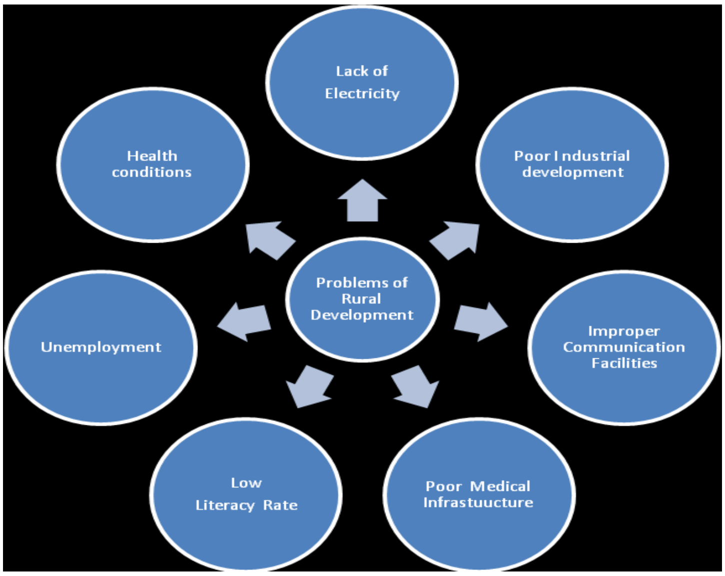

इस तरह पर्वतीय क्षेत्रों में आर्थिक और सामाजिक विकास की प्राथमिक जिम्मेदारी राज्य सरकार की बनती है। अपने प्रदेश उत्तराखंड की बात करें तो यहां प्राकृतिक संसाधनों की प्रचुरता पर्यटन, कृषि और वनाधारित उद्यमों में निवेश के बेहतर अवसर उपलब्ध कराती है। उत्तराखंड देश का पहला राज्य है, जिसने पर्यटन विकास परिषद का गठन किया है। इसके अलावा इसे पहले जैविक राज्य (Organic State) का भी दर्जा मिला है। कृषि और कृषि आधारित ऐसे तंत्र का विकास जो उद्यम और पर्यटन विकास से भी जुड़ा हुआ हो, पर्वतीय क्षेत्रों में समग्र विकास का माध्यम बन सकता है। भूमि की उत्पादकता बढ़ाने और इसे सतत बनाये रखने के लिये जल प्रबंधन महत्वपूर्ण है। पर्वतीय कृषि के लिये उपयोगी गुणवत्तायुक्त बीजों की उपलब्धता, बहुफसली उत्पादन और पशुपालन, मौनपालन, मत्स्यपालन को बढ़ावा भी लाभकारी हो सकता है। जैविक खेती और कृषि आधारित रोजगार अवसरों को प्रोत्साहित करना जरूरी है। फलों, सब्जियों के प्रसंस्करण, युवाओं के लिये प्रशिक्षण, बैंक एवं बीमा सुविधाओं के जरिये पर्वतीय क्षेत्रों में आजीविका के लिहाज से सुरक्षा एवं समर्थन प्रदान किया जा सकता है। इन सभी क्षेत्रों के साथ अवस्थापना ढांचे और बेहतर शिक्षा व्यवस्था का विकास पर्वतीय क्षेत्रों को सतत विकास की दिशा में बढ़ाने के साथ यहां रहने वाले लोगों की आजीविका में सुधार तथा पलायन को रोकने में कारगर हो सकता है।

उत्तराखंड में भौगोलिक असमानता पर्वतीय और मैदानी क्षेत्रों को एक–दूसरे से अलग करती हैं। इन भौगोलिक परिस्थितियों का असर बिजली, सड़क और सिंचाई जैसी अवस्थापना के विकास में असमानता के रूप में दिखता है। अंतर्जनपदीय अवस्थापना का असमान वितरण मैदानी और पर्वतीय क्षेत्रों के लोगों की आय और आजीविका में भी असमानता की वजह बनता है, जिसके परिणामस्वरूप पर्वतीय क्षेत्रों में मैदानी क्षेत्रों के मुकाबले काफी कम विकास दिखता है। विभिन्न शोध और अध्ययन बताते हैं कि इस परिस्थिति से निपटने के लिये दीर्घकालिक नियोजन जरूरी है। इसका पहला कदम उन सेक्टर की पहचान करना है, जो विकास में बाधा बनते हैं और उन क्षेत्रों को जानना भी, जहां पर्वतीय क्षेत्र तुलनात्मक रूप से लाभ की स्थिति में हैं। मौजूदा अवस्थापना ढांचे की स्थिति स्पष्ट रूप से पर्वतीय क्षेत्रों के विकास में बड़ी बाधा है। शोध बताते हैं कि पर्वतीय क्षेत्रों में शिक्षा, स्वास्थ्य, औद्यानिकी, पर्यटन के क्षेत्र में अवस्थापना विकास की सबसे अधिक जरूरत है। इनके जरिये ही उत्तराखंड के पर्वतीय क्षेत्रों में समग्र और सतत विकास के लक्ष्य को हासिल कर पाना संभव हो सकता है।

राज्य का दृष्टिकोण मानव और आर्थिक विकास दोनों को एकसाथ लेकर चलने से है (Dewan and Bahadur, 2005) और आर्थिक विकास ऐसा होना चाहिये जो पर्यावरण संरक्षण को समर्थन करे। सामाजिक विकास के लिहाज से देखें तो समाज की महिलाओं, युवाओं और बच्चों का विकास सबसे महत्वपूर्ण हो जाता है। यहां युवाओं के विकास का तात्पर्य प्रशिक्षण, रोजगार के बेहतर अवसर और उन्हें स्वावलंबी बनाने से है। उन्हें रोजगार और स्वरोजगार दोनों हासिल करने योग्य होना चाहिये। बच्चे राज्य का भविष्य हैं, ऐसे में उनकी शिक्षा पर जोर दिया जाना जरूरी है। यह चरणबद्ध नियोजित तरीके से निर्धनता को दूर करने में भी मददगार होगा। राज्य की सामाजिक स्थिति की बेहतरी के लिये स्वास्थ्य, पेयजल उपलब्धता, सफाई, सड़क, बाजार, संचार जैसे अवस्थापना विकास पर ध्यान देना भी जरूरी है। कृषि उत्पादन और पारंपरिक से आधुनिक व्यवस्था तंत्र की ओर बढ़ने का अभियान राज्य और इसके जिलों के विकास के लिये महत्वपूर्ण है।

Figure 3.

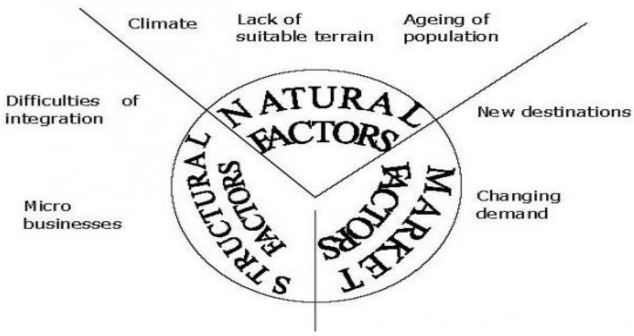

शेखर (2007) बताते हैं कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था में महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका है। उत्तराखंड में युवा पुरुष आमतौर पर रोजगार की तलाश में मैदानी क्षेत्रों की ओर पलायन कर जाते हैं, जबकि गांवों में खेती, बच्चों और बुजुर्गों की देखभाल का जिम्मा महिलाओं पर ही रहता है। कृषि कार्य में महिलाओं के कठोर श्रम को कम करने के लिये वैकल्पिक आर्थिक गतिविधियों की पहचान करना आवश्यक है। मल्होत्रा (2005) स्पष्ट करते हैं कि राज्य की अर्थव्यवस्था में वनों की अहम भूमिका है। लकड़ी और ईंधन का सर्वाधिक उत्पादन है, जबकि बांस, औषधियां, रेशे आदि का उत्पादन इसके बाद आता है। उद्योगों, भवनों, रेलमार्ग और अन्य क्षेत्रों को कच्चा माल उपलब्ध कराने का सबसे महत्वपूर्ण साधन वन ही हैं, लेकिन ईंधन, चारे और लकड़ी की आवश्यकता की पूर्ति के लिये वनों पर बढ़ते दबाव ने अंधाधुंध दोहन को बढ़ावा दिया है। इसके चलते वनों के घनत्व पर असर पड़ने के साथ वनों की उत्पादन क्षमता भी प्रभावित हुयी है। हालांकि, राज्य में खाली पड़ी अधिकतर जमीन को सिर्फ पानी और मृदा संरक्षण के बुनियादी मानकों को पूरा कर दोबारा उत्पादनोपयोगी बनाया जा सकता है, जिसके लिये पौधरोपण और संरक्षण की गतिविधियां आवश्यक हैं।

विभिन्न शोधों से स्पष्ट हुआ है कि किस तरह पर्यावरण कानूनों ने धीरे–धीरे बड़ी आबादी के पारंपरिक आजीविका साधनों को कम किया है। उत्तराखंड के पर्वतीय घरों में लकड़ी की आकर्षक नक्काशी करने वाले कारीगर वर्षों पहले ही यह पारंपरिक काम छोड़ चुके हैं, भेड़–बकरी पालने वाली घुमंतू प्रजातियों के समाप्ति के कगार पर पहुंचने के चलते प्रदेश में अब ऊन लुधियाना से आ रही है। बुनकर मशीन से तैयार होने वाले कपड़ों से स्पर्धा कर पाने की स्थिति में नहीं हैं और कृषि इतनी उपजाऊ नहीं रह गयी है कि आजीविका का बेहतर जरिया बन सके। नये रोजगार और अवसर कुछ शहरी क्षेत्रों में ही उपलब्ध हैं, जो प्रशासनिक केन्द्र हैं। इस तरह के रोजगार के लिये अकसर कौशल, ज्ञान और पूंजी की आवश्यकता होती है, जो स्थानीय लोगों के लिये जुटा पाना मुश्किल होता है।उत्तराखंड प्राथमिक रूप से कृषिप्रधान राज्य ही है, हालांकि देश के कुल भूभाग और कृषि उत्पादन में इसकी बेहद कम हिस्सेदारी है। राज्य के सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का हिस्सा 22.4 प्रतिशत है, जबकि कृषि आजीविका पर प्रदेश की 75 से 85 प्रतिशत आबादी निर्भर है। पर्वतीय क्षेत्रों का प्राथमिक विकास कृषि एवं कृषि आधारित गतिविधियों से जुड़ा हुआ है। चूंकि पर्वतीय क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर औद्योगीकरण हो पाना मुश्किल है और अवस्थापना ढांचे के विकास में सामने आने वाली बाधाओं के चलते यहां रोजगार के अवसर भी सीमित हैं, ऐसे में यहां कृषि सेक्टर ही प्राथमिक लक्ष्य बन जाता है। उत्तराखंड की तीन चौथाई से अधिक आबादी आजीविका के लिये कृषि पर ही निर्भर है। लेकिन खेती के लिये जमीन की कम उपलब्धता, छोटे आकार, जमीनों की अवस्थिति में बिखराव, दुर्गम परिस्थितियां, प्रतिकूल मौसम परिस्थितियां, तकनीक–प्रशिक्षण का अभाव, बैंकिंग और विपणन सुविधाओं की कमी से कृषिकार्य बेहद दुष्कर हो गया है। उत्तराखंड में भूस्वामित्व का औसत राष्ट्रीय औसत से काफी कम है, क्योंकि प्रदेश में 70 प्रतिशत तक भूस्वामित्व सीमित है, जबकि 18 प्रतिशत भूस्वामित्व का आकार बेहद छोटा है। हालांकि, प्रदेश के पर्वतीय जिलों में क्षमताओं की कमी नहीं है। प्राकृतिक संसाधनों की प्रचुरता प्रदेश के पर्वतीय जिलों को आकर्षक बनाने के साथ निवेश को बढ़ाने की भी क्षमता रखते हैं।

Figure 4.

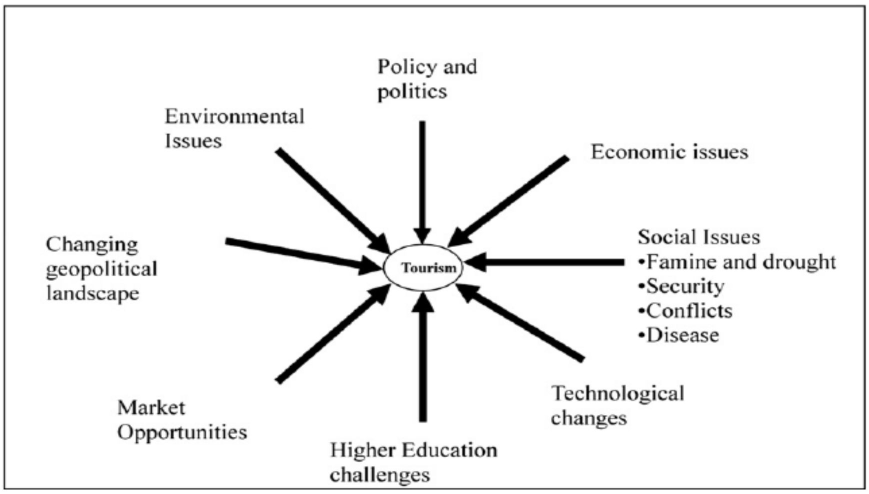

पर्वतीय क्षेत्रों का विकास चुनौतीपूर्ण कार्य है, क्योंकि ये क्षेत्र बेहद नाजुक पारिस्थितिकी वाले इलाके में अवस्थित होते हैं। यद्यपि पर्वतीय क्षेत्रों में बेहतरीन प्राकृतिक नजारे होते हैं, जो दृश्य संसाधन हैं, लेकिन यहां विकास प्रक्रिया पर्यावरणीय पहलू से प्रभावित होती है। यही नहीं, विकास का मुद्दा तब और जटिल बन जाता है, जब पर्वतीय क्षेत्रों में शहरी समुदायों की तादाद लगातार बढ़ने लगती है। ऐसी स्थिति विशेषकर उन पर्वतीय क्षेत्रों में मुश्किलें बढ़ाती है, जो अपने राज्य की राजधानी हों। आबादी में निरंतर वृद्धि से यहां संसाधनों के अनुचित दोहन, वनों के कटान के अलावा भूउपयोग में परिवर्तन, वनस्पति संसाधनों में बदलाव होता है। इन सबका असर भूस्खलन, भूकटाव, बाढ़ के तौर पर सामने आता है जो नैसर्गिक सुंदरता को नुकसान पहुंचाने के साथ कई पर्यावरणीय परेशानियां भी पैदा करती हैं। पर्वतीय क्षेत्रों में विकास प्रक्रिया के दौरान प्राकृतिक संसाधनों को संरक्षित किया जाना बेहद जरूरी है। पर्वतीय क्षेत्रों के मूल निवासियों को जीवनस्तर में सुधार के बेहतर अवसर उपलब्ध कराने के साथ,

वहां की परंपराओं और मूल्यों को संरक्षित रखना भी जरूरी है। दूसरे शब्दों में कहें तो इसे सतत बनाये रखना जरूरी है।

5.2: सतत विकास (Sustainable Development)

सतत विकास की अवधारणा का अर्थ पर्यावरणीय सततता, आर्थिक सततता और सामाजिक सततता से है। पारिस्थितिकी तौर पर संवेदनशील पर्वतीय क्षेत्रों में सतत विकास के लक्ष्य को हासिल करने के लिये नियोजन प्रक्रिया में निम्न उद्देश्यों को ध्यान में रखा जाना आवश्यक है:

- वर्तमान और भावी पीढ़ियों के लाभ को ध्यान में रखते हुये प्राकृतिक संसाधनों तथा नैसर्गिक दृश्य क्षमताओं का संरक्षण किया जाना आवश्यक है
- स्थानीय लोगों को सामाजिक, सांस्थानिक और आर्थिक विकास की सतत प्रक्रिया से जोड़ना
- पर्यटन गतिविधियों का इस तरह विकास करना कि पर्यावरण पर इसका न्यूनतम प्रभाव हो

कृषि व्यवस्था के सतत विकास का मूल लक्ष्य इस सेक्टर में सततता का इस तरह विकास करना है कि यह कृषि पर ही निर्भर आबादी के लिये आजीविका का बेहतर विकल्प बन सके। बेहतर आय के लिये वैकल्पिक कृषि को बढ़ावा दिया जा सकता है। पर्यावरणीय पहलू, ग्रामीण विपणन और बाजार व्यवस्था तथा इनसे जुड़ी समस्याओं की पहचान और इनका निस्तारण करना भी आवश्यक है। सतत विकास की अवधारणा को विभिन्न स्तरों पर लागू किया जाना चाहिये, जिनमें क्षेत्रीय, उपक्षेत्रीय एवं स्थानीय स्तर शामिल हैं। इसे समझने के लिये हमें Regional Divisions of India, Census of India 1971 को ध्यान में रखना होगा, जिसमें देश को तीन प्रमुख क्षेत्रों– Macro, Meso और Micro में बांटकर देखा गया है।

पर्वतीय क्षेत्रों में नियोजन एवं विकास के माध्यम

पर्वतीय क्षेत्रों के विकास और नियोजन के लिये कुछ तरीके अपनाये गये हैं, जिनका संचालन विभिन्न स्तरों पर किया जाता है। उदाहरण के लियेः

- जलागम प्रबंधनः क्षेत्रीय स्तर
- भू उपयोगिता विश्लेषणः क्षेत्रीय एवं व्यवस्थागत स्तर
- वहन क्षमता विश्लेषणः व्यवस्थागत स्तर
- मौसम अनुकूल भवन प्रारूपः व्यवस्थागत एवं भवन निर्माण स्तर

5.2.1: जलागम प्रबंधन एवं विकास (Watershed Management/ Development)

भारत में जलागम प्रबंधन पर लंबे समय से काम किया जा रहा है। यह कृषि मंत्रालय द्वारा संचालित उपक्रम है। IWDP (Integrated Watershed Development Programme) की शुरुआत मृदा, जल एवं वनस्पतियों के संरक्षण के लक्ष्य के साथ हुयी थी। समय के साथ पेयजल, पशुपालन, मानव संसाधन, लैंगिक समानता आदि मुद्दे भी इसमें जुड़ते गये। शिवालिक (सूखो माजरी), अरावली (अलवर), पश्चिमी घाट (रालेगांव सिद्धि) में चले जन अभियानों ने वनों के कटान, जल संचय, ईंधन और चारा जरूरतों तथा जलागम प्रबंधन जैसे मसलों की ओर ध्यान खींचा। The All India Soil and Landuse Survey (AISLUS) ने भारत में जलागमों की विभिन्न स्तरों पर मौजूदगी का प्रारूप तैयार किया है। इनमें जल संसाधन क्षेत्र, जल संचय क्षेत्र, जलागम, सहयोगी जलागम आदि क्षेत्र शामिल हैं। Annexure I for Watershed Atlas को भी देखा जाना चाहिये, जिसमें इन घाटियों

को अक्षरांकीय शब्दावली से प्रस्तुत किया गया है। उपग्रहीय आंकड़ों को इसमें 1:2,50,000 के पैमाने पर निर्धारित किया गया है, जिनमें भूउपयोग, भूमि आवरण, भूगर्भीय, जलविज्ञान आदि शामिल हैं।

5.2.2: भूमि उपयोगिता विश्लेषण (Land Suitability Analysis)

बीते तीन दशकों से यह शोध का विषय रहा है। हालांकि, इन्हें हाल में ही लागू किया जा सका है, जो Geographic Information System (GIS) से संभव हो सका है। इसकी एक वजह स्थानिक आंकड़ों की आवश्यकता और इनके आधार पर विश्लेषण रहा। पश्चिमी देशों में प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण के लिये इस तकनीक का इस्तेमाल किया जाता रहा है। चूंकि इस दृष्टिकोण को क्षेत्रीय और व्यवस्थागत स्तर पर किया जाता है, विभिन्न स्तरों पर नक्शों के इस्तेमाल की जरूरत पड़ती है।

5.2.3: वहन क्षमता विश्लेषण (Carrying Capacity Analysis)

1985 के बाद पर्वतीय क्षेत्रों की वहन क्षमता का विश्लेषण किया जाने लगा। दून घाटी के मामले को देखें तो यहां दून घाटी की नाजुक पारिस्थितिकी के संरक्षण को लेकर पहली जनहित याचिका दायर की गयी थी। इस याचिका में मसूरी में बढ़ती आबादी, पर्यटन दबाव और सतत जल उपलब्धता के सवाल उठाये गये। इस क्षेत्र में किये गये विभिन्न शोधों से यह स्पष्ट हुआ है कि यहां पर्यटन विकास को देखते हुये भवनोपयोगी जमीनों की उपलब्धता, अवस्थापना ढांचे की स्थिति को ध्यान में रखना जरूरी है। हालांकि, इस तकनीक में आंकड़ों के बेहतर अध्ययन की जरूरत भी होती है, क्योंकि इसमें व्यवस्थागत स्तर पर काम किया जाता है।

5.2.4: मौसम अनुकूल भवन प्रारूप (Climate Conscious Building Design)

पर्वतीय क्षेत्रों में सतत विकास की यह सबसे पुरानी तकनीक है। स्थानीय वास्तुकला में भवन निर्माण में मौसम की परिस्थितियों को ध्यान में रखा जाता रहा है। लेकिन, पर्वतीय क्षेत्रों में आधुनिक भवनों के डिजाइन में परंपराओं का ध्यान नहीं रखा जा रहा है, अधिकतर भवन उसी तरह बनाये जाने लगे हैं जैसे मैदानी क्षेत्रों में बनाये जाते हैं। हालांकि, कुछ वास्तुविदों ने मौसम अनुकूल भवन निर्माण को ध्यान में रखना प्रारंभ किया है। पर्वतीय क्षेत्रों में ऊर्जा अनुकूल भवनों का निर्माण किया जा रहा है। इस तरह के निर्माण को बड़े पैमाने पर विस्तार देने की जरूरत है।

5.3: पर्वतीय क्षेत्रों की समस्याएं (Problems in Hilly Areas)

पर्वतीय क्षेत्रों में वनों का कटान और भूमि क्षरण महत्वपूर्ण पर्यावरणीय समस्याएं हैं। इन दोनों के कारण पहाड़ों पर जलस्रोतों के सूखने, अचानक बाढ़, फसलों के उत्पादन में कमी, चारा, ईंधन और अन्य वनोत्पादनों की कमी लगातार बढ़ रही है। पर्वतीय क्षेत्रों में आजीविका के जरूरी संसाधनों का अभाव बड़ी दिक्कत बनकर उभरा है, विशेषकर उन स्थानों में जहां आबादी भूमि उपलब्धता के मुकाबले कहीं अधिक बढ़ गयी है। यद्यपि पलायन भी पर्वतीय क्षेत्रों की समस्या है, लेकिन गांवों में महिलाएं, बच्चे और अक्षम बुजुर्ग ही रह गये हैं, जो भूमि के बेहतर उपयोग के लिये अधिक उचित कदम उठा नहीं पाते। दूसरी ओर, दुर्गम परिस्थितियों में लंबे समय तक कठोर श्रम महिलाओं में स्वास्थ्य समस्याओं की वजह बन रहा है। खेतों के बेहद छोटे आकार, कृषि कार्य से होने वाली नगण्य आय के चलते पर्वतीय समुदाय देश के अन्य समुदायों से काफी पिछड़ा हुआ है। विभिन्न शोधकार्य स्पष्ट करते हैं कि उत्तराखंड की ग्रामीण अर्थव्यवस्था में महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका है। इसकी वजह यही है कि गांवों से पुरुषों के पलायन के कारण महिलाओं पर ही सभी कार्यों की जिम्मेदारी आ जाती है।

यहां यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि पहाड़ों से बड़े पैमाने पर पलायन भी उत्तर प्रदेश से अलग उत्तराखंड राज्य के गठन की अवधारणा की मुख्य वजह थी। लेकिन, यह दिक्कत बीते कुछ वर्षों में उत्तराखंड के लिये भी बड़ी चिंता का विषय बन गयी है। दरअसल, बीते कुछ सालों में प्रदेश के पर्वतीय क्षेत्रों में स्थित गांवों से लोग बेहतर रोजगार, आय और बुनियादी सुविधाओं की तलाश में प्रदेश के शहरी क्षेत्रों की ओर पलायन करने लगे हैं। 2011 की जनगणना के अनुसार उत्तराखंड के कुल 16,793 गांवों में से 1,053 गांवों में अब एक भी व्यक्ति नहीं रह गया है, जबकि 405 गांव ऐसे हैं जहां दस से कम लोग रह रहे हैं। जब भी कोई गांव खाली छोड़ दिया जाता है, वह भूमि और अन्य ऐसे संसाधनों के नुकसान की वजह बन जाता है, जो सामुदायिक विकास के लिये अत्यावश्यक हैं। उत्तराखंड में बीते कुछ वर्षों में आर्थिक विकास तो हुआ है, लेकिन यह प्रदेश के तीन मैदानी जिलों में ही सर्वाधिक नजर आता है। बाकी दस पर्वतीय जिले इनसे काफी पीछे हैं। ऐसे में इन जिलों के लोग आजीविका के लिये मैदानी जिलों की ओर जाने लगे हैं।

दूसरी ओर, पर्वतीय क्षेत्रों में मानव–वन्यजीव संघर्ष भी लगातार बढ़ रहा है। जमीनों के उपयोग में परिवर्तन, वनों के कटान, प्राकृतिक संसाधनों में कमी के कारण पारिस्थितिकी नुकसान के फलस्वरूप यह संघर्ष चिंताजनक होता जा रहा है। वन्यजीवों के संरक्षण के लिये बनीं नीतियों के कारण बीते दो दशकों में प्रदेश में जंगली सुअरों, बंदरों–लंगूरों, साही, हाथियों और अन्य शिकारी वन्यजीवों की संख्या में खासी वृद्धि हुयी है। लेकिन, पर्यावरण और पारिस्थितिकी संरक्षण में कमी से उनके भोजन और अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के पर्याप्त संसाधन उपलब्ध नहीं हैं। यह परिस्थिति ही Human-Wildlife-Conflict (HWC) की वजह बनती है। यह माना जाता है कि मनुष्यों ने प्रदूषण, नुकसानदायक पदार्थों के इस्तेमाल, अंधाधुंध दोहन के कारण वन्यजीवों और पर्यावरण के लिये संकट की स्थिति पैदा की है। ऐसे में वन्यजीव भोजन की तलाश में गांवों में घुस आते हैं और फसलों को नुकसान पहुंचाते हैं। शिकारी जीव ग्रामीणों के पालतू पशुओं को मार डालते हैं और कई बार मानवों पर भी हमले करते हैं। इसे दूसरे अर्थों में यह भी कह सकते हैं कि मानवों और वन्यजीवों के बीच यह संघर्ष बेहद सीमित संसाधनों के उपभोग के लिये बढ़ रहा है।

भारतीय हिमालयी क्षेत्र के पर्वतीय जिलों से लिया गया आंकड़ा बताता है कि इस संघर्ष के कारण लोग फसलों, पशुधन, संपत्ति और कई बार जान तक का नुकसान झेलते हैं। इसके एवज में नुकसान पहुंचाने वाली वन्यजीव प्रजातियों को नुकसान पहुंचाया जाता है और कई बार मार डाला जाता है। ऐसी स्थिति में मानव–वन्यजीव संघर्ष को बढ़ाने वाली परिस्थितियों को समझने की जरूरत है। मौसम अनुकूलता, भू उपयोग, कृषिकार्यों में बदलाव और वन्यजीव प्रबंधन की आवश्यकता है। मौसम परिवर्तन के कारण ठंड की तीव्रता में दर्ज की जा रही कमी ने बीते कुछ दशकों में कुछ वन्यजीव प्रजातियों के लिये अनुकूलन का काम किया है। इसके अलावा सरकार के स्तर पर भी कई वन्यजीव प्रजातियों के संरक्षण का काम किया जा रहा है। सतत विकास की प्रक्रिया में प्राकृतिक पर्यावरण के महत्व को समझा जाने लगा है। हालांकि, यह प्रयास मानव–वन्यजीव संघर्ष में बढ़ोतरी का परिणाम भी हो सकते हैं। दोनों के बीच संतुलन का प्रबंधन आवश्यक है, ताकि सामाजिक–आर्थिक विकास की सुनिश्चितता के साथ प्राकृतिक पर्यावरण को भी बनाये रखा जा सके।

कई पर्वतीय क्षेत्रों में मनुष्यों, पशुओं के बढ़ते दबाव, व्यावसायिक उपयोग के लिये वनों के कटान ने भूमि को खासा नुकसान पहुंचाया है। इसके अलावा वन क्षेत्र में भी खासी कमी दर्ज की गयी है। यही नहीं, भूमि की जल संचय क्षमता और उत्पादन पर भी नकारात्मक असर पड़ा है। इन सब वजहों से पर्वतीय क्षेत्रों की पारिस्थितिकी पर गहरा असर पड़ा है और पर्वतीय क्षेत्रों में रहने वाले लोगों की आर्थिकी पर भी इसका प्रभाव दिखता है। पारंपरिक खेती ने भी वनों को नुकसान पहुंचाया है। इसी तरह पशुओं के चारे की तलाश, विशेषकर भेड़–बकरियों के भोजन की तलाश ने कई पर्वतीय क्षेत्रों में पारिस्थितिकी नुकसान किया है। भवन निर्माण, सड़क–बांध निर्माण, खनन, बड़ी और मध्यम औद्योगिक इकाइयों की स्थापना ने भी पर्यावरणीय समस्याएं बढ़ायी हैं। इन सबके चलते कई पर्वतीय क्षेत्रों में प्राकृतिक जलस्रोत और धाराएं सूख चुकी हैं। इस सबके चलते स्थान विशेष के हिसाब से समस्याओं के निस्तारण के

तरीकों की तलाश करना प्रमुख चुनौती बन गया है, ताकि नुकसान को कम कर बढ़ती आबादी के लिहाज से सतत विकास को सुनिश्चित किया जा सके।

Figure 6.

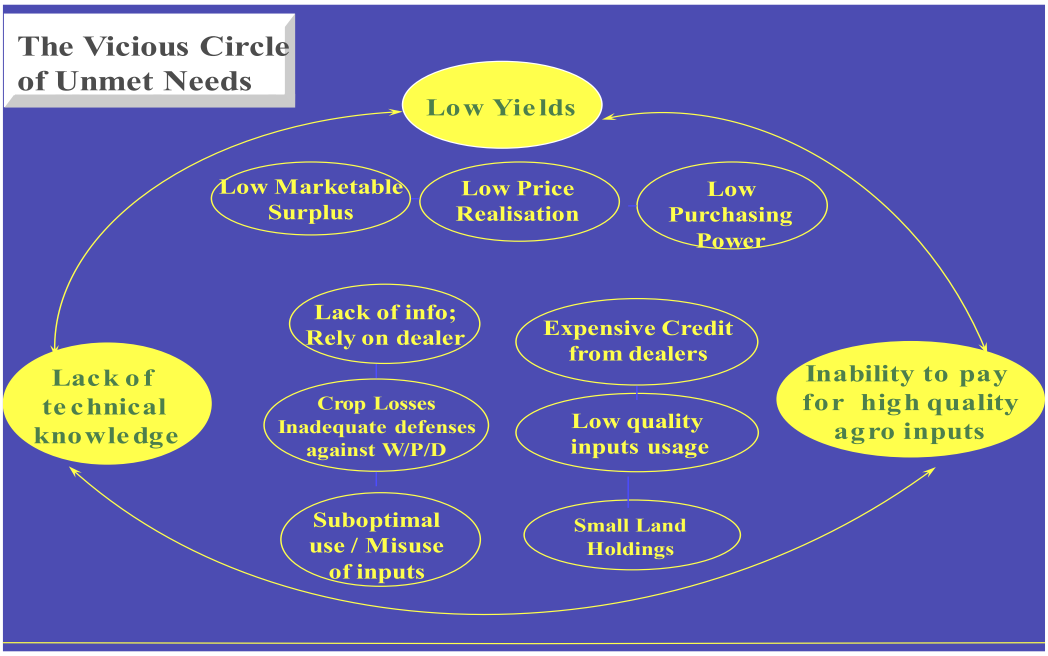

5.4: अनुशंसा (Recommendations)

- भारतीय हिमालयी क्षेत्र के राज्यों को कृषि–औद्यानिकी–वानिकी कौशल और तकनीकी विकास पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है
- इससे प्रति हेक्टेअर, प्रति व्यक्ति उत्पादन में बढ़ोतरी होगी, जो सेवा–सुविधाओं को प्रदान करने की क्षमता में भी वृद्धि करेगा
- उत्पादकों और कौशलयुक्त लोगों की बाजार तक पहुंच बढ़ाना आवश्यक है, ताकि वे अपने उत्पाद का बेहतर लाभ ले सकें, इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये सरकार को संचार, विपणन व्यवस्था, सूचना प्रौद्योगिकी सेवाओं से जुड़े अवस्थापना विकास पर ध्यान देना होगा
- खेतों में दोबारा खेती को बढ़ावा देने के लिये विशेष प्रोत्साहन योजनाओं की आवश्यकता है, जिसके साथ उचित शिक्षा और प्रशिक्षण भी दिया जाना चाहिये

इनके अलावा अन्य सुझावों से भी बेहतर परिणाम हासिल किये जा सकते हैं

- **पर्वतीय संवेदनशीलता (Mountain Sensitization):** पर्वतों को वर्तमान और भविष्य के संसाधनों और अवसरों की राष्ट्रीय संपदा के तौर पर देखा जाना चाहिये। वस्तुतः भारत के उत्तरी और पूर्वी मैदानों में भारी आबादी के चलते भारतीय हिमालयी क्षेत्रों में नियोजन मुश्किल

होता है। ऐसे में यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय नीतियों में पर्वतीय दृष्टिकोण का समावेश आवश्यक है, ताकि देश के बाकी हिस्सों के विकास के लिये लिये जाने वाले फैसले पर्वतीय क्षेत्रों के पर्यावरण, वहां की आबादी और संसाधनों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालें। नियोजनकर्ताओं और नीति निर्माताओं को विशेष तौर पर भारतीय हिमालयी क्षेत्र की नाजुक स्थिति, भंगुरता के प्रति संवेदनशील होना आवश्यक है।

- **शिक्षा एवं कौशल विकास (Education and Skill Development)**: नियोजकों, प्रशासकों, अभियंताओं, सामाजिक विज्ञानियों के लिये पर्वतीय आवश्यकताओं पर आधारित पाठ्यक्रम का निर्माण किया जाना चाहिये जो पर्वतीय पारिस्थितिकी, भूगर्भीय स्थिति और स्थानीय आबादी की सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों पर केन्द्रित हो।
- **Natural Resource Analysis and Advisory Centre (NRAAC)**: विशेष टास्क फोर्स का सुझाव है कि राष्ट्रीय संसाधन विश्लेषण और सुझाव केन्द्र के तौर पर नये संस्थान की स्थापना की जाये। इस संस्थान में भारतीय हिमालयी क्षेत्र पर आधारित समग्र आंकड़े उपलब्ध होने के साथ यह क्षमता भी हो कि वह इन आंकड़ों का विश्लेषण कर नीति निर्माताओं को आवश्यक सुझाव देकर बता सके कि कौन सी गतिविधियां संसाधनों एवं पर्यावरण पर असर डाल सकती हैं। इसके साथ ही वह यह जानकारियां भी दे कि किसी नीति को लागू करने से पूर्व भारतीय हिमालयी क्षेत्र में किन अनिवार्य कदमों को उठाना आवश्यक है।
- **पर्यावरणीय मूल्यांकन (Environmental Assessment)**: मौजूदा परियोजना आधारित पर्यावरण प्रभाव मूल्यांकन (Environmental impact assessment: EIA) के बजाय रणनीतिक पर्यावरणीय मूल्यांकन (Strategic Environmental Assessment:SEA) को लागू किये जाने की जरूरत है।
- **आर्थिक प्रोत्साहन, पुरस्कार एवं छूट (Financial Incentives, Rewasrds and Relaxations)**: केन्द्र प्रायोजित योजनाओं को मानवीय आबादी के बजाय (climate & season67, distance, topography, accessibility) भौगोलिक मानकों के आधार पर लागू किया जाना चाहिये। हाल में इस लिहाज से कई कदम उठाये गये हैं, जिनमें पर्वतीय क्षेत्रों में विभिन्न योजनाओं में नियमों में कुछ छूट दी गयी हैं, उदाहरण के लिये प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना, सर्वशिक्षा अभियान, नेशनल रूरल ड्रिंकिंग वाटर प्रोग्राम (Annexure IV)। जैविक और पारंपरिक उत्पादों के परिवहन के लिये विभिन्न मूल्य नीतियां लागू की जानी चाहिये, जो भारतीय हिमालयी क्षेत्र के ब्रांड को प्रोत्साहित कर सकें। बैंकिंग नियमों में छूट उन क्षेत्रों में भी लोगों को ऋण लेने में सहूलियत देंगी, जहां भूमि अधिकार अब तक तय नहीं किये जा सके हैं या जहां पारंपरिक भूमि स्वामित्व की व्यवस्था चल रही है। ऐसी परिस्थितियों में, विशेषकर उत्तरपूर्वी राज्यों में, सामाजिक पूंजी को ही भूमि स्वामित्व का प्रतिनिधि माना जाना चाहिये।
- **संसाधनों का साझाकरण (Resource Sharing between IHR States)**: भारतीय हिमालयी क्षेत्र के राज्यों के बीच संसाधनों के साझाकरण का आंतरिक तंत्र विकसित करने की जरूरत है। इस तरह की नीतियां बेहतर सामंजस्य की स्थापना में सहायक होंगी।
- **जलमार्ग एवं रज्जूमार्ग (Waterways and Ropeways)**: भारत के तीन घोषित जलमार्गों में से एक ब्रह्मपुत्र नदी पर 891 किलोमीटर लंबा सादिया–धुब्री जलमार्ग भारतीय हिमालयी क्षेत्र में अवस्थित है। परिवहन की बेहतर सुविधा के लिये जलमार्ग के साथ सड़क का भी निर्माण किया जाना चाहिये। इसके अलावा रज्जूमार्ग, पुल और पर्यावरण अनुकूल परिवहन साधनों के विकास की भी जरूरत है। हिमाचल प्रदेश में इस लिहाज से किये गये कार्य अन्य भारतीय हिमालयी क्षेत्र के अन्य राज्यों के लिये अनुकरणीय हो सकते हैं।
- **कचरा प्रबंधन (Waste Management)**: भारतीय हिमालयी क्षेत्र में कचरा प्रबंधन बड़ी चुनौती है। सही तरीके से निस्तारण नहीं किया गया तो यह नदी तंत्र, घाटियों में प्रदूषण का बड़ा कारण बन सकता है। कचरे को जलाना सबसे आसान उपाय है, लेकिन यह वायु प्रदूषण और स्थानीय स्तर पर मौसम के गर्म होने की वजह हो सकता है। टास्क फोर्स ने भारतीय

हिमालयी राज्यों में कचरा प्रबंधन के मुद्दे पर तत्काल ठोस और प्रभावी कदम उठाने की जरूरत जतायी है। इसके लिये राष्ट्रीय स्तर पर संचालित कार्यक्रमों, योजनाओं का लाभ लेने के साथ स्थानीय निकायों को शक्तिसंपन्न बनाने की जरूरत है। निकाय स्तर पर ठोस और द्रव कचरे के प्रबंधन, सामुदायिक जागरूकता अभियानों के संचालन और सामुदायिक स्तर पर भी स्वानुशासन को बढ़ावा देने की आवश्यकता है। मिजोरम जैसे छोटे राज्य ने अपने यहां युवाओं को गारबेज बिन उपलब्ध कराये हैं जो सड़कों के किनारे स्थित बाजारों में रहते हैं और जिनमें जमा होने वाला कचरा हर रोज उठाया जाता है। लेकिन, कचरे के साथ क्या किया जाये, इस जानकारी के अभाव में वे पहाड़ी ढलानों पर कचरा फेंकने के बाद उसे जला देते हैं।

- **त्वरित आपदा राहत एवं शमन (Disaster Preparedness and Mitigation):** यह सबसे अनिवार्य है, क्योंकि मानवीय हस्तक्षेप के बढ़ने से प्राकृतिक नाले–नालियों की व्यवस्था पर असर, फॉल्ट जोन में वृद्धि, मृदाक्षरण, भूस्खलन जैसी समस्याएं उभरी हैं। अस्थायी जोन की पहचान किया जाना आवश्यक है और इन्हें किसी भी तरह की मानवीय गतिविधियों से बचाये रखना जरूरी है। संवेदनशील जोन में निर्माण के नियम लागू करना, नियम तोड़ने पर कड़ी कार्रवाई–जुर्माना तय करना, सभी घरों और व्यावसायिक और कार्यालयी भवनों में वर्षाजल के संचय को अनिवार्य करना चाहिये। सीवेज, ठोस अपशिष्ट प्रबंधन और पेयजल वितरण सप्लाई मास्टर प्लान का बुनियादी हिस्सा होना चाहिये। तीर्थयात्राओं और त्योहारों के दौरान कठोर नियम बनाये जाने चाहिये, पर्यावास की वहन क्षमता की बेहतर जानकारी होना जरूरी है, भूकंप और अग्नि प्रतिरोधी भवनों का निर्माण किया जाना चाहिये, आपात स्थितियों के लिये पर्याप्त खाली स्थान उपलब्ध होना चाहिये। मौसम के पूर्वानुमान के लिये बेहतर चेतावनी तंत्र, त्वरित राहत तंत्र आवश्यक हैं। भारतीय हिमालयी क्षेत्रों में आपदा प्रबंधन सेवाएं प्रदान करने वाले संस्थानों से सलाह और मदद लेने में आर्थिक तौर पर कंजूसी नहीं बरती जानी चाहिये।
- **उद्योग (Industries):** उद्योगों की स्थापना में नियमों के जरिये नियमित निगरानी की आवश्यकता है, ताकि क्षेत्र के नाजुक पर्यावरण का संरक्षण सुनिश्चित रहे। बेहद सीमित दायरे में ही उद्योगों की स्थापना की अनुमति दी जा सकती है, क्योंकि दुर्गम परिस्थितियों के चलते अधिकतर भूभाग इसके लिये उपयोगी नहीं होता। हालांकि, लघु और कुटीर उद्योगों और पर्यटन विकास की क्षमताएं जरूर मौजूद रहती हैं। इनके जरिये स्थानीय कच्चे माल की बेहतर कीमत मिल सकेगी और यह रोजगार का जरिया भी बन सकेंगे।
- **मौसम परिवर्तन (Climate Change):** भारतीय हिमालयी क्षेत्र को धरती के मौसम में गर्मी बढ़ने के रास्ते में बाधा की तरह उभरना चाहिये। इसके लिये पर्यावरण को होने वाले नुकसान के लिहाज से शोधकार्यों को बढ़ावा देने और इन शोधकार्यों के परिणामों के माध्यम से नीति निर्माण करने की आवश्यकता है।
- **नेशनल मिशन फॉर सस्टेनिंग हिमालयन इकोसिस्टम (NMSHE):** राष्ट्रीय एक्शन प्लान के तहत मौसम परिवर्तन के अध्ययन के लिये शुरू किये गये इस कार्यक्रम में हिमालयी क्षेत्र को उच्च वरीयता दी गयी है। इसके जरिये सरकार को यह सुझाव दिया गया है कि हिमालयी क्षेत्र में पारिस्थितिकी संवेदनशीलता को ध्यान में रखा जाये और नीति निर्माण प्रक्रिया में हिमालयी क्षेत्र को विशेष स्थान मिले। चूंकि देश से बाहर के भी कई कारक हिमालयी क्षेत्र को प्रभावित करते हैं ऐसे में दक्षिण एशियाई देशों के साथ बेहतर सामंजस्य और समन्वय बनाने के लिये अच्छी नीति की आवश्यकता है, ताकि इन देशों के साथ मिलकर हिमालयी पारिस्थितिकी पर फोकस किया जा सके।

5.5: सन्दर्भ (References)

- Dewan, M.L. and Bahadur, J. (Eds.) (2005). Uttaranchal: Vision and Action Programme. Concept Publishing Company, New Delhi.
- http://cat.inist.fr/?aModele=afficheN&cpsidt=18068406
- http://cat.inist.fr/?aModele=exportN&cpsidt=18068406

- http://gbpihed.gov.in/PDF/Popular_Lecture/10-Lecture.pdf
- http://gbpihedenvis.nic.in/him_states.htm
- http://ihcap.in/media/Annex/Synthesis%20Report-Kullu/COMMUNITY%20PERCEPTIONS.pdf
- http://repository.ias.ac.in/72901/
- http://spaenvis.nic.in/index1.aspx?lid=1205&mid=1&langid=1&linkid=408
- http://www.iisc.ernet.in/currsci/mar252006/784.pdf
- http://www.indiawaterportal.org/articles/problems-hill-states-and-hill-areas-and-ways-ensure-they-do-not-suffer-any-way-because
- http://www.secheresse.info/spip.php?article6451
- https://www.researchgate.net/profile/Hedi_Indra_Januar/publication/281974846_Will_the_Increasing_of_Anthropogenic_Pressures_Reduce_the_Biopotential_Value_of_Sponges/links/5601039f08aeba1d9f84e9de.pdf?inViewer=true&pdfJsDownload=true&disableCoverPage=true&origin=publication_detail
- https://www.researchgate.net/publication/228805236_Sustainable_development_of_the_Indian_Himalayan_region_Linking_ecological_and_economic_concerns
- https://www.researchgate.net/publication/242547769_Analytical_Framework_for_Equitable_Mountain_Tourism_An_Analytical_Discourse_on_Political_Ecology_of_Mountain_Geography_in
- Malhotra, S.P. (2005). Opportunities, challenges and prospects in agriculture and forestry. In M.L. Dewan and Jagdish Bahadur (Eds.), Uttaranchal: Vision and Action Programme. Concept Publishing Company, New Delhi, pp. 54-66.
- Sekhar, C.S.C. (2007). Viable Entrepreneurial Trade for Women in Agriculture in Utttaranchal. Working Report. Agriculture Economics Research Centre, University of Delhi.
- Zobel, D.B., Singh, S.P. 1997. Himalayan forests and Ecological generalization**. Bio Sci.,** 47(11): 735-745.

इकाई 6 सतत वकास और स्थानीय समुदायों के अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन और ढांचे

International Conventions and Frameworks of Sustainable Development and Local Communities

6.1 परिचय (Introduction)

6.2. सतत विकास का उभार (The Emergence of Sustainable Development)

6.3. स्थानीय समुदाय के लिये पर्यावरण एवं विकास की चुनौतियां (The Challenges of Environment and Development Faced by Local Communities)

6.4. सतत विकास के प्रति रणनीतिक दृष्टिकोण (Strategic Approach to Sustainable Development)

6.5. भारत में सतत विकास (Sustainable Development in India)

6.6. निष्कर्ष (Conclusion)

6.1: परिचय (Introduction)

सतत विकास संयुक्त राष्ट्र के व्यापक लक्ष्यों में शामिल है। सतत विकास की अवधारणा का विकास 1987 में ब्रटलैंड कमीशन रिपोर्ट में हुआ था, जिसमें इसे, 'ऐसा विकास जो वर्तमान की जरूरतों की इस तरह पूर्ति करे कि भावी पीढ़ियों की जरूरतों की पूर्ति में दिक्कतें पेश नहीं आयें', बताया गया। सतत विकास के चार आयाम हैं– समाज, पर्यावरण, संस्कृति और अर्थव्यवस्था, जो परस्पर जुड़े हुये हैं। सततता वस्तुतः एक उदाहरण है, जिसमें माना जाता है कि पर्यावरणीय, सामाजिक, आर्थिक आवश्यकताओं का संतुलन बना रहता है जो जीवन की गुणवत्ता में सुधार करता है। उदाहरण के लिये एक समृद्ध समाज भोजन, स्वच्छ पेयजल, शुद्ध हवा एवं अन्य संसाधनों के लिये स्वस्थ पर्यावरण पर निर्भर करता है।

बीते 30 वर्षों में काफी तेजी से और अभूतपूर्व विकास हुआ है। विकासशील देशों में जीवन प्रत्याशा 20 वर्ष से अधिक बढ़ गयी है। शिशु मृत्युदर करीब आधी हो गयी है, जबकि प्राथमिक स्कूलों में दाखिले दोगुने हो चुके हैं। खाद्य उत्पादन और उपभोग में भी 20 प्रतिशत तक बढ़ोतरी दर्ज की गयी है। आयस्तर, स्वास्थ्य, शैक्षिक अवसरों में भी सुधार आया है, जिसने विकासशील देशों और औद्योगिक देशों के बीच के अंतर को काफी हद तक दूर किया है। शासन में लोकतंत्र और सहभागिता की ओर कदम बढ़ाया गया है, जबकि तकनीक और संचार की दिशा में भी काम हुआ है। संचार के नये तरीके राष्ट्रीय विकास प्रक्रियाओं में परस्पर सहयोग–सामंजस्य को बढ़ाने पर जोर दिया गया है, ताकि वैश्विक चुनौतियों का सामना किया जा सके। 1992 के 'अर्थ समिट' में विभिन्न देश इस बात पर सहमत हुये कि विकास सतत होना चाहिये। यानी देश सकारात्मक आर्थिक एवं सामाजिक लक्ष्यों को प्राप्त करें और इस प्रक्रिया में पर्यावरण को किसी तरह का नुकसान नहीं पहुंचे। इसके साथ ही यह भी सुनिश्चित किया जाना चाहिये कि इन दोनों लक्ष्यों को प्राप्त करने के दौरान यह बिन्दु ध्यान में रहे कि भावी पीढ़ियों के अधिकार और अवसर सुनिश्चित रहें।

6.2: सतत विकास का उभार (Emergence of Sustainable development)

सतत विकास की अवधारणा को अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर औपचारिक पहचान वर्ष 1992 में रियो डी जेनेरियो, ब्राजील में यूनाइटेड नेशन्स कांफ्रेंस ऑन इन्वायर्नमेंट एंड डेवलपमेंट (UNCED) में मिली। हालांकि, इसकी बुनियाद 1950–1960 से ही पड़ गयी थी, जब विकसित देशों में त्वरित औद्योगिक विकास के कारण पर्यावरण को हो रहे नुकसान की चिन्ता और जागरूकता उभरी। 1952–53 में लंदन में धुंध (London Smog) की घटना ने प्रदूषण के खतरों को स्पष्ट किया। रशेल कार्सन ने 1962 में अपनी पुस्तक 'साइलेंट स्प्रिंग' में औद्योगिक गतिविधियों के नकारात्मक प्रभावों की ओर लोगों का ध्यान खींचा। यूनाइटेड किंगडम और यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ अमेरिका के बाहर अन्य विकसित क्षेत्रों में भी इसी तरह की पर्यावरणीय जागरूकता इसी दौर में उभर रही थी। जापान में मिनामाता रोग (मिनामाता शहर में मरकरी की वजह से फैला रोग) ने भारी औद्योगिक विकास के खतरनाक पहलू को सामने रखा। लगातार सामने आ रही समस्याओं और जनता की परेशानियों को ध्यान में रखते हुये अमेरिका में एक

जनवरी 1970 को कांग्रेस ने विशेष कानून नेशनल इन्वायर्नमेंट पॉलिसी एक्ट (NEPA) लागू किया। नेपा का लक्ष्य संघीय शासन–प्रशासन को पर्यावरणीय प्रभावों और कार्यों के प्रति जिम्मेदार बनाना था। अब तक दुनियाभर के सौ से अधिक देशों में पर्यावरणीय प्रभावों के मूल्यांकन के लिये इसी तरह की व्यवस्था और प्रक्रिया अपनायी जा चुकी है। इसके करीब 20 साल बाद सतत विकास की ब्रटलैंड अवधारणा में भी पर्यावरण और विकास में संतुलन पर जोर दिया गया।

स्टॉकहोम कान्फ्रेंस (Stockholm Conference, 1972)

औद्योगिक राष्ट्रों में सामने आयी पर्यावरणीय दिक्कतों और इस पहलू के उभरने पर कि ये समस्याएं देशों की सीमाओं के भीतर ही सीमित नहीं हैं, संयुक्त राष्ट्र ने 1972 में स्टॉकहोम में मानवीय पर्यावरण पर सम्मेलन का आयोजन किया। सम्मेलन में पारिस्थितिकी एकीकरण, जैविक जैवविविधता, मानव स्वास्थ्य और विकास के लिये पारिस्थितिकी एवं संसाधनों की सीमा जैसे मुद्दों को प्रमुखता से रखा गया। सम्मेलन में जहरीले पदार्थों की वजह से सामने आ रही समस्याओं पर विमर्श किया गया, लेकिन इस चिंतन का लक्ष्य 70 के दशक में सिर्फ राष्ट्रीय स्तर की नीतियों और प्रावधानों पर ही रहा। 70 के दशक के अंत तक ओजोन परत को नुकसान और ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन से उभरी दिक्कतों को लेकर अंतर्राष्ट्रीय सामुदायिक विमर्श प्रारंभ हुआ। 1980 तक ओजोन परत को नुकसान से बचाने के लिये और 1990 तक वैश्विक जलवायु परिवर्तन को लेकर कदम बढ़ाने की शुरुआत हुयी।

स्टॉकहोम सम्मेलन को दो महत्वपूर्ण बिन्दुओं के लिये जाना जाता है। पहला यह कि इसने सभी देशों में राष्ट्रीय पर्यावरण नीतियों के अनिवार्य रूप से निर्माण की जरूरत जतायी और दूसरा यह कि इस सम्मेलन के जरिये वैश्विक समुदाय को सतत जीवन में स्वस्थ जैवविविधता के महत्व व पोषक भूमिका के बारे में जानकारी दी गयी और पर्यावरण के लिये इनके संरक्षण की जरूरत जतायी गयी। स्टॉकहोम सम्मेलन ही यूनाइटेड नेशन्स इन्वायर्नमेंट प्रोग्राम (UNEP) की स्थापना की बुनियाद बना, जिसने संयुक्त राष्ट्र को स्टॉकहोम एक्शन प्लान के सुझावों को लागू करवाने और समन्वय के लिये सांस्थानिक क्षमता प्रदान की। यद्यपि स्टॉकहोम सम्मेलन और इसके सुझावों ने पर्यावरण की दिशा में चिंतन को और बढ़ाया, लेकिन कई विशेषज्ञ मानते हैं कि सम्मेलन से पूर्व की गयी विवेचनाओं और विभिन्न लेखों, साहित्य के जरिये प्रस्तुत की गयी इसकी उत्प्रेरक की भूमिका ने इसे और प्रभावशाली बनाया, जिसके जरिये प्राकृतिक पर्यावरण को लेकर वैश्विक जागरूकता बढ़ी।

विश्व संरक्षण रणनीति (World Conservation Strategy 1980)

इंटरनेशनल यूनियन फॉर कन्जर्वेशन ऑफ नेचर एंड नेचुरल रिसोर्सेज (IUCN, 1980) और वर्ल्ड कन्जर्वेशन स्ट्रेटेजी (WCS) को सतत विकास की बुनियाद माना जाता है। WCS विकास प्रक्रिया में पर्यावरण संरक्षण को लेकर दशकों तक चले वैश्विक, सामुदायिक विमर्श का संकलन है। WCS में विकास को समझाने के लिये सतत शब्द का प्रयोग किया गया, जिसका अर्थ सजीव व निर्जीव संसाधनों के आधार के सामाजिक, आर्थिक, पारिस्थितिक कारकों तथा वैकल्पिक क्रियाओं के लाभ–हानि के जरिये विकास को तय करना था। WCS का सुझाव था कि आर्थिक और सामाजिक विकास को एकसाथ होना चाहिये, ताकि सजीव संसाधनों का संरक्षण और सतत विकास हो सके। हालांकि, WCS विकास और पर्यावरण की चिंताओं को पूरी तरह एकीकृत नहीं कर सका, लेकिन इसकी सतत विकास अवधारणा ने वर्ल्ड कमीशन ऑफ इन्वायर्नमेंट एंड डेवलपमेंट (WCED) की रिपोर्ट तैयार करने में मदद की, जिसके जरिये 1992 की यूएन कान्फ्रेंस में भविष्य के मुद्दों को समझने और एकीकृत करने का विचार उभरकर आया।

नैरोबी बैठक (Nairobi Meeting 1982)

स्टॉकहोम सम्मेलन के दस साल बाद संयुक्त राष्ट्र ने नैरोबी में बैठक की, जिसमें स्टॉकहोम एक्शन प्लान की प्रगति और UNEP के लिये पर्यावरणीय मसलों पर भावी सुझाव दिये गये। सम्मेलन से पहले यूएनईपी की ओर से तैयार की गयीं रिपोर्ट और नैरोबी घोषणाओं से यह स्पष्ट संदेश दिया गया कि कई राष्ट्रों में पर्यावरण संरक्षण की दिशा में बेहतर काम हुआ है, लेकिन यह कार्य पर्यावरण को अब तक हो चुके नुकसान को वापस लौटा पाने में सक्षम नहीं थे। नैरोबी बैठक में विकासशील देशों में स्वास्थ्य, जनकल्याण और पर्यावरण संरक्षण में आर्थिक विकास की भूमिका को भी उभारा गया। इसकी वजह यह थी कि पर्यावरणीय समस्याएं विकासशील देशों के लिये चुनौती बने हुये थे। निर्धनता को पर्यावरणीय नुकसान का अहम कारक मानते हुये आर्थिक विकास को महत्वपूर्ण माना गया, क्योंकि यह तर्क दिया गया कि निर्धनता उन्मूलन का एकमात्र माध्यम यही है। लेकिन आर्थिक विकास का एकमात्र रास्ता पारंपरिक विकास का था। यानी ऐसी तकनीकों पर निर्भरता, जो गैर नवीकरणीय संसाधनों पर आधारित हों और जिनके कारण मानव स्वास्थ्य व पारिस्थितिकी को नुकसान पहुंचाने वाला प्रदूषण उत्पन्न होता है। स्पष्ट था कि यह विकासशील देशों के लिहाज से विरोधाभासी था। इसी विरोधाभास के कारण विकास और पर्यावरण संरक्षण के एकीकरण की आवश्यकता महसूस हुयी।

पर्यावरण और विकास पर विश्व आयोग (The World Commission on Environment and Development)

इस बिन्दु को ध्यान में रखते हुये कि दुनियाभर में पर्यावरणीय परिस्थितियों में लगातार नुकसान हो रहा है, जबकि आबादी और आर्थिक विकास लगातार बढ़ रहे हैं, संयुक्त राष्ट्र महासभा ने पर्यावरण के मुद्दे पर विशेष और स्वतंत्र आयोग गठित किया। इसका मकसद सतत विकास के लिये दीर्घकालिक पर्यावरणीय रणनीति तैयार करने के साथ विकसित और विकासशील देशों, लोगों, संसाधनों, पर्यावरण और विकास में अंतर्संबंध स्थापित करना था। संक्षेप में कहें तो आयोग का लक्ष्य विकास की नयी दृष्टि को विकसित करना था। इसके कुछ समय बाद ही नॉर्वे के पूर्व प्रधानमंत्री ग्रो हार्लम ब्रंटलैंड की अध्यक्षता में वर्ल्ड कमीशन ऑन इन्वायर्नमेंट एंड डेवलपमेंट (WCED, जिसे ब्रंटलैंड कमीशन के नाम से भी जाना जाता है) का भी गठन किया गया, जिसकी पहली बैठक अक्टूबर 1984 में स्विट्जरलैंड के जेनेवा में हुयी। 1984 से 1987 के बीच ने दुनियाभर से हजारों लोगों, संस्थाओं और संगठनों से सुझाव, परामर्श, समर्थन हासिल किया। कमीशन ने पर्यावरण और विकास के मुद्दों पर प्रत्यक्ष अनुभव के लिये दुनिया के कई हिस्सों की यात्रा की। 11 दिसंबर 1987 को आयोग के 'वर्ष 2000 और भविष्य के लिये पर्यावरण दृष्टिकोण' को संयुक्त राष्ट्र महासभा ने अवधारित किया, इसी साल 'Our Common Future' नाम से आयोग की रिपोर्ट भी प्रकाशित हुयी। सतत विकास के मसले पर करीब एक दशक तक बहस, विमर्श को बढ़ावा देते हुये ब्रंटलैंड ने पर्यावरणीय सुरक्षा के साथ सामाजिक और आर्थिक विकास को प्रभावी रूप से एकीकृत करने की दिशा में प्रयास किये। इन तत्वों को एकसाथ रखते हुये आयोग ने जो संरचना स्पष्ट की, उसे सतत विकास की सबसे प्रभावी परिभाषा माना जाता है। ब्रंटलैंड आयोग ने सतत विकास को माध्यम से अधिक नीतिपरक तत्व मानते हुये इसके लिये उच्च राजनीतिक कार्यवृत्त के तौर पर रखा। 'Our Common Future' रिपोर्ट उस वक्त आयी थी, जब राजनीतिक परिदृश्य इस रिपोर्ट में उठाये गये मसलों को लेकर अधिक ग्राही बन रहा था। औद्योगिक देश आर्थिक विकास के लिहाज से इसे सकारात्मक रूप में देख रहे थे, जबकि वैश्विक पारिस्थितिकी में तनाव और नुकसान के संकेत भी नजर आने लगे थे। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर समुदायों में यह जानने की ललक थी कि पारिस्थितिकी पर से दबाव घटाने के साथ आर्थिक विकास कैसे किया जाये। कमीशन के विज्ञान

और तकनीकी सुझावों के साथ मानवीय जरूरतों और पर्यावरणीय समस्याओं का समाधान संभव था। आर्थिक विकास में तकनीकी सुधारों और प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण को प्रोत्साहन देते हुये कमीशन ने विकसित और विकासशील दोनों देशों का समर्थन हासिल किया। विकास कार्यों में तकनीक और विज्ञान को स्पष्ट रूप से मिश्रित कर ब्रंटलैंड कमीशन ने आर्थिक विकास के ऐसे नये दौर का विकास किया, जो पर्यावरणीय मानकों को लेकर सजग था।

रियो समिट 1992 (The Rio Summit: 1992)

विश्व के साझा भविष्य की चिंताओं के साथ संयुक्त राष्ट्र महासभा ने वर्ष 1992 में ब्राजील के रियो डि जेनेरियो में यूनाइटेड नेशन्स कांफ्रेंस ऑन इन्वायर्नमेंट एंड डेवलपमेंट का आयोजन किया, जिसे रियो समिट के नाम से भी जाना जाता है। कांफ्रेंस में 178 देशों के प्रतिनिधि शामिल हुये, जिनमें 110 देशों के राष्ट्रप्रमुख भी थे। इस लिहाज से यह अपनी तरह का पहला सम्मेलन था। सम्मेलन ने सतत विकास के विचार को आकार देने के लिये केन्द्रीय भूमिका के तौर पर दो अधिकृत अवधारणाएं– पर्यावरण एवं विकास की रियो घोषणा और एजेंडा 21 दी। रियो घोषणा में जहां सतत विकास की दृष्टि विकसित की, वहीं एजेंडा 21 ने इस लक्ष्य को पाने के लिये संयुक्त राष्ट्र, विभिन्न सरकारों, प्रमुख समूहों में समन्वय, संयुक्त एकीकृत योजना और कार्यशैली के तरीकों की जानकारी दी गयी। सम्मेलन में जलवायु परिवर्तन, जलवायु संबंधी नीतियों को लेकर अंतर्राष्ट्रीय कार्यढांचा और कानून भी तय किये गये। ब्रंटलैंड कमीशन की अवधारणाओं को आगे बढ़ाते हुये रियो घोषणा और एजेंडा 21 ने विकास के पुराने दृष्टिकोण को समाप्त करने के बजाय उन्हें पुनर्निर्धारित करने पर जोर दिया।

Table 1 Different conventions and conferences on a variety of issues concerned with sustainable development

Issue	Event	Place	Date	Website
Biodiversity	Convention on Biological Diversity (CBD)	Nairobi	22 May 1992	www.biodiv.org
Climate	United Nations Framework Convention on Climate Change (UNFCC)	New York	9 May 1992	www.unfcc.de/
Desertification	United Nations Convention to Combat Desertification in those Countries Experiencing Serious Drought and/or Desertification, Particularly in Africa (CCD)	Paris	17 June 1994	www.uncod.de/
Endangered species	Convention on International Trade in Endangered Species of Wild Fauna and Flora (CITES)	Washington	3 March 1973	www.wcmc.org.uk/cites/
Hazardous waste	Basel Convention on the Transboundary Movements of Hazardous Wastes and their Disposal (Basel)	Basel	22 March 1989	www.unep.ch/basel/index/html
Heritage	Convention Concerning the Protection of the World Cultural and Natural Heritage		23 November 1927	www.unesco.org/whc
Migratory species	Convention on the Conservation of Migratory Species of Wild Animals (CMS)	Bonn	23 June 1979	www.wcmc.org.uk.cms

Ozone	Vienna Convention for the Protection of the Ozone Layer	Vienna	22 March 1985	
	Montreal Protocol on Substances that Deplete the Ozone Layer	Montreal	16 September 1987	www.unep.org.org/ozone/
Sea	United Nations Convention on the Law of the Sea (UNCLOS)	Montego Bay	10 December 1982	www.un.org/depts/los/losconv1.htm
Wetlands	Convention on Wetlands of International Importance especially as Waterfowl Habitat (Ramsar Convention)	Ramsar	2 February 1971	www.ramsar.org/

1990 से पूर्व अंतर्राष्ट्रीय समुदाय द्वारा प्रोत्साहित पारंपरिक विकास मॉडल में चार विषय समाविष्ट थे– 1. सुरक्षा और शांति, 2. आर्थिक विकास, 3. सामाजिक विकास और 4. शांति और विकास की रक्षा करने वाला राष्ट्रीय शासन (Dernbach 1998, 2004). ब्रंटलैंड कमीशन और रियो समिट ने पारंपरिक विकास मॉडल को पर्यावरणीय चिंताओं के साथ जोड़ने पर जोर दिया। रियो घोषणा के सिद्धांत 3 और 4 में इस लक्ष्य की जानकारी दी गयी है। **सिद्धांत 3:** विकास का अधिकार की पूर्ति वर्तमान और भविष्य के विकास और पर्यावरणीय जरूरतों के लिहाज से की जानी चाहिये। **सिद्धांत 4:** सतत विकास का लक्ष्य हासिल करने के लिये पर्यावरणीय संरक्षा को विकास प्रक्रियाओं के साथ एकीकृत किया जाना चाहिये। रियो घोषणा के सिद्धांत 15 और 16 में संरक्षण और प्रदूषण फैलाने वाले बिंदुओं की जानकारी दी गयी है, जो सतत विकास नीतियों और कार्यक्रमों के मानक बिन्दु बन गये हैं। रियो घोषणा और एजेंडा 21 को सतत विकास की बुनियाद माना जाता है। सतत विकास को लेकर दो अन्य अहम दस्तावेज अर्थ चार्टर (अर्थ काउंसिल द्वारा प्रतिपादित) और यूएन मिलेनियम डिक्लेयरेशन हैं, जिनका प्रकाशन वर्ष 2000 में हुआ था। अर्थ समिट के अलावा 1990 में सतत विकास और इससे जुड़ी चुनौतियों को लेकर विभिन्न सम्मेलनों का आयोजन किया गया। (देखें Table 1)

जोहान्सबर्ग समिट 2002 (The 2002 Johannesburg Summit)

रियो समिट के बाद से हुयी प्रगति की समीक्षा के लिये वर्ष 2002 में जोहान्सबर्ग समिट आयोजित की गयी। रियो समिट के दस साल बाद दुनिया ने आर्थिक विकास के नये चरण का अनुभव किया, जो ऐसे विकास, उपभोग और जीवनशैली पर आधारित थे जो समृद्ध और गरीब देशों के बीच की खाई को पाटने का काम करे। जोहान्सबर्ग घोषणा में कहा गया, 'बाजारों के त्वरित एकीकरण, पूंजी की गतिशीलता और निवेश का बहाव दुनियाभर में बना रहता है जो सतत विकास की नयी चुनौतियों और अवसर खुलने की वजह बनता है।' सतत विकास के प्रति दृढ़निश्चय को बनाये रखने के लिये जोहान्सबर्ग ने विशेष रूप से विकसित देशों के लिये व्यापक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर सहमति बनाकर काम करने पर जोर दिया। जोहान्सबर्ग समिट के बाद अंतर्राष्ट्रीय समुदाय ने वैश्विक जलवायु परिवर्तन पर चिंता प्रारंभ की। वर्ष 2007 में नोबल पुरस्कार (शांति) प्राप्त अल गोर की डॉक्यूमेंट्री An Inconvenient Truth डॉक्यूमेंट्री के बाद विभिन्न सरकारों द्वारा जलवायु परिवर्तन पर संयुक्त पैनलों का गठन किया गया, जिसस वैश्विक रूप से जागरूकता में बढ़ावा आया। इसी तरह 30 अक्टूबर 2006 को यूनाइटेड किंगडम ट्रेजरी ने Stern Review on the Economics of Climate Change का प्रकाशन किया। हालांकि, जलवायु परिवर्तन के आर्थिक विश्लेषण पर यह पहली रिपोर्ट नहीं थी, लेकिन इसे अपनी तरह की सर्वाधिक चर्चित और विस्तृत माना जाता है। वर्तमान में पर्यावरणीय चिंता के रूप में जलवायु परिवर्तन पर सर्वाधिक ध्यान देने का अर्थ यह है कि अन्य महत्वपूर्ण पर्यावरणीय और मानवीय स्वास्थ्य पहलुओं पर फोकस कम हो सकता है।

2012 यूनाइटेड नेशन्स कांफ्रेंस (The 2012 UN Conference on Sustainable Development)

रियो समिट के 20 साल बाद सतत विकास पर संयुक्त राष्ट्र का यह सम्मेलन रियो डि जेनेरियो में वर्ष 2012 में आयोजित हुआ, जिसे रियो+20 के नाम से भी जाना जाता है। सम्मेलन का प्रथम लक्ष्य सतत विकास को लेकर अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के प्रयासों को पुनर्जीवित करना था। 50 हजार के करीब नीति निर्माताओं, पर्यावरणविदों और कारोबारियों ने सम्मेलन में प्रतिभाग किया, लेकिन एकल समन्वित कार्यढांचे पर सहमति नहीं बन पाने के कारण कई विशेषज्ञ इस सम्मेलन को विफल मानते हैं। हालांकि, इस सम्मेलन का एक सबसे बेहतर निष्कर्ष सतत विकास को आगे बढ़ाने के लिये लचीले तंत्र के तौर पर 'ग्रीन इकोनॉमी' का समर्थन था। सम्मेलन ने नीति निर्माताओं को 1992 रियो समिट में तय हुयी घोषणाओं की पुनः जानकारी देने और अब तक हुये कार्यों की समीक्षा का अवसर दिया। एक बार फिर यह स्पष्ट किया गया कि आर्थिक विकास का अर्थ पर्यावरण को नुकसान नहीं होना चाहिये।

यूनाइटेड नेषन्स एसडी समिट 2015 (UN Sustainable Development Summit 2015)

न्यू यॉर्क स्थित संयुक्त राष्ट्र मुख्यालयय में सतत विकास के मसले पर 25 सितंबर 2015 को संपन्न तीन दिवसीय सम्मेलन में 193 सदस्य देशों द्वारा वर्ष 2030 तक निर्धनता उन्मूलन का वैश्विक एजेंडा अवधारित किया गया। 17 बुनियादी लक्ष्यों के साथ नये ऐतिहासिक सतत विकास एजेंडा ने राष्ट्रीय कार्यनीतियों और अंतर्राष्ट्रीय समन्वय के नये युग का प्रारंभ किया। 150 से अधिक वैश्विक नेताओं से सम्मेलन को संबोधित किया और सतत विकास लक्ष्यों को सहस्राब्दी विकास लक्ष्यों (Millennium Development Goals: MDG) के तौर पर विस्तार दिया गया। इन लक्ष्यों को वर्ष 2000 में स्वीकृति मिली थी, लेकिन वर्ष 2015 तक इनकी समयसीमा समाप्त हो चुकी थी, ऐसे में वर्ष 2015 से नये विकास एजेंडा को मंजूरी दी गयी, जिसके लिये वर्ष 2012 की रियो+20 सम्मेलन में सहमति बनी थी। इस लक्ष्य को "Transforming our World: The 2030 Agenda for Sustainable Development" नाम दिया गया, जिसमें 17 सतत विकास लक्ष्यों के साथ कुल 169 उद्देश्य निर्धारित हैं। इन लक्ष्यों का कार्यक्षेत्र विस्तृत है, क्योंकि ये सतत विकास से जुड़े अहम बिंदुओं– आर्थिक विकास, सामाजिक समन्वय, पर्यावरण संरक्षण आदि पर केन्द्रित हैं। इनके अलावा निर्धनता उन्मूलन, असमानता और अन्याय से संघर्ष और जलवायु परिवर्तन जैसे मसलों पर भी ध्यान केन्द्रित किया गया है।

6.3 स्थानीय समुदाय के लिये पर्यावरण एवं विकास की चुनौतियां (The Challenges of Environment and Development Faced by Local Communities)

उल्लेखनीय प्रगति के बावजूद कई बाधाएं और नकारात्मक पहलू भी सामने आते हैं। नकारात्मक पहलू (जटिल, गतिशील और संवाद में कठिन) चुनौतियों की एक विस्तृत श्रृंखला को सामने लाते हैं जो सभी देशों में राष्ट्रीय विकास (भले ही वहां आर्थिक विकास की दर कुछ भी हो) को प्रभावित करते हैं।

प्रवृत्तियां और मुख्य चुनौतियां (Trends and Manor Challenges)

नियमित वैश्विक मूल्यांकनों के जरिये कई ऐसी चुनौतियों और नकारात्मक प्रवृत्तियों को स्पष्ट किया गया है, जिनसे पार पाना बेहद जरूरी है। विभिन्न रिपोर्टों में सतत विकास के लक्ष्य में दबाव बढ़ाने वाली और परस्पर संबंधित चुनौतियों की जानकारी दी गयी है।

- **आर्थिक असमानता और राजनीतिक अस्थायित्वः** बीते 20 सालों में अधिकतर देशों का आर्थिक विकास मजबूती से हुआ है, लेकिन कई देश अब भी ऐसे हैं जहां आर्थिक हानि और प्रति व्यक्ति आय में कमी आयी है। समृद्ध और निर्धन देशों के बीच आय और उनके द्वारा संचालित की जाने वाली मल्टीनेशनल कंपनियों की संख्या की यह असमानता निरंतर बढ़ती जाती है। इसका अर्थ यह है कि दुनियाभर की बड़ी आबादी, देशों और कॉरपोरेट्स, वैश्विक अर्थव्यवस्था व प्राकृतिक संसाधनों का नियंत्रण दुनिया के बहुत कम प्रतिशत लोगों द्वारा किया जाता है। यह पारंपरिक और अल्पसंख्यक वर्ग को शासन और आर्थिक अवसरों की उपलब्धता से उपेक्षित करने के साथ अस्थायित्व को बढ़ावा देता है। राजनीतिक अस्थायित्व कई बार विभिन्न देशों में हिंसक अंतर्विरोध की वजह बनता है जो सामाजिक–आर्थिक विकास की राह में बाधा बनता है।

- **अत्यन्त निर्धनताः** समृद्धि के इस दौर में भी विकासशील दुनिया में प्रति पांच में से एक व्यक्ति अत्यन्त निर्धनता से जूझ रहा है। वर्ष 1993 में 1.3 अरब से अधिक लोग प्रतिदिन एक डॉलर से भी कम पर जीवनयापन कर रहे थे। निर्धनता के सांथ जुड़ी कई सामाजिक समस्याएं भी कई देशों में लगातार बढ़ी हैं। इनमें रोगों की वृद्धि, परिवारों का वियोजन, स्थानिक अपराध और नशे–मादक द्रव्यों का बढ़ता प्रचलन शामिल हैं।

- **कुपोषणः** समग्र मानवीय पोषण के लिहाज से वर्तमान में वैश्विक खाद्य उत्पादन उपयुक्त नहीं है, लेकिन आर्थिक संसाधनों और भोजन के वितरण से जुड़ी समस्याओं का तात्पर्य यह है कि 8. करोड़ लोग कुपोषण का शिकार हैं। यद्यपि वैश्विक खाद्योत्पादन में बढ़ोतरी हो रही है, लेकिन विश्व आबादी को पर्याप्त भोजन उपलब्ध कराने में अब भी कई चुनौतियां बनी हुयी हैं। कई महत्वपूर्ण फसलों की उपज दर में गिरावट आ रही है। मिट्टी का क्षरण और अपमानक होना, सिंचाई का अभाव कृषि भूमि को नुकसान पहुंचाता है जिसने कई क्षेत्रों में फसलों को खतरे में डाल दिया है। सामान्य शब्दों में कहें तो संसाधनों की पर्याप्त क्षमता और कम प्रदूषणकारी कृषि माध्यमों को अपनाये बिना वैश्विक खाद्य आवश्यकताओं की पूर्ति कर पाना असंभव है। इसके लिये पर्यावरणीय बोझ को कम करना और सघन कृषिकार्य की आवश्यकता है।

- **बीमारियांः** एचआईवी–एड्स और मलेरिया ऐसी दो बीमारियां हैं जो वैश्विक चुनौती बनी हुयी हैं। एचआईवी शिशु और मातृ मृत्युदर में बढ़ावे की बड़ी वजह बनता जा रहा है। दूसरी ओर, दुनियाभर में प्रतिवर्ष 50 करोड़ के करीब लोग प्रतिवर्ष मलेरिया का शिकार होते हैं, जिनमें से करीब दस लाख की मौत भी हो जाती है।

- **उपेक्षाः** कई देश धीमे आर्थिक विकास, भारी उधारी के बोझ, हिंसक अंतर्विरोध और खाद्य असुरक्षा के दबाव के चलते संघर्षरत हैं। इन देशों की अधिकतर आबादी सामाजिक सेवाओं, भोजन सप्लाई और अवस्थापना ढांचे की सुविधाओं से कहीं दूर हैं। अपनी आर्थिक संपत्तियों के विकास की उन लोगों की क्षमता भी प्राकृतिक संसाधनों तक पहुंच के अभाव में खत्म होती जा रही है। ऐसे में कुछ आर्थिक पलायनवादी बन जाते हैं तो कुछ शरणार्थी जीवन जीने लगते हैं। इसके परिणामस्वरूप निर्धन देश और निर्धन लोग वैश्विक अर्थव्यवस्था की प्रक्रिया में निरंतर उपेक्षित बने रहते हैं।

- **जनसंख्या वृद्धिः** जनसंख्या में निरंतर बढ़ोतरी उपरोक्त सभी दबावों को और अधिक बढ़ाने का काम करती है। यहां लोगों की संख्या से अधिक महत्वपूर्ण तथ्य संसाधनों पर उनका सघन दबाव और उपभोग है। वैश्विक आबादी अब छह अरब तक पहुंच चुकी है, जो कुछ वर्ष पहले

जनसंख्या को लेकर लगाये गये अनुमान से कुछ धीमी रफ्तार जरूर है, लेकिन इसके अब भी लगातार बढ़ने की ही संभावना है।

- **उपभोगः** प्रति व्यक्ति आय के लिहाज से पिछड़े देशों के मुकाबले विकसित अर्थव्यवस्थाओं में उच्च उपभोग की बढ़ती मांग पर्यावरण पर अधिक प्रभाव डाल सकती है। आधुनिक औद्योगिक अर्थव्यवस्थाओं के प्राकृतिक संसाधनों के उपभोग का स्तर लगातार बढ़ रहा है। यदि सभी तत्वों (मिट्टी क्षरण, खनन अपशिष्ट और अन्य सहायक तत्वों) के लिहाज से देखा जाये तो आंकड़ों के लिहाज से यह प्रतिवर्ष 45 से 85 टन प्रति व्यक्ति पहुंच चुका है। यह आकार स्पष्ट करता है कि कितने बड़े पैमाने पर पर्यावरण को नुकसान पहुंच रहा है। यहां यह भी ध्यान देना जरूरी है कि यदि विकासशील देशों में भी संसाधनों का इसी तरह उपयोग–उपभोग प्रारंभ हो जाये तो यह वैश्विक संसाधनों पर असीमित पर्यावरणीय दबाव बढ़ा देगा।

- **वैश्विक ऊजा उपयोगः** वर्ष 1971 से अब तक वैश्विक ऊर्जा उपयोग में 90 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुयी है। हालांकि, अब भी दो अरब लोग जीवाश्म ईंधन आधारित अर्थव्यवस्था से जुड़ नहीं सके हैं। यद्यपि इसकी बढ़ोतरी का अर्थ यह है कि अधिक लोग ऊर्जा सेवाओं से जुड़ पायेंगे, लेकिन इसका नकारात्मक पहलू यह है कि इसके कारण ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन के मौजूदा स्तर में 50 प्रतिशत तक वृद्धि होगी। ऐसे में ऊर्जा दक्षता को बढ़ाने के साथ जीवाश्म ईंधन पर निर्भरता को कम करने की जरूरत है। हालांकि, हवा, सौर, जियोथर्मल, जलविद्युत और अन्य नवीकृत ऊर्जास्रोतों की दिशा में उल्लेखनीय विकास और तकनीकी उन्नति हुयी है, लेकिन जीवाश्म ईंधन की कम लागत अब भी बड़े पैमाने पर लोगों को नये ऊर्जास्रोतों से जुड़ने की राह में बाधा बनी हुयी है।

- **जलवायु परिवर्तनः** 90 के दशक के अंत में कार्बन डाई ऑक्साइड का उत्सर्जन 1950 के मुकाबले लगभग चार गुना बढ़ गया था। यह बढ़ोतरी 160,000 साल में सर्वाधिक थी। जलवायु परिवर्तन पर गठित अंतरसरकारी पैनल के अनुसार आंकड़े स्पष्ट करते हैं कि जलवायु परिवर्तन के लिये मानवीय गतिविधियां ही जिम्मेदार हैं। मौसमचक्र में परिवर्तन, पारिस्थितिकीय उत्पादन और प्रजातियों की संरचना में बदलाव और चरम मौसमी घटनाएं इसका परिणाम हैं। यह सीधे तौर पर मानव स्वास्थ्य और प्राकृतिक संसाधनों प्रबंधन, कृषि, वानिकी एवं मत्स्यपालन आदि पर गहरा असर डालने के साथ सभी देशों को प्रभावित करते हैं। विकासशील और बेहद अल्पविकसित देशों को इस लिहाज से अत्यधिक जोखिमवाला माना जा सकता है, जबकि इस समस्या के योगदान में उनका मौजूदा योगदान बेहद कम होता है। **सा**

- **नाइट्रोजन उत्सर्जनः** बेहद सघन कृषि, जीवाश्म ईंधन का दहन और फलीदार फसलों का भारी उत्पादन पर्यावरण में नाइट्रोजन की बढ़ोतरी की वजह बन रहा है। जिससे अम्लता बढ़ती है और जो पारिस्थितिकी में प्रजातीय संरचना में बदलाव, ताजे पानी में मानवीय उपयोग के मानकों से अधिक नाइट्रिक तत्वों की बढ़ोतरी, पानी में गंदगी से जलीय जीवों पर असर आदि का कारण बनता है। नाइट्रोजन ऑक्साइड का उत्सर्जन ग्लोबल वार्मिंग का कारण है। वैज्ञानिक मानते हैं कि पर्यावरण में नाइट्रोजन चक्र की बढ़ोतरी के कार्बन चक्र की बढ़ोतरी के मुकाबले कहीं अधिक गंभीर परिणाम सामने आ सकते हैं।

- **प्राकृतिक संसाधनों का नाशः** प्राकृतिक संसाधनों के अभाव, भूक्षरण, वनों और मत्स्य जीवों का अभाव, वनों का कटान आदि के चलते पर्यावरणीय नुकसान लगातार बढ़ रहा है। 1990 से

1995 के बीच दुनियाभर में 6.5 करोड़ हेक्टेअर से अधिक वन खत्म हो गये थे। मूंगा चट्टानों, ताजे जल के क्षेत्र जैसे नाजुक जलीय पर्यावरण भूमि आधारित प्रदूषण के कारण खतरे में हैं। बांधों का निर्माण, मछली पकड़ने की अनुचित तकनीक भी जलवायु परिवर्तन का कारण हैं। एक अनुमान के अनुसार मानवीय गतिविधियों के कारण दुनिया की 60 प्रतिशत से अधिक मूंगा चट्टानें और 34 फीसदी से अधिक मत्स्य प्रजातियां खतरे में हैं। उत्पादन और उपभोग के मौजूदा पैटर्न, जलवायु परिवर्तन धरती पर प्राकृतिक संसाधनों की निरंतरता की क्षमता पर सवाल खड़े करते हैं कि आखिर वे कब तक बढ़ती शहरी आबादी के लिये भोजन उपलब्ध करायेंगे और सतत बने रहेंगे। पृथ्वी पर पारिस्थितिकी की जैवविविधता और नवीकृत प्राकृतिक संसाधनों में बीते 30 वर्षों में 33 प्रतिशत की गिरावट आयी है, जबकि मांग में दोगुने से भी अधिक बढ़ोतरी हो चुकी है।

- **विविधता का ह्रासः** जैविक उत्पाद और प्रक्रियाएं वैश्विक अर्थव्यवस्था में 40 प्रतिशत योगदान करती हैं। ऐसा अधिकतर उत्पादन लगातार घटती प्रजातियों को उगाने से मिलता है। बड़े पैमाने पर कृषि और वानिकी उत्पादन स्थानीय जैवविविधता को नष्ट कर एकल कृषि पर केन्द्रित होती है। हालांकि, समय के साथ जैवविविधता के महत्व को लेकर जागरूकता भी बढ़ी है, लेकिन जैवविविधता का कुछ हिस्सा बड़ी और शक्तिशाली कंपनियों के हाथों में जाने लगा है। आजीविका के स्तर पर कई निर्धन समूह जैविक प्रजातियों पर निर्भर हो सकते हैं और बदलती परिस्थितियों में वे लुप्त होती प्रजातियों को बचाये रखने में अहम भूमिका निभा सकते हैं। लेकिन अकसर ऐसे कम ही संगठन या संस्थाएं नजर आती हैं जो आजीविका के साथ जैवविविधता के महत्व को भी समझें और स्थानीय अधिकारों की भी देखरेख करें। इसके साथ ही सांस्कृतिक विविधता (जो जैवविविधता को भी बढ़ावा देती है) में भी निरंतर गिरावट आ रही है। उत्पादन, संचार, ज्ञान, कार्य और सुविधाओं के वैश्वीकरण ने उन परंपराओं को नगण्य कर दिया है, जो जैवविविधता और प्राकृतिक संसाधनों को लौटाने में मददगार हो सकते थे।

- **प्रदूषणः** अधिकतर देश सामान्य से चिंताजनक स्तर तक के प्रदूषण को झेल रहे हैं, जो पानी, मिट्टी और हवा यानी सभी बुनियादी संसाधनों को बुरी तरह प्रभावित कर रहा है। कई देशों में प्रदूषण उन्मूलन को लेकर अभियानों के बावजूद दुनियाभर में रासायनिक तत्वों की उपलब्धता में विस्तार, पेस्टीसाइड्स का इस्तेमाल, भारी धातुओं, सूक्ष्म कणों और अन्य तत्वों का पानी, हवा और मिट्टी में मिलना—घुलना मानव स्वास्थ्य एवं पर्यावरण को भारी नुकसान पहुंचा रहा है।

- **पानी की बढ़ती कमीः** वैश्विक स्तर पर जल का उपयोग—उपभोग तेजी से बढ़ रहा है। पानी की कमी 21वीं सदी का सबसे चिंताजनक और दबाव वाला बिंदु बनने की संभावना है। दुनिया की एक तिहाई आबादी ऐसे देशों में रह रही है, जो पहले से जल की कमी से जूझ रहे हैं। यह संख्या अगले बीस साल में दो तिहाई तक पहुंचने की आशंका है। ऐसे में पानी को बचाने, जल संरक्षण तकनीकों के विकास के लिये आवश्यक और कारगर कदम उठाये जाने की जरूरत है।

- **अन्य शहरी समस्याएंः** संसाधनों, विशेषज्ञताओं के अभाव, कमजोर शासनतंत्र के साथ निरंतर औद्योगीकरण और शहरीकरण पर्यावरणीय और सामाजिक समस्याओं को बढ़ा रहा है। जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण, ठोस अपशिष्ट निस्तारण की व्यवस्था का अभाव, खतरनाक और जहरीला कचरा, ध्वनि प्रदूषण ने शहरी क्षेत्रों को पर्यावरण संकट वाले क्षेत्रों के तौर पर स्थापित कर दिया है। इसके चलते यहां रहने वाले निर्धन वर्ग के लोगों के बच्चे स्वास्थ्य के लिहाज से सर्वाधिक जोखिम में होते हैं।

6.4. सतत विकास के प्रति रणनीतिक दृष्टिकोण (Strategic Approach to Sustainable Development)

उपरोक्त वर्णित कई चुनौतियां परस्पर संबंधित हैं, जिसके चलते सतत विकास के लिये उपयुक्त रणनीतिक दृष्टिकोण अपनाना आवश्यक है। इसके तहत सामाजिक, पर्यावरणीय और आर्थिक प्राथमिकताएं तय करना, निवेश, उत्पादन और उपभोग के नये तरीके बढ़ाना शामिल हैं। इन मसलों को स्थानीय, राष्ट्रीय और वैश्विक स्तर पर सरकारों द्वारा देखा जाना चाहिये। यहां यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि हर देश में शासन व्यवस्था का कार्यढांचा अलग होता है। ऐसे में जिला स्तर, प्रांतीय और राष्ट्रीय स्तर पर व्यवस्था और प्रक्रियाओं में बदलाव आता है। विकेन्द्रीकरण और वैश्वीकरण वे दो पहलू हैं जो कहीं संपूरक तो कहीं द्वंद्वात्मक रूप से शासन के लिहाज से बेहद अहम हैं। यह भी देखा जाता है कि कई सामाजिक और पर्यावरणीय मसले विकेन्द्रीकृत व्यवस्था में बेहतर देखे जाते हैं, लेकिन वैश्वीकरण के बिन्दु पर वैश्विक नियम और शासन व्यवस्था की आवश्यकता महसूस होती है। इस तरह सतत विकास के लिये रणनीति तैयार करने में तीन स्तर पर चुनौतियां सामने आती हैं:

1. यह निर्धारित करना कि किस मुद्दे की निगरानी के लिये कौन सा स्तर उपयुक्त होगा
2. विभिन्न स्तरों पर नीतियों के समन्वय और संयोजन को निश्चित करना
3. स्थानीय लोगों की सहभागिता सुनिश्चित करने के रास्ते तलाशना (तब भी जब यह महसूस हो कि राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय पहलों में नीति के तौर पर इसे शामिल करना बेहतर है)

6. 5 भारत में सतत विकास (Sustainable Development in India)

1972 में भारत की प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने स्टॉकहोम में मानव पर्यावरण पर आधारित यूएन कांफ्रेंस में इस बात पर जोर दिया कि वैश्विक पर्यावरणीय रणनीति में निर्धनता उन्मूलन का लक्ष्य भी शामिल किया जाना चाहिये। अंतरसंबंध, साझा दुनिया, वैश्विक नागरिकता जैसे मसले सिर्फ पर्यावरणीय मसलों तक सीमित नहीं हो सकते हैं। पर्यावरण संरक्षण और मानवीय विकास को लेकर परस्पर संबद्ध उत्तरदायित्व समान रूप से लागू होते हैं। ऐतिहासिक रूप से असमानता ने दुनिया की तीन चौथाई आबादी को कम विकसित देशों में रहने पर मजबूर किया है और आबादी का 1/5वां हिस्सा गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन कर रहा है। औद्योगीकरण, शोषण, पर्यावरणीय नुकसान के दीर्घकालिक परिणामों को आसानी से दूर करना संभव नहीं है। इसके लिये यह जरूरी है कि विकास को इस तरह तैयार किया जाये कि उसके दीर्घकालिक प्रभाव सामने आयें। ये समस्याएं बेहद जटिल और कठिन हैं। हमारा साझा भविष्य तभी बेहतर हो सकता है जब हम साझा चिंताओं को लेकर समान समझ विकसित करें और साझा उत्तरदायित्वों का निर्वहन करें। बेहतर सतत विकास के भविष्य के लिये जिन बिन्दुओं और लक्ष्यो को हासिल करना आवश्यक है, वे निम्नवत हैं:

- **गरीबी उन्मूलन एवं सतत आजीविका:** निर्धनता और पर्यावरणीय ह्रास परस्पर संबंधित हैं, विशेष तौर पर ऐसे क्षेत्रों में, जहां लोग अपनी आजीविका के प्राथमिक स्रोत के तौर पर अपने आसपास मौजूद प्राकृतिक संसाधनों पर ही निर्भर हैं। प्राकृतिक व्यवस्था को पुनर्जीवित करना और प्राकृतिक संसाधनों की स्थिति में सुधार ही गरीबी उन्मूलन की दिशा में किये जाने वाले प्रयासों के केन्द्रबिन्दु हैं। निर्धन वर्गों की अस्तित्व की आवश्यकताएं उन्हें पहले से अपमानक पर्यावरण को और अधिक नुकसान पहुंचाने पर मजबूर करती हैं। ऐसे में बेहतर पर्यावरण के लिये गरीबी को खत्म करना आवश्यक हो जाता है। निर्धनता का अर्थ भूख और कुपोषण की समस्या से भी

है। इसके अलावा उपलब्ध भोजन तक गरीबों की पहुंच का अभाव और असमान वितरण भी इसके साथ जुड़े हैं। इसके चलते ऐसी व्यवस्था आवश्यक है, जो सार्वजनिक वितरण प्रणाली को मजबूत करने के साथ असमानता को भी दूर करे। पारंपरिक रूप से निर्धन वर्ग के लोगों को संसाधन मुहैया कराने वाली जमीनों के आर्थिक उपयोग ने निर्धन लोगों की समस्याओं को और बढ़ाया है। बाजार की शक्तियों ने उन पारंपरिक फसलों को नष्ट किया है जो निर्धन वर्ग के भोजन का अहम हिस्सा रहे हैं, जिसके चलते खाद्य सुरक्षा और कुपोषण की स्थिति भयावह होती जा रही है। आर्थिक विकास कई पारंपरिक व्यवसायों को नष्ट करने की वजह बनता है। ऐसे में पर्यावरण के संरक्षण को लेकर प्रारंभ की जाने वाली सतत विकास की प्रक्रिया नये रोजगार और अवसरों के सृजन के साथ पारंपरिक कौशल को नये व्यवसाय के तौर पर स्थापित कर सकता है। पारंपरिक घरेलू कामकाज के अलावा इस वर्ग की महिलाएं आजीविका के लिये आय कमाने से भी संबद्ध रहती हैं। कई निर्धन परिवारों में महिलाएं ही मुखिया या रोजी–रोटी का माध्यम हैं। ऐसे में नीति के स्तर पर उनकी समानता और न्याय के लिये आवश्यक कदम उठाये जाने जरूरी हैं। साक्षरता और बुनियादी शिक्षा वे दो पहलू हैं जो निर्धन वर्ग के लोगों को विकास प्रक्रिया से मिलने वाले लाभ तक पहुंच और बाजार में उपलब्ध अवसरों से जोड़ने के लिये आवश्यक हैं। एक अनुमान के अनुसार अब भी करीब 60 फीसदी आबादी बाजारी अर्थव्यवस्था से संबद्ध नहीं है। ऐसे में सतत विकास का लक्ष्य हासिल करने के लिये इन लोगों की आजीविका की सुरक्षा अनिवार्य है।

- **उत्पादन और उपभोग के बदलते पैटर्नः** बाजारी उपभोक्तावाद के चलते बढ़ती क्रयशक्ति, जरूरत से अधिक उपभोग ने विकासशील देशों में बुनियादी संसाधनों पर दबाव बहुत अधिक बढ़ा दिया है। यहां इस समस्या से निपटने के लिये जनजागरूकता और शिक्षा बेहद आवश्यक है। कई क्षेत्रों में उपभोग के निश्चित मानक और सीमाएं तय करना और शिक्षा, प्रोत्साहन व नियमन के जरिये उचित तंत्र के माध्यम से इन्हें लागू करना आवश्यक है। कई पारंपरिक क्रियाएं सतत और पर्यावरण अनुरूप होती हैं। ऐसी क्रियाओं, परंपराओं को आधुनिक और असतत तकनीक, कार्यों से बदलने के बजाय प्रोत्साहित करने की जरूरत है। तकनीक और अवस्थापना विकास से संबंधित निर्णय उपभोग पैटर्न के बड़े निर्धारक हैं। ऐसे में ऐसे निर्णयों के मूल्यांकन की आवश्यकता है जो अधिक सतत समाज की ओर बढ़ने की दिशा प्रदान करें। ऐसी कई तकनीकें भी उपलब्ध हैं, जिनके जरिये संसाधनों के उपभोग को कम किया जाना संभव है। इन तकनीकों की पहचान, उन्हें लागू करने की बहुत जरूरत है। छूट यानी सब्सिडी कई बार किसी संसाधन के जरूरत से अधिक दोहन और नुकसान की वजह बनती है। ऐसे में लागत मूल्य तंत्र को सतत विकास के दृष्टिकोण से मूल्यांकन के बाद पुनर्निर्धारित करने की जरूरत है।

- **प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण एवं प्रबंधनः** पर्यावरणीय सततता और कृषि उत्पादन के लिये यह आवश्यक है कि भूमि–जल प्रबंधन के साथ कृषि का एकीकरण और पारिस्थितिकी संरक्षण किया जाये। पर्यावरणीय दृष्टिकोण सभी विकास परियोजनाओं का मूल्यांकन, निर्देशन करने के साथ इस प्रक्रिया में स्थानीय प्राकृतिक संसाधनों की भूमिका की पहचान भी करता है। यह पहचान इन संसाधनों पर आधारित स्थानीय लोगों के हितों के संबंध में उनके विचारों और दृष्टिकोण के आधार पर समग्र रूप से की जानी चाहिये। इसके लिये ऐसी सुपरिभाषित व्यवस्था होनी चाहिये, जो भूमि–जल एवं अन्य जैविक स्रोतों तक सबकी समान पहुंच, परंपराओं के अधिकार, पारंपरिक समुदायों, महिलाओं की आजीविका का ध्यान रखते हुये निर्धनता उन्मूलन की दिशा में काम

करे। जल नियंत्रण व्यवस्था से पारिस्थितिकी के संरक्षण की दिशा में प्रयास किये जायें, ताकि सभी जलस्रोतों और उनके कैचमेंट को एकीकृत कर पानी को बचाने की दिशा में काम हो सके। इस सबके जरिये पारिस्थितिकीय सेवाओं की विस्तृत श्रृंखला और स्वस्थ पारिस्थितिकी तथा इनके जरिये बेहतर आजीविका उपलब्ध करा पाना संभव हो सकता है। बायोमास ईंधन और ऊर्जा का प्रमुख स्रोत (विशेषतः निर्धन वर्ग के लोगों के लिये) है जो लंबे समय तक चलने वाला है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुये ऐसे समुचित तंत्र की स्थापना करना आवश्यक है, जिसके तहत बायोमास का सतत उपभोग सुनिश्चित किया जा सके। ऐसी तकनीकों का विकास जरूरी है जो न्यूनतम प्रदूषण करने वाली हों और बायोमास पर पड़ने वाले दबाव को कम कर सकें, क्योंकि यह पर्यावरणीय नुकसान की वजह बनता है। पवित्र पौधों–तालाबों, जल संचय के पारंपरिक दृष्टिकोण के आधार पर प्राकृतिक संसाधनों के प्रबंधन की व्यवस्था और तंत्र विकसित किया जाना चाहिये। इसके लिये पारिस्थितिकीय विचार और पारंपरिक तंत्र में मौजूद सामुदायिक प्रबंधन की भावना के जरिये सांस्थानिक तंत्र स्थापित करना जरूरी है।

- **वैष्विक दुनिया में सतत विकासः** वैश्वीकरण की मौजूदा प्रक्रिया अमीरों और गरीबों के बीच विभाजन को लगातार बढ़ा रही है। इसे इस तरह मोड़ना आवश्यक है कि यह न सिर्फ व्यावसायिक उद्देश्यों की पूर्ति करे, बल्कि विकास की सामाजिक जरूरतों को भी पूरा करे। वैश्विक व्यवसाय उपभोक्ताओं की पसंद की एकरूपता के उच्च स्तर पर पनपता है। दूसरी ओर, स्थानीय सततता के लिये इसे स्थानीय परंपराओं, सांस्कृतिक विविधताओं के लिहाज से इसे निर्देशित किया जाना आवश्यक होता है। इस तरह नीतियों के स्तर पर सतत विकास के लिये विविधता के महत्व की पहचान और संरक्षण करना आवश्यक है। विकासशील देश कई बार बढ़ती वैश्विक अर्थव्यस्था में उचित कौशल की इच्छा में, कई बार बहुस्तरीय व्यापारिक समझौतों और बातचीत में नुकसान की स्थिति में रहते हैं। क्षमता विकास के लिये क्षेत्रीय सहयोग आवश्यक है, ताकि व्यापार के सभी चरणों पर उनकी भी प्रभावी भूमिका निश्चित की जा सके। वैश्वीकरण दुनियाभर में भारी मात्रा में मानव संसाधन से विस्तारित होता है, जिसमें करोड़ों लोग शामिल होते हैं। इन लोगों को सुरक्षा कई बार वैश्विक विरूपण के कारण होने वाली स्थानीय घटनाओं से खतरे में आती है। आजीविका और व्यापार की सुरक्षा के लिये तंत्र (विशेषकर विकासशील देशों में) की स्थापना आवश्यक है, जिसके तहत वैश्वीकरण को सतत विकास की प्रक्रिया बना दिया जाये। युद्ध और हथियारबंद विद्रोह सतत विकास की राह में कई बार बड़ी बाधा बनते हैं। ऐसे में इस तरह का तंत्र विकसित करना आवश्यक है जो इस तरह की परिस्थितियों में मध्यस्थता के साथ विवादित मसलों को सुलझाने का काम करे ताकि दूसरे पक्ष के विकास लक्ष्यों की भी पूर्ति की जा सके।

- **स्वास्थ्य एवं सतत विकासः** शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक रूप से मानव स्वास्थ्य नागरिकों की स्वस्थ्य पर्यावरण तक समुचित पहुंच पर आधारित होता है। स्वस्थ, लाभकारी और परिपूर्ण जीवन के लिये यह आवश्यक है कि संतुलित आहार, स्वच्छ–सुरक्षित पेयजल, साफ हवा, सफाई, पर्यावरणीय हाईजीन, प्राथमिक स्वास्थ्य सेवा और शिक्षा तक हर व्यक्ति की शारीरिक और आर्थिक पहुंच उपलब्ध हो। साफ पानी और स्वस्थ पर्यावरण हर नागरिक का बुनियादी अधिकार होना चाहिये। विकासशील देशों के नागरिक निरंतर जोखिम में रहने और बीमारियों का दोहरा बोझ झेलते हैं। हैजा और मलेरिया जैसी पारंपरिक बीमारियां असुरक्षित पानी के इस्तेमाल और हाईजीन की कमी के कारण होती हैं, इनके अलावा कैंसर, एड्स और तनाव आधारित आधुनिक बीमारियां भी बड़ी चिंताएं हैं। विकासशील देशों में लोगों को होने

वाली अधिकतर बीमारियां व्यवसाय या रोजगार आधारित हैं, जो अकसर समृद्ध लोगों के उपभोग की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के दौरान ही होती हैं। ऐसे में संरक्षात्मक और सामाजिक उपचार तथा स्वास्थ्य एवं महामारी की दिशा में विशेष शोधकार्यों की आवश्यकता है। नीतियों के स्तर पर स्वास्थ्य और पर्यावरण मंत्रालयों में बेहतर समन्वय की आवश्यकता है, क्योंकि ये दोनों ही मसले परस्पर संबद्ध हैं। विकासशील देशों में बुनियादी स्वास्थ्य और शिक्षा व्यवस्था को मजबूत किया जाना जरूरी है। सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवाओं में उपचार के साथ संरक्षात्मक स्वास्थ्य सेवाओं को भी बढ़ावा देने की जरूरत है। लोगों को इस तरह जागरूक और सशक्त किया जाना आवश्यक है कि वे संरक्षात्मक स्वास्थ्य सेवाओं, पर्यावरण, हाईजीन आदि के प्रबंधन में सक्रिय सहभागिता निभा सकें। अधिकतर विकासशील देशों में प्राकृतिक संसाधनों पर आधारित चिकित्सा सेवा की परंपरा रही है। यह परंपराएं इसलिये खत्म होने के कगार पर हैं, क्योंकि वैश्वीकरण और अनियोजित विकास से प्राकृतिक संसाधनों पर खतरा बढ़ गया है। ऐसे में पारंपरिक चिकित्सा के साथ आधुनिक चिकित्सा के संयोजन को बढ़ावा देना भी आवश्यक है। इसके अलावा विकासशील देशों में स्वास्थ्य सेवाओं को इस तरह क्षमतावान बनाने की जरूरत है कि वे बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ पर्यावरणीय जोखिम की पहचान करते हुये उसके संरक्षण का भी काम कर सकें।

- **सतत विकास के लिये शासन की मजबूतीः** संसाधनों का प्रभावी स्थानीय प्रबंधन सभी हितधारकों की सहभागिता से ही संभव है। स्थानीय स्तर पर लोकतांत्रिक संस्थानों का सशक्तीकरण सामान्यतः प्राकृतिक संसाधनों के बेहतर और सतत प्रबंधन का काम करता है। स्थानीय शासन में लोगों की प्रभावी सहभागिता बढ़ाने के लिये स्थानीय निकायों में कार्यकारी परिषदों और निर्वाचित कमेटियों में सामुदायिक समूहों का प्रतिनिधित्व होना चाहिये। समुचित अधिकार और क्षमताएं उन्हें स्थानीय विकास गतिविधियों की देखरेख करने में सक्षम बनायेंगी, जिसके तहत वे सामुदायिक प्राथमिकताओं, महत्वपूर्ण परियोजनाओं की निगरानी और सामुदायिक संपत्तियों का प्रबंधन कर सकेंगे। भारत में संविधान के 73वें और 74वें संशोधन के माध्यम से सामुदायिक सशक्तीकरण की दिशा में कदम बढ़ाये गये हैं, लेकिन नियमो ंको प्रभावी तौर पर लागू करने की और ठोस व्यवस्था करने की अब भी जरूरत है। समाज के सभी सदस्य सतत विकास के हितधारक हैं और महिलाएं इसका आधा हिस्सा है। ऐसे में स्थानीय शासन में महिलाओं के बेहतर प्रतिनिधित्व के लिये सकारात्मक पहल, क्षमता विकास आवश्यक है ताकि वे विकास प्रक्रियाओं में प्रभावी और समान भूमिका निर्वहन करते हुये मुख्यधारा में शामिल हो सकें। बच्चे समाज की मूल्यवान संपत्ति हैं। ऐसे में यह न सिर्फ अभिभावकों, बल्कि समाज का भी दायित्व है कि उन्हें पूर्ण क्षमतावान, स्वस्थ पर्यावरण में जीवन जीने का अधिकार दिया जाये। स्थानीय स्तर पर इस तरह का माहौल और पर्यावरण तैयार करना शासन की सबसे बड़ी चुनौती है। विकास को सतत बनाने के लिये व्यावसायिक, सांस्कृतिक और आर्थिक विविधताओं को समग्रता में लाना आवश्यक है। कई बार यह चुनौती सामने आती है कि विविधताएं सामाजिक असुरक्षा और अंतर्विरोध की वजह बन जाती हैं। ऐसे में नागरिक समूहों, स्थानीय अधिकरणों की सहभागिता को शासन और तंत्र में सुनिश्चित करना जरूरी है, ताकि अंतर्विरोधों का प्रभावी समाधान निकाला जा सके। समाज में उपलब्ध कौशल समृद्धि को संस्थानों के साथ साझेदारी से जोड़कर और निखाने की जरूरत होती है। इसके लिये गैरसरकारी समूह, कॉरपोरेट और निजी संस्थाएं, अकादमिक और शोध संस्थान, ट्रेड यूनियन अहम होती हैं, जिन्हें नियोजन और सतत विकास प्रक्रियाओं में एकीकृत किया जाना चाहिये।

- **सतत विकास नीतियां:** एक तरफ ऐसे कई नियम हैं, जो पुराने और अप्रासंगिक हो चुके हैं तो दूसरी ओर प्रासंगिक नियमों को लागू करने की दिशा में प्रभावी कदम उठाये जाने की कमी स्पष्ट नजर आती है। इसके चलते नियमों की समीक्षा की आवश्यकता महसूस होती है। नियमों में कहां कमी है, वे क्यों लागू नहीं हो पा रहे जैसे बिन्दुओं को समझना और उनकी पहचान करना बहुत आवश्यक है। यहां यह भी समझने की जरूरत है कि नियम तब तक समाधान नहीं दे सकते, जब तक उन्हें लागू करने के प्रभावी तंत्र की व्यवस्था नहीं हो। कई पारंपरिक व्यवस्थाओं की वैधता और मूल्यों की पहचान करने के साथ उन्हें शासन की विकास नीतियों और विचारों में शामिल कर मुख्यधारा में लाने की आवश्यकता है। इनके एकीकरण के लिये समुचित तंत्र की स्थापना की जानी चाहिये। कई नीतियां ऐसी हैं, जिन्हें सतत विकास की अवधारणा के सामाजिक दृष्टिकोण से जुड़ने से पूर्व तैयार किया गया था, ऐसे में अब इनकी समीक्षा और पुनर्निर्धारण की भी जरूरत महसूस होती है। सभी तरह की भावी नीतियों को सतत विकास के परिप्रेक्ष्य में ही तैयार किया जाना चाहिये। ऐसे क्षेत्रों की पहचान करना आवश्यक है, जो अब भी नीतियों के दायरे से बाहर हैं और वहां समुचित नीतियों को शामिल किया जाना चाहिये। सतत विकास के क्षेत्र में क्षेत्रीय और वैश्विक समन्वय के अवसर और जरूरतें हैं। जलक्षेत्र, नदी तटों पर ऐसे सहयोग की बड़ी आवश्यकता होती है। इसके अलावा सीमापार पर्यावरणीय प्रभावों, जैविक संसाधनों के प्रबंधन, तकनीकों की साझेदारी और सतत विकास के अनुभवों का आदान–प्रदान भी आवश्यक है। विशेषकर विकासशील देशों में इस तरह के प्रयास किये जाने चाहिये कि संतुलित अनुभवों के आधार पर क्षेत्रीय चिंताओं को अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर प्रभावी रूप से रखा जा सके।

6.6 निष्कर्ष (Conclusion)

सतत विकास के लिये नीतियों के निर्माण में समग्र और एकीकृत दृष्टिकोण की आवश्यकता है, ताकि पर्यावरणीय, सामाजिक, आर्थिक आयामों पर विकास के विस्तृत पहलुओं को समझा और उनकी दिशा में काम किया जा सके। एकीकृत, अनुशासित दृष्टिकोण भी आवश्यक है ताकि ज्ञान के आधार के विखंडन और असमानता की समस्या से पार पाया जा सके और जटिल परेशानियों के समाधान तलाशे जायें। इस इकाई के अध्ययन के जरिये हमने ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से सतत विकास की अवधारणा को समझने का प्रयास किया है। इससे यह स्पष्ट हुआ है कि सतत विकास को लेकर हुयी रियो घोषणा और साझा भविष्य जैसे बुनियादी सन्दर्भ तैयार करने के दौरान कई तरह के समझौते भी किये गये। यह भी स्पष्ट हुआ है कि ब्रंटलैड कमीशन, रियो+20, जोहान्सबर्ग घोषणा आदि के बाद वर्ष 2015 से सतत विकास के नये स्वरूपों को लागू किया जा रहा है। यहां यह जरूरी है कि ऐसी नीतियां और पहल की समग्र, निर्बाध प्रक्रियाओं को तैयार किया जाये जो एकल लक्ष्य आधारित और सीमित परिणाम देने वाली नीतियों से आगे जाकर काम कर सकें।

इकाई 7 पर्वतीय क्षेत्रों में गरीबी उन्मूलन, आजीविका एवं सतत विकास

(Poverty Reduction, Livelihood and Sustainable Development in Hill Areas)

7.0: उद्देष्य **(Objectives)**

7.1: परिचय **(Introduction)**

गरीबी उन्मूलन **(Poverty Reduction)**

गरीबों की समस्याएं **(Problems of The Poor)**

भारत में ग्रामीण परिदृष्य **(Ruaral Scenario in India)**

7.2: सामुदायिक विकास कार्यक्रम **(Community Development Programme)**

7.3: पंचायती राज संस्थान **(Panchayati Raj Institutions)**

7.4: एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम **(Integrated Rural Development Programme)**

7.5: जनसहभागिता पर जोर **(Emphasis on People's Participation)**

7.6: गैरसरकारी संस्थाओं की भूमिका **(Role of NGOs)**

7.7: सतत विकास की रणनीति **(Strategy for Sustainable Development)**

7.8: उन्नति के लिये जनप्रयास **(People's Initiatives for Progress)**

7.9: मूल मुद्दे एवं चुनौतियां **(Key Issues and Challenges)**

7.10: नीतियां **(Policy Context)**

7.11: पर्वतीय कृषि एवं आजीविका की विविधताएं **(Mountain Agriculture and Diversification in Livelihoods)**

7.12: खाद्यान्न अभाव, प्राकृतिक आपदाएं, विपत्तियां, जोखिम **(Food Deficit, Natural Hazards, Adversities, Risks and Vulnerability)**

7.13: पहुंच के अवसर, पर्वतीय–निचली भूमि और वैष्वीकरण के प्रभाव **(Accessibility, Highland-Lowland Linkage and Impact of Globalization)**

7.14: प्राकृतिक संसाधनों का प्रबंधन और नियंत्रण **(Governance of Management of Natural Resources)**

7.15: भूउपयोग **(Landuse)**

7.16: लैंगिक एवं सामाजिक समानता **(Gender and Social Equity)**

7.17: गरीबी उन्मूलन एवं विकास की क्षेत्रवार नीतियां **(Sectoral Stratigies and Policies for Growth and Poverty Alleviation)**

7.18: पर्वतीय उद्यम विकास **(Mountain Enterprise Development)**

7.19: सतत आजीविका के लिये वनोत्पादों का वाणिज्यीकरण **(Commercialization of Forest Products for Sustainable Livelihood)**

7.20: पर्वतीय पर्यटन **(Mountain Tourism)**

7.21: भूमि व्यवस्था एवं प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन **(Land System and Natural Resource Management)**

7.22: पहुंच, समानता एवं संबंध **(Accessibility, Equity and Linkages)**

7.23: सन्दर्भ **(References)**

7.0: उद्देश्य (Objective)

इस इकाई के अध्ययन के बाद हम समझ सकेंगे किः

1. पर्वतीय क्षेत्रों में आजीविका के साधन और वहां रहने वाले लोगों की स्थिति क्या है
2. पर्वतीय क्षेत्रों में निर्धनता उन्मूलन और सतत विकास के लिये क्या नीतियां आवश्यक हैं
3. पर्वतीय क्षेत्रों में वानिकी प्रबंधन क्या है और इसकी जरूरत क्यों होती है
4. पर्वतीय क्षेत्रों में उद्यम विकास किस तरह गरीबी उन्मूलन के लक्ष्य को पाने में मददगार हो सकता है

7.1: परिचय (Introduction)

दक्षिणी एशिया के पहाड़ लाखों ग्रामीण, निर्धन लोगों के आवास हैं और प्राकृतिक संसाधनों के निरंतर कम होने से उनकी आजीविका पर वर्तमान दौर में चुनौतियां खड़ी होती जा रही है, जो निचले क्षेत्रों में भी बाढ़ आदि का खतरा बनती हैं। विभिन्न अध्ययनों ने स्पष्ट किया है कि इस दिशा में त्वरित प्रभावी कदम नहीं उठाये गये तो पर्वतीय क्षेत्र में संसाधनों की कमी, निर्धनता, भुखमरी जैसी समस्याएं निरंतर बढ़ती जायेंगी। इसके बड़े कारणों में बढ़ती आबादी, प्रति व्यक्ति आय में कमी, कृषि एवं गैर कृषि संसाधनों के अपर्याप्त विकास, पर्यावरणीय कुप्रबंधन शामिल हैं। वनों और अन्य प्राकृतिक संसाधनों का स्थानीय और बाहरी लोगों की ओर से अनियोजित और अंधाधुंध दोहन, विकास की प्रक्रिया में संसाधनों की अनदेखी, अपमानकों के कारण भूक्षरण, प्रदूषण और भूमि की उपजाऊ क्षमता में कमी जैसी समस्याएं तेजी से उभर रही हैं।

बीते कुछ दशकों में पर्वतीय क्षेत्रों में तेजी से परिवर्तन हुए हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य सेवाओं के विस्तार, सड़कों–बिजली की उपलब्धता, सिंचाई में सुधार, नयी कृषि तकनीकों ने पर्वतीय क्षेत्रों में खासा फेरबदल किया है। पहले पर्वतीय विकास समस्याओं पर जहां अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था, अब इसे लेकर जागरूकता और निश्चय स्पष्ट नजर आता है। पर्वतीय क्षेत्रों में रहने वाले लोग भी सदियों तक उपेक्षित रहने के बाद अब अपेक्षित परिणामों के लिये जागरूक हो रहे हैं। बेहतर भविष्य के लिये उनमें इच्छाशक्ति भी तीव्र दिखती है। सरकारों के स्तर पर पर्वतीय क्षेत्रों और वहां रहने वाले समुदायों के विकास, आजीविका के बेहतर अवसर उपलब्ध कराने और पर्यावरण संरक्षण के लिये विभिन्न कदम उठाये गये हैं। हालांकि, इनके परिणाम इस पर निर्भर करते हैं कि किसी पर्वतीय क्षेत्र में उसकी विशेषता के आधार पर किस तरह और कौन सी नीतियों को लागू किया गया है। इसके बावजूद गरीबी को घटाने और आजीविका की सततता की चुनौती निरंतर बनी हुयी है, जिसका कारण न सिर्फ अवसरों की कम उपलब्धता और संबंधित क्षेत्र में संसाधनों व पर्यावरणीय संवेदनशीलता है, बल्कि पर्वतीय लोगों के सामाजिक–राजनीतिक एवं आर्थिक लिहाज से हाशिये पर बने रहना, विकास प्रक्रियाओं के तहत उठाये जाने वाले कदमों, व्यवस्थाओं में उनकी सांस्थानिक उपयोगिता तय नहीं हो पाना भी है।

पर्वतीय पारिस्थितिकी आर्थिक विकास और मानवजीवन के लिये महत्वपूर्ण कारक है। पर्वत स्वच्छ जल, खाद्यान्न, जीवनरक्षक औषधीय पौधे, उर्जा, जैवविविधता और संबंधित पारंपरिक ज्ञान के स्रोत हैं। इसके बावजूद इन क्षेत्रों और इनसे मिलने वाली इन वस्तुओं–सेवाओं को राष्ट्रीस आर्थिक नीतियों, विकास योजनाओं में अपेक्षित पहचान नहीं मिल सकी है। चूंकि, पर्वतीय पारिस्थितिकी को अब तक भौतिक सूचकांकों में शामिल नहीं किया गया है, राष्ट्रीय आर्थिकी और लोगों की आजीविका में उनके योगदान को भी बेहतर ढंग से चिह्नित नहीं किया जा सका है। यद्यपि पर्वतीय क्षेत्रों के लोगों को समाज के बड़े हिस्से को जरूरत के संसाधनों को भारी मात्रा में उपलब्ध कराने के बदले बेहतर अवसर मिलने चाहिये, लेकिन उन्हें अधिक प्रोत्साहन नहीं मिल पाता। दुर्गम क्षेत्र और अनियोजित अवस्थापना, संचार सुविधाओं का अभाव पर्वतीय क्षेत्रों में विकास कार्यों के लागत को बढ़ा देते हैं। इसका सीधा असर पर्वतीय राज्यों के आर्थिक और सामाजिक विकास के मानकों में पीछे रह जाने के तौर पर दिखता है।

पर्वतीय क्षेत्र दुनिया के सबसे नाजुक पर्यावरणीय क्षेत्र और यहां की पारिस्थितिकी विपदाओं की चपेट में हैं। उत्तराखंड में अनियोजित विकास के परिणाम हाल में झेले जा चुके हैं। संयुक्त राष्ट्र का एजेंडा 211 पर्वतीय व्यवस्था के उन मूल्यों को अभिव्यक्त करता है, जिन्हें राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय और क्षेत्रीय नीतियों और प्राथमिकताओं में शामिल नहीं किया जा सका है। वैश्विक विकास प्रक्रियाओं में भी पर्वतीय क्षेत्रों के सतत विकास का पहलू हाशिये पर ही रखा गया है। यही वजह है कि रियो अर्थ समिट के बीस साल बाद भी चुनौतियां बरकरार हैं। पर्वतीय पारिस्थितिकी से मिलने वाली सुविधाओं को सतत बनाये रखने के लिये पर्वतीय क्षेत्रों को सकारात्मक दिशा में प्रोत्साहित करने की जरूरत है, ताकि वे पारिस्थितिकी के संरक्षण को लेकर काम करते रहें और मौजूदा राष्ट्रीय एवं वैश्विक चुनौतियों के साथ स्थानीय विकास जरूरतों को भी पूरा कर सकें। **सारिणी 1** में हम भारत के पर्वतीय राज्यों में आर्थिक अवस्थापना, मानव विकास, सामाजिक विकास आदि मानकों की स्थिति को अन्य राज्यों के मुकाबले तुलनात्मक समझ सकते हैं।

गरीबी उन्मूलन (Poverty Reduction)

आजादी के 70 वर्ष बाद सवा अरब की आबादी के साथ भारत दुनिया का सबसे बड़ा लोकतंत्र है। इस लोकतांत्रित व्यवस्था और स्वतंत्रता को कायम रखने के लिये आर्थिक शक्तिसंपन्नता और नागरिकों के जीवनस्तर में गुणवत्ता अति आवश्यक है। चिंताजनक तथ्य यह है कि भारत में वार्षिक प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय उत्पाद 370 डॉलर है, जो चीन में 860 डॉलर, एशिया में 2450 डॉलर और विकसित देशों में 20 हजार डॉलर प्रति व्यक्ति के मुकाबले निम्नतम है। औद्योगिक विकास में उल्लेखनीय उन्नति के बावजूद भारतीय अर्थव्यवस्था आज भी कृषि आधारित गतिविधियों पर निर्भर है। 65 फीसदी आबादी अब भी गांवों में रहती है और उनकी आजीविका का प्राथमिक साधन कृषि ही है। ऐसे अधिकतर परिवार अपनी 90 फीसदी से अधिक आय भोजन, ईंधन, स्वास्थ्य जैसी बुनियादी जरूरतों पर ही खर्च कर देते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में 35 प्रतिशत परिवार निर्धनता के दायरे में आते हैं, जिनकी समस्याओं का समाधान, सामाजिक न्याय और बेहतर जीवन अवसर उपलब्ध कराना राष्ट्रीय प्राथमिकता है।

गरीबों की समस्याएं (Problems of Poor)

भारत में गरीबी का निर्धारण परिवार द्वारा अर्जित आय के हिसाब से किया जाता है। चार से पांच सदस्यों वाले एक परिवार को न्यूनतम बुनियादी जरूरतों को पूरा करने के लिये वार्षिक 11 हजार रुपये यानी 275 अमेरिकी डॉलर की आवश्यकता होती है। ऐसे लोग, जो यह आय अर्जित नहीं कर पाते निर्धनता की श्रेणी में गिने जाते हैं। बेरोजगारी ग्रामीण निर्धनता का प्रमुख कारण है। मौसम पर आधारित खेती, बेहद छोटी भूमि स्वामित्व, कमजोर अवस्थापना, अशिक्षा, सामाजिक उपेक्षा, ग्रामीण औद्योगिक विकास के सीमित अवसर आदि भी इसके कारण हैं। भारत में ग्रामीण आबादी की आजीविका का मुख्य साधन भूमि है। 1991–92 में किये गये एक सर्वे की रिपोर्ट के अनुसार 11.25 प्रतिशत ग्रामीण परिवार भूमिहीन है, कुल भूमि स्वामियों में से 69.35 प्रतिशत के पास एक हेक्टेअर से भी कम जमीन है, जबकि 21.25 फीसदी के पास एक से दो

हेक्टेअर जमीन है। पानी कृषि उत्पादन को बढ़ाने का महत्वपूर्ण कारक है। भारत में 169 लाख हेक्टेअर कृषि क्षेत्र में से महज 28 प्रतिशत ही सिंचाई सुविधाओं से जुड़ा हुआ है, बाकी हिस्सा बारिश पर निर्भर है, जहां वर्षभर में बमुश्किल एक ही फसल का उत्पादन संभव हो पाता है। 40 प्रतिशत फसल क्षेत्र निम्न वर्षा वाले इलाकों में हैं, जहां वर्षभर में महज 40–50 दिन का ही रोजगार उपलब्ध हो पाता है और फसलोत्पादन भी पांच साल में सिर्फ दो बार ही किया जा सकता है। कई पारंपरिक व्यवसायों में गिरावट और कमजोर सांस्थानिक अवस्थापना ने भी रोजगार के अवसरों को कम किया है। इस तरह करीब 90 प्रतिशत ग्रामीण आबादी को अस्तित्व को बचाये रखने के लिये आजीविका के दूसरे साधनों की ओर कदम बढ़ाना पड़ता है।

भारत में ग्रामीण परिदृश्य (Rural Scenario in India)

भारत की सवा अरब जनसंख्या में से 65 प्रतिशत गांवों में रहती है, जिसमें से 35 से 40 प्रतिशत परिवार निर्धन श्रेणी में आते हैं। करीब 25 प्रतिशत गांवों में साल के चार से पांच महीने पानी नहीं मिलता है और बाकी समय जब पानी मिलता भी है तो उसकी गुणवत्ता विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुरूप नहीं होती। पानी की यह कमी स्वास्थ्य समस्याओं को जन्म देती है और डायरिया ग्रामीण क्षेत्रों में नवजात मृत्यु दर का बड़ा कारण है। पारंपरिक भारतीय समुदाय पुरुषों के अधिकार वाला है और महिलाएं आज भी पीछे रहती हैं। यद्यपि ग्रामीण क्षेत्रों में साक्षरता दर 50 से 65 प्रतिशत है, लेकिन महिलाओं में यह आंकड़ा इससे 25 प्रतिशत तक कम है। यही वजह है कि बालिका शिक्षा को प्रोत्साहन देना बीते वर्षों में बेहद जरूरी समझा गया, जिसके अपेक्षित परिणाम भी अब नजर आने लगे हैं। साक्षरता की कमी भी वह वजह है, जो ग्रामीण क्षेत्रों के विकास और बाहरी दुनिया से उनके संपर्क के रास्ते में बाधा बनी। ग्रामीण क्षेत्रों के लोग बदलते दौर के साथ नयी तकनीकों से जुड़ पाने में अक्षम रहे। संचार की कमी के अलावा सामाजिक रूढ़ियों ने भी उन्हें उन्नति के रास्ते पर बढ़ने से रोका। विभिन्न निहितार्थों से स्थानीय और बाहरी लोगों ने इनका शोषण भी किया है। समृद्ध जमींदारों ने अवस्थापना विकास के प्रयासों में हमेशा रुकावट डालने का प्रयास किया, क्योंकि इससे निर्धनों को भी अवसर मिलते जो उनके लिये सस्ते श्रमिक उपलब्ध होने की संभावनाओं को क्षीण कर देता। स्थानीय सूदखोर भी नहीं चाहते कि ग्रामीणों तक वैकल्पिक वित्तीय संस्थानों की पहुंच हो, जहां से वे सस्ता ऋण हासिल कर सकें। इसी तरह पारंपरिक नीमहकीम भी धर्म और दैवीय शक्तियों के नाम पर लोगों को आधुनिक चिकित्सा एवं दवाओं के इस्तेमाल से रोकने का प्रयास करते रहे हैं। इन सबके चलते निर्धन ग्रामीण लोग शक्तिशाली लोगों के अधीन बने रहकर शोषित, उपेक्षित जीवन जीते रहे। भारत में बड़ी संख्या में ग्रामीण परिवारों के भूमिहीन होने के पीछे यह वजह रहीं।

भारत सरकार ने गांवों में सामुदायिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक विकास के मकसद से पंचायतों की व्यवस्था दी है। निजी स्वामित्व के अलावा चारागाहों और अन्य जमीनों पर सरकार का अधिकार होता है, जिनकी देखरेख ग्राम पंचायतों पर होती है। सरकार ने हर गांव में दस प्रतिशत भूमि को पशुधन के चारे के लिये छोड़ने का प्रावधान रखा है। इस जमीन पर ग्राम पंचायत का स्वामित्व होता है, लेकिन गांव के सभी लोगों के लिये इस भूमि पर जाने की स्वतंत्रता होती है। किन्तु अधिकतर लोग चारागाहों के प्रबंधन को अपना दायित्व नहीं समझते। इसके चलते अधिकतर गांवों में चारागाहों की जमीनें 'गायब' हो गयीं। कुछ इसी तरह की स्थिति ग्रामीण वनों और लकड़ी के उपभोग की भी रही। इसके चलते 50 फीसदी के करीब जमीन अनुपयोगी रह गयी है। इस तरह की बेकार भूमि वर्षाजल को रोकने में अक्षम होती जाती है और भूमिक्षरण, बाढ़ तथा अवसादन की वजह बनती है। ऐसी जमीनों का नियमित और बेहतर प्रबंधन चारे, ईंधन की उपलब्धता, वर्षाजल को रोकने और कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिये आवश्यक है।

फसलोत्पादन के लिये पानी सबसे आवश्यक तत्व है, लेकिन इसकी ही समुदाय अनदेखी करता रहा है। भारत में पानी के मुख्य स्रोत वर्षा, झीलें, नदियां, हिमशिखर और भूमिगत जलस्रोत हैं। कुओं और छोटे टैंकों को छोड़कर पानी के अन्य स्रोतों पर सामूहिक रूप से सबका हिस्सा है। लेकिन शक्तिसंपन्न गुट निहितों की पूर्ति के लिये इस संसाधन का भी मनमाने तरीके से उपभोग, उपयोग करते हैं, जबकि गरीबों को उनका

हक तक नहीं मिल पाता। इसके चलते छोटे और बड़े भूस्वामियों के बीच आर्थिक असंतुलन तेजी से बढ़ा है। भारत में कृषि उत्पादन के लिये वर्षाजल सबसे बड़ा माध्यम है, लेकिन जल संरक्षण की बेहतर योजनाओं के अभाव और मिट्टी की धारण क्षमता कम होने के कारण वर्षाजल का 65 फीसदी हिस्सा नदियों में बाढ़ के रूप में बहकर निकल जाता है। भारत में सिर्फ 28 प्रतिशत कृषि भूमि सिंचाई सुविधा से जुड़ी हुयी है, लेकिन वहां के किसानों में पानी की फिजूलखर्ची देखी जाती है। ठोस प्रशिक्षण सुविधा के अभाव में वे मानते हैं कि खेतों में जरूरत से ज्यादा पानी डालने से इनकी उत्पादकता बढ़ जायेगी, जबकि मिट्टी की गुणवत्ता को लेकर वे उतने जागरूक नहीं होते। यही वजह है कि भारत में प्रति हेक्टेअर उत्पादन जहां सिर्फ 1.9 टन का है, चीन में ये चार टन प्रति हेक्टेअर है। जरूरत से अधिक सिंचाई करने के कारण भारत में नौ लाख हेक्टेअर जमीन खारी भूमि में बदलकर बंजर हो चुकी है। यह न सिर्फ खाद्य सुरक्षा के लिहाज से, बल्कि सामुदायिक स्वास्थ्य, पर्यावरण एवं जैव विविधता के लिहाज से भी खतरनाक स्थिति है।

पशुधन भी निर्धनों का महत्वपूर्ण प्राकृतिक संसाधन है। सामान्यतः ग्रामीण परिवारों में दूध के लिये एक–दो गाय या भैंसें, खेती के लिये बैलों की जोड़ी और अतिरिक्त आय के लिये कुछ भेड़–बकरियां तथा मुर्गियां पाली जाती हैं। चारे की भारी कमी की वजह से निर्धन ग्रामीण अपने पशुओं को खुली जमीनों पर चरने के लिये ले जाते हैं। दूध की काफी अधिक मांग होने के कारण दुग्ध उत्पादन में अवसरों की अच्छी संभावनाएं हैं, लेकिन देखरेख के अभाव में भारत की बेहतर दुग्ध उत्पादन करने वाली गाय–भैंसों की प्रजातियां नष्ट हो चुकी हैं, जो बची हैं उनमें भी 80 से 85 प्रतिशत तक अनुत्पादक हैं, जिनकी वजह से एक ओर तो वनों पर दबाव पड़ता है, दूसरी ओर इन्हें पालने वाले निर्धन ग्रामीण भी लाभान्वित नहीं हो पाते।

भारत के 25 प्रतिशत गांव ऐसे हैं, जहां साल के 12 महीने पीने का पानी नहीं मिल पाता। 75 प्रतिशत पानी प्रदूषित होता है। इसके चलते बीमारियां बढ़ती हैं। दूरस्थ–दुर्गम गांवों तक बेहतर स्वास्थ्य सेवाएं नहीं पहुंच पातीं। निरक्षरता आज भी ग्रामीण महिलाओं में 55 से 75 प्रतिशत तक है। प्रति एक हजार व्यक्ति पर 28 नये जन्मे बच्चों की दर एशिया की प्रति 1000 पर 23 बच्चों की दर से अधिक है, जिसके फलस्वरूप परिवारों में नये सदस्यों का दबाव तो बढ़ता है, लेकिन आय के साधन नहीं। जरूरतों को पूरा नहीं कर पाने से लोग आपात स्थितियों में कर्ज लेते हैं और समय से चुका नहीं पाने पर इसके जाल में फंसते चले जाते हैं। ऐसी स्थिति में या तो गांवों से कुछ परिवार शहरों की ओर पलायन कर जाते हैं या फिर गांव में ही दयनीय दशा में रहने पर मजबूर होते हैं। अधिकतर ग्रामीण निर्धन तकनीकी ज्ञान से वंचित रहते हैं, न ही उन्हें उन संस्थाओं–संस्थानों की जानकारी होती है, जो तकनीकी परियोजनाओं पर काम करते हैं। निर्धन किसानों को बीते कुछ समय में सरकार और अन्य संस्थाओं की ओर से काफी मदद तो मिली, लेकिन पर्याप्त प्रशिक्षण और प्रेरणा के अभाव में इसका सदुपयोग करने में विफल रहे। जरूरी कार्यों के बजाय किसानों ने इस मदद का दुरुपयोग करना शुरू कर दिया, नतीजतन खेती में उन्हें अपेक्षित परिणाम नहीं मिले। इसके चलते धीरे–धीरे छोटे किसानों में निर्भरता की भावना बढ़ती गयी और वे अपनी आजीविका के लिये दूसरों की ओर देखने लगे। यहां यह उल्लेखनीय है कि अधिकतर ग्रामीण विकास कार्यक्रम बिना किसी नियोजन के ही लागू कर दिये जाते हैं। एकीकृत पहुंच के अभाव, बहुआयामी समस्याओं, क्षेत्रवार दिक्कतों, संसाधनों के अभाव जैसी परेशानियों से वे विफल हो जाते हैं।

7.2: सामुदायिक विकास कार्यक्रम (Community Development Programme)

भारत में सामुदायिक विकास की अवधारणा स्वतंत्रता से पूर्व ही विकसित हो गयी थी। स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान महात्मा गांधी ने गांवों के उत्थान और पुनर्निर्माण का सिद्धांत दिया। उन्होंने पूर्ण स्वतंत्रता के लिये 19 सूत्रीय कार्यक्रम पेश किया। वह अकसर नेताओं को चेताते थे कि स्वतंत्रता का लाभ तभी लिया जा सकता है, जब ग्रामीण अर्थव्यवस्था सक्षम हो और निर्धनता पूर्ण रूप से उन्मूलित हो जाये। उन्होंने सांप्रदायिक सौहार्द, आर्थिक समानता, सामाजिक समानता, नशा उन्मूलन, खादी को बढ़ावा, कुटीर उद्योगों

को बढ़ावा, स्वच्छता, स्वास्थ्य सेवाएं, शिक्षा, महिला सशक्तीकरण जैसे बिंदुओं पर काम करने की जरूरक जतायी। इसका मकसद ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर उपलब्ध कराना और इसके जरिये जीवनस्तर में सुधार था (Gandhi, 1941). ब्रिटिश शासनकाल में गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट, 1935 ने प्रांतों को स्वायत्तता प्रदान करने के साथ जनकल्याण के मकसद से ग्रामीण क्षेत्रों में विकास को प्रमुख कार्यक्रमों की सूची में शामिल किया। द्वितीय विश्वयुद्ध और 1943 में बंगाल में अकाल के दौरान खाद्यान्न संकट बहुत बड़ी समस्या बनकर उभरा। ऐसे में उस दौर में 'Grow More Food Campaign' की शुरुआत हुयी, जिसके तहत किसानों को निःशुल्क बीज वितरण, कुआं निर्माण, फसल के न्यूनतम शुल्क निर्धारण जैसी सुविधाएं दी गयीं। हालांकि, तब जमींदारी के चलते छोटे किसानों एवं जमींदारों के खेतों पर मजदूरी करने वाले ग्रामीणों के लिये इससे बहुत अधिक लाभान्वित होने की संभावना नहीं थी।

1947 में आजादी के बाद सामुदायिक विकास उच्च प्राथमिकता पर आया। 1948 में इटावा परियोजना के नाम से एक पायलट प्रोजेक्ट लांच किया गया। 1952 आते–आते भारत सरकार ने 300 गांवों में 30 हजार से अधिक आबादी के लिये 55 सामुदायिक परियोजनाएं प्रारंभ कर ली थीं। ये परियोजनाएं बहुआयामी थीं, लेकिन इनका मुख्य फोकस कृषि पर ही था। हालांकि, जो क्षेत्र इन परियोजनाओं के लिये चुने गये थे, वे या तो सिंचाई सुविधा से जुड़े हुए थे अथवा वहां वर्षा की अच्छी संभावनाएं थीं। 1953 में National Extension Service Project लांच किया गया, जिसमें सूखाग्रस्त क्षेत्रों को भी शामिल किया गया। तीनवर्षीय इस परियोजना के जरिये 150 से 300 गांवों को सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के संचालन के लिये चुना गया। इन सामुदायिक विकास ब्लॉकों को सामान्य प्रशासनिक इकाइयों की तरह देखा गया, जिनमें योजनाओं और विकास कार्यों के लिये नियमित बजट जारी किया जाता था।

पहली पंचवर्षीय योजना (1952–57) के समाप्त होने तक देशभर में 1114 ब्लॉक 1,63,000 गांवों के लिये तैयार हो चुके थे, जबकि 1960 तक सामुदायिक विकास परियोजना पूरे देश में लागू हो गयी थी। परियाजना का मुख्य उद्‌देश्य ऐसे समुदाय का विकास था, जहां जीवनस्तर की उच्च परिस्थितियां उपलब्ध हों और नागरिकों को पूर्ण अधिकार तथा समानता हासिल हो (Sachidananda, 1988). कार्यक्रम ने ग्रामीण निर्धनों की उन्नति, खेती, पशुपालन, सड़क, शिक्षा, रोजगार, आवास, सामाजिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों, कृषि आधारित अर्थव्यवस्था के विकास, साक्षरता, स्वास्थ्य, स्वच्छता, परिवहन एवं संचार जैसी सुविधाओं को बढ़ावा देने पर भी ध्यान केन्द्रित किया।

1950 से 1970 के बीच इन कार्यक्रमों का कोई अपेक्षित परिणाम नहीं निकला, जबकि निर्धनता का स्तर लगातार बढ़ रहा था। पूर्वी और दक्षिणी एशियाई देशों के मुकाबले भारतीय अर्थव्यवस्था धीमी थी। 1965 में भूमिसुधार कानून ने सामंती–उपनिवेशी मानसिकता के अवशेषों को भी ध्वस्त कर दिया, लेकिन इसके तहत कानूनों को लागू किये जाने के बावजूद भूमिहीनों तथा निर्धनों को जमीनों का नियंत्रण नहीं मिल सका (विशेषतः उत्तर भारत में)। इस दौर में गरीबी के स्तर में उतार–चढ़ाव दर्ज किया जाता रहा। 1960 के अंत और 1970 के दशक की शुरुआत तक मानसून की कमी के कारण वर्षा सामान्य से कहीं कम होने के कारण निर्धनता का स्तर काफी अधिक बढ़ गया। यहां तक कि कृषि विकास को लेकर संचालित किये जा रहे कार्यक्रम भी खाद्योत्पादन बढ़ाने के लक्ष्य में नाकाम रहे। 70 के दशक में भारत को अनाज आयात करने पर मजबूर होना पड़ा। इसकी वजह आबादी में खासी बढ़ोतरी होना था। खेती सो उत्पादन में सुधार, शिक्षा में सुधार के प्रयास भी इस दिशा में काम नहीं आ सके। 1952 से 1967 के बीच सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को मिलने वाले संसाधन भी बेहद कम थे। आंकड़ों में बात करें तो प्रति व्यक्ति यह मुश्किल से दस रुपये ही होता था।

7.3: पंचायती राज (Panchayati Raj)

सामुदायिक विकास कार्यक्रम लांच किये जाने के पांच साल बाद, यानी 1957 में सरकार ने बलवंत राय मेहता समिति का गठन इस कार्यक्रम के संचालन में आने वाली बाधाओं को दूर करने के लिये किया। समिति ने तीन स्तरीय ग्रामीण स्थानीय शासन की स्थापना का सुझाव दिया, जिसे पंचायती राज कहा गया। इसके तहत ग्राम स्तर पर ग्राम पंचायत, ब्लॉक स्तर पर पंचायत समिति और जिला स्तर पर जिला परिषद बनायी जानी थी। इसका मकसद निर्णय निर्धारण की प्रक्रिया को विकेन्द्रीकृत करने के साथ निर्णय लेने वाले केन्द्रों को जनता के करीब लाना, विकास कार्यों में उनकी सहभागिता बढ़ाना और अधिकारियों को जनता के नियंत्रण के अधीन लाना था। हालांकि, पंचायती राज भी जनता और नियोजनकर्ताओं की अपेक्षाओं पर पूरी तरह खरा नहीं उतर सका। इसकी वजह स्थानीय समुदाय में सामाजिक और आर्थिक रूप से संपन्न वर्गों का प्रभुत्व था, जो कमजोर वर्गों के कल्याण की अनदेखी करते थे। अन्य कारणों की बात करें तो इनमें राजनीतिक प्रतिद्वंद्विता के चलते पंचायत सदस्यों के बीच होने वाली खींचतान, अक्षमता और भ्रष्टाचार भी रहे। (Maheshwari, 1985). साठ के दशक के मध्य में एक बार फिर कृषि राष्ट्रीय प्राथमिकता में आयी और कृषि उत्पादन में तकनीकी इस्तेमाल पर जोर दिया गया। चौथे और पांचवें पंचवर्षीय योजना (1969–74 और 1974–1979) में स्वायत्त पदानुक्रम प्रशासनिक इकाइयों से इतर विशेष कार्यक्रम लागू किये गये। पंचायती राज व्यवस्था से इतर Small Farmers' Development Agency (SFDA), Intensive Agricultural Areas Programme (IAAP), Intensive Agricultural District Programme (IADP), Tribal Development Agency (TDA), Marginal, Small Farmers and Agricultural Labourers Development Agency (MFAL) जैसे कार्यक्रम संचालित करने के साथ कमांड एरिया डेवलपमेंट, सूखा प्रभावित क्षेत्र और पर्वतीय क्षेत्र विकास कार्यक्रम जैसी नीतियां लागू की गयीं। ये सभी योजनाओं सीधे तौर पर केन्द्र सरकार द्वारा चलायी जाती थीं।

7.4: एकीकृत ग्राम्य विकास कार्यक्रम (Integrated Rural Development Programme)

60 के दशक में सरकार द्वारा संचालित विशेष कार्यक्रमों ने देश में कृषि और खाद्यान्न उत्पादन में खासी मदद की, लेकिन इसका सर्वाधिक लाभ उन्हीं लोगों ने लिया, जिनका संसाधनों पर प्रभुत्व था। छोटे किसान दरकिनार कर दिये गये, उनकी आर्थिक स्थिति इसलिये भी खराब होती गयी, क्योंकि बड़े किसानों ने उन्हें अपनी जमीनों पर खेती करने देने से इनकार कर दिया। इस समस्या से निपटने के लिये 1979 में Integrated Rural Development Programme (IRDP) लागू किया गया, जिसका मकसद समाज के निर्बल वर्गों, विशेषकर निर्धन वर्गों को पर्याप्त आर्थिकी के अवसर प्रदान करना था। सातवीं और आठवीं पंचवर्षीय योजनाओं में इस कार्यक्रम में कुछ अपेक्षित बदलाव भी किये गये। इनमें अवस्थापना और रोजगार योजनाओं के बीच समन्वय, सब्सिडी के बजाय ऐसे कार्यक्रम लागू करना जो स्वरोजगार को प्रेरित करें, ब्लॉक और जिला ग्राम विकास विभाग के जरिये विभिन्न कार्यक्रमों का विकेन्द्रीकरण आदि शामिल थे। इनके अलावा कई अन्य सहायक योजनाएं Development of Women and Children in Rural Areas (DWCRA), Training of Rural Youth for Self-employment (TRYSEM), National Rural Employment Programme (NREP), Jawahar Rojgar Yojana (JRY) आदि भी निर्बल वर्ग के लिये लागू की गयीं। 80 के दशक तक निर्धन वर्ग की कई जरूरतों जैसे साक्षरता, स्वास्थ्य, जल वितरण, सड़कें, विद्युतीकरण, आवास एवं पोषण को लेकर सरकार काफी हद तक कदम आगे बढ़ा चुकी थी। 1993–94 में देश की 32.37 प्रतिशत आबादी गरीबी की श्रेणी में आती थी। सामान्य जाति के

मुकाबले अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातियों में निर्धनता का यह आंकड़ा 17 से 22 प्रतिशत तक अधिक था। इसकी मुख्य वजह उनका भूमिहीन, निरक्षर होना थे।

7.5: जनसहभागिता पर जोर (Emphasis on People's Participation)

ग्राम्य विकास को लेकर कई कार्यक्रमों के संचालन के बावजूद निर्धन वर्ग के सतत जीवनस्तर में कोई महत्वपूर्ण बदलाव नहीं दिखा। शक्तियों के केन्द्रीकरण एवं विकास कार्यक्रमों में जनसहभागिता पंचायतीराज व्यवस्था की स्थापना का मुख्य उद्देश्य थे। यद्यपि इसे लोकतंत्र की आत्मा के रूप में लोगों की सहभागिता को बढ़ाने की एकमात्र उपाय माना जाता था, फिर भी इस व्यवस्था ने ग्रामीण क्षेत्रों में तनाव और अलगाव को बढ़ा दिया। इस स्थिति ने पंचायतीराज व्यवस्था में सुधार की जरूरत पर बल दिया, जिसके चलते 1992 में 72वें संविधान संशोधन के जरिये जनसंपर्क (PR) संस्थानों की स्थापना की गयी, जिनका काम विकास कार्यक्रमों और विकेन्द्रीकृत नियोजन में मदद था। उस समय तक सभी कार्य सरकारी तंत्र द्वारा ही संपन्न किये जाते थे और ग्रामीणों के लिये इनमें सहभागिता के पर्याप्त अवसर उपलब्ध नहीं थे। इसके चलते ग्रामीणों में निर्भरता का भाव बढ़ता जा रहा था और सरकारी अधिकारियों में तानाशाही रवैया बढ़ता देखा जा रहा था (Thapliyal, 1995). संविधान में संशोधन के बाद विकास संबंधी 29 क्षेत्र जनसंपर्क संस्थानों को सौंप दिये गये, इनमें कृषि, वानिकी एवं पर्यावरण, उद्योग, अवस्थापना, बुनियादी जरूरतें, समाज कल्याण, गरीबी उन्मूलन, सामुदायिक संपत्तियों का रखरखाव शामिल थे। ग्राम स्तर पर विकास की सूक्ष्म योजनाएं तैयार और लागू कर पाने में ग्राम पंचायतों की कमजोर स्थिति को ध्यान में रखते हुए जिला योजना समितियों को और शक्तिशाली किया गया। इनमें विभिन्न सरकारी और गैर सरकारी संस्थाओं के प्रतिनिधियों को भी सदस्य बनाया गया।

छोटे स्तर पर नियोजन के लिये ग्रामसभाओं के सशक्तीकरण का प्रस्ताव रखा गया। ग्राम पंचायतें ग्रामसभा में वार्षिक योजनाओं पर चर्चा और प्रस्ताव पारित करती हैं। इसके जरिये विभिन्न विकास कार्यक्रमों को लागू करने में प्राथमिकताएं भी तय करती हैं। इसी के साथ ऐसी सतत व्यवस्था की भी जरूरत है, जिसमें ग्रामीण ग्रामसभा की गतिविधियों में सक्रिय सहभाग कर सकें। सहभागिता की अनुपस्थिति में कुछ लोग निहितार्थों के लिये प्रक्रिया को अपने पक्ष में मोड़ने का प्रयास कर सकते हैं। किसान संगठनों, स्वयं सहायता समूहों, शैक्षिक संस्थानों और अन्य स्वयंसेवी संगठनों की ओर से ग्रामसभा में अपने प्रतिनिधियों को शामिल करना प्रक्रियाओं में सहभागिता एवं आम जनता के हितों की सुरक्षा को सुनिश्चित करता है (Hegde, 1999).

7.6: गैर सरकारी संगठनों की भूमिका (Role of NGOs)

भारत में ग्राम्य विकास योजनाओं को लागू करने में सफलता का एक महत्वपूर्ण कारक निर्धन वर्गों की सक्रिय सहभागिता को सुनिश्चित करना है। विभिन्न योजनाओं का निर्धन और उपेक्षित वर्गों तक सही लाभ पहुंचाने के लिये जनसंगठनों के विकास की भी जरूरत है। विकास प्रक्रिया में लोगों की सहभागिता सुनिश्चित करने के लिये उन्हें किसी कार्यक्रम के नियोजन के प्रारंभिक चरण से ही विश्वास में लेना आवश्यक है। पायलट प्रोजेक्ट के तौर पर शुरू किये गये कई नवोन्मेषी कार्यक्रमों ने यह साबित किया कि कई बार निर्धन लोगों की ओर से दिये गये छोटे–छोटे सुझावों के भी बेहतरीन परिणाम मिले हैं। इस दृष्टिकोण के लिये कार्यक्रमों में लचीलापन होना जरूरी है। लक्षित परिवारों को कार्यक्रम के बेहतर ढंग से लागू होने में उत्तरदायित्व सुनिश्चित करना चाहिये, जबकि इन्हें लागू करने वाले संस्थानों को उत्प्रेरक की भूमिका निभानी चाहिये। इस एकीकृत ग्राम्य विकास के लक्ष्य में स्वयंसेवी संस्थाएं महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती हैं (Sachidananda, 1988).

स्वयंसेवी संस्थाएं या गैर सरकारी संस्थाएं (NGOs) का फोकस मुख्यतः आम आदमी की समस्याओं का स्वयंसेवी तौर पर निस्तारण एवं चुनौतियों से निपटने में मदद करना है। इन संस्थाओं का प्रमुख गुण इनका मानवीय पहलुओं से जुड़े होना है। स्वयंसेवियों की निष्ठा, समुदायों से उनके बेहतर संबंध, कार्यक्रमों का लचीलापन, समस्याओं के निस्तारण को लेकर नवोन्मेषी दृष्टिकोण से बेहतर सफलता प्राप्त की जा सकती है। ग्राम्य क्षेत्र में गहरी पैठ बनाने वाली संस्थाएं सामुदायिक विकास में प्रभावी उत्पादकता ला सकती हैं (Paul Choudhary, 1990).

70 के दशक में इस जरूरत को महसूस किया गया। प्रारंभ में धार्मिक संस्थानों की ओर से चलाये जाने वाले शैक्षिक और स्वास्थ्य संस्थानों में जनसहभागिता बढ़ी थी। बाद में विदेशी मदद के सहयोग से कृषि मंत्रालय ने 'Freedom from Hunger Campaign' नाम से अभियान चलाया, जिसका लक्ष्य ग्राम्य विकास से जुड़ी गैरसरकारी संस्थाओं को मदद देना था। इस अभियान को कुछ समय बाद पुनर्गठित किया गया और 'People's Action for Development-India (PAD-I) नाम दिया गया। 1986 में इसे Council for Advancement of Rural Technology में शामिल किया गया और इसका नाम बदलकर Council for Advancement of People's Action and Rural Technology (CAPART) किया गया। तब से कापार्ट ग्राम्य विकास से जुड़ी स्वयंसेवी संस्थाओं को आर्थिक मदद दे रहा है। बीते दो दशकों में गैर सरकारी संस्थाओं की मदद से विकास प्रक्रिया में खासा असर देखा गया है, जिसने राज्य सरकारों को भी जनसहभागिता संबंधी कार्यक्रमों के संचालन को प्रेरित किया है। केन्द्र सहायतित कई योजनाओं में समुदाय आधारित संस्थाओं को नियोजन और कार्यक्रमों को लागू करने में मदद के लिये विकसित किया है।

खेती, स्वरोजगार, कुटीर उद्योग जैसी सुविधाओं के जरिये गांवों में ही अवसरों की उपलब्धता के मकसद से बैंकों से छोटे ऋण उपलब्ध कराने की योजना प्रारंभ की गयी। रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया ने भी सभी बैंकों के लिये यह गाइडलाइन दी कि निर्धन वर्ग द्वारा विकास गतिविधियों के संचालन के लिये 25 हजार रुपये तक लिये जाने वाले लोन के लिये किसी तरह की अतिरिक्त 'सिक्योरिटी' लेने की जरूरत नहीं है। यही वजह रही कि 1995–96 में ढाई अरब से अधिक का लोन बांटा गया। इसमें से 50 प्रतिशत राशि सहकारी समितियों द्वारा, जबकि आधी रकम विभिन्न बैंकों की ओर से ग्रामीणों को दी गयी। फिर भी, चूंकि बैंकों की औपचारिक प्रक्रियाएं अधिकतर ग्रामीणों के लिये सुविधाजनक नहीं थीं। बैंक गांवों से काफी दूरी पर भी स्थित होते थे और वहां से ऋण लेना ग्रामीणों, निर्धन वर्गों के लिये खासा खर्चीला हो जाता था। ऐसे में ग्रामीणों को गांव में ही आर्थिक मदद उपलब्ध कराने के लिये कई गैर सरकारी संस्थाओं के स्तर पर ही बैंकिंग संस्थानों की स्थापना की गयी।

7.7: सतत विकास रणनीति (Strategy for Sustainable Development)

यह जरूरी है कि विकास कार्यक्रम समस्याओं को समझें–जानें, तभी वे संसाधनों और तकनीक की मदद से इन समस्याओं के निदान के विकल्पों को सुझा सकते हैं। कृषि विकास कार्यक्रम में भूमि की गुणवत्ता, पानी की मात्रा, मौसम की परिस्थितियां, उपयोगी और उत्पादक फसलों का चयन जैसे बिंदु सफलता के लिये जरूरी हैं। परियोजना में समयबद्ध रूप से जानकारी देना, वित्तीय व्यवस्था, उत्पादन से अधिकतम लाभ के लिये सक्षम बाजार की उपलब्धता आवश्यक है। इन सब बिंदुओं को बेहतर ढंग से समझने और ग्राम्य विकास में स्वयंसेवी संस्थाओं की मदद मिलती है।

ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर उत्पन्न करने वाली विभिन्न गतिविधियों को चलाने का पर्याप्त मौका है। इन गतिविधियों को कृषि आधारित और गैर कृषि आधारित गतिविधियों में बांटा जा सकता है। उदाहरण के लिये कृषिप्रधान क्षेत्रों में कृषि आधारित रोजगार उपलब्ध कराने की योजनाएं कारगर हो सकती हैं, क्योंकि

वहां के किसानों को इसके लिये आवश्यक संसाधनों और कौशल की जानकारी होती है। हालांकि, भूमि आधारित कार्यक्रमों में सीमित क्षमता ही होती है। ऐसे में कृषि आधारित संभावनाओं के विकास के बाद गैर कृषि संभावनाओं को भी विकसित किया जाना चाहिये, ताकि रोजगार की उपलब्धता सतत बनी रहे। कृषि आधारित गतिविधियों में भूमि सुधार, भूमिक्षरण को कम करना, जल संचय, बंजर भूमि में उत्पादन को बढ़ाना, नयी उत्पादन कृषि तकनीकों का विकास, उत्पादन के बाद बाजार की उपलब्धता जैसे पहलू ध्यान में रखे जाने चाहिये। इसके साथ ही फलोत्पादन, उद्यानिकी, नकदी फसलों, रेशम के कीड़े, मौनपालन जैसी अन्य गतिविधियों को भी इसमें शामिल किया जाना चाहिये, जिनमें बेहतर उत्पादन और रोजगार के अवसर हैं।

Figure 2.

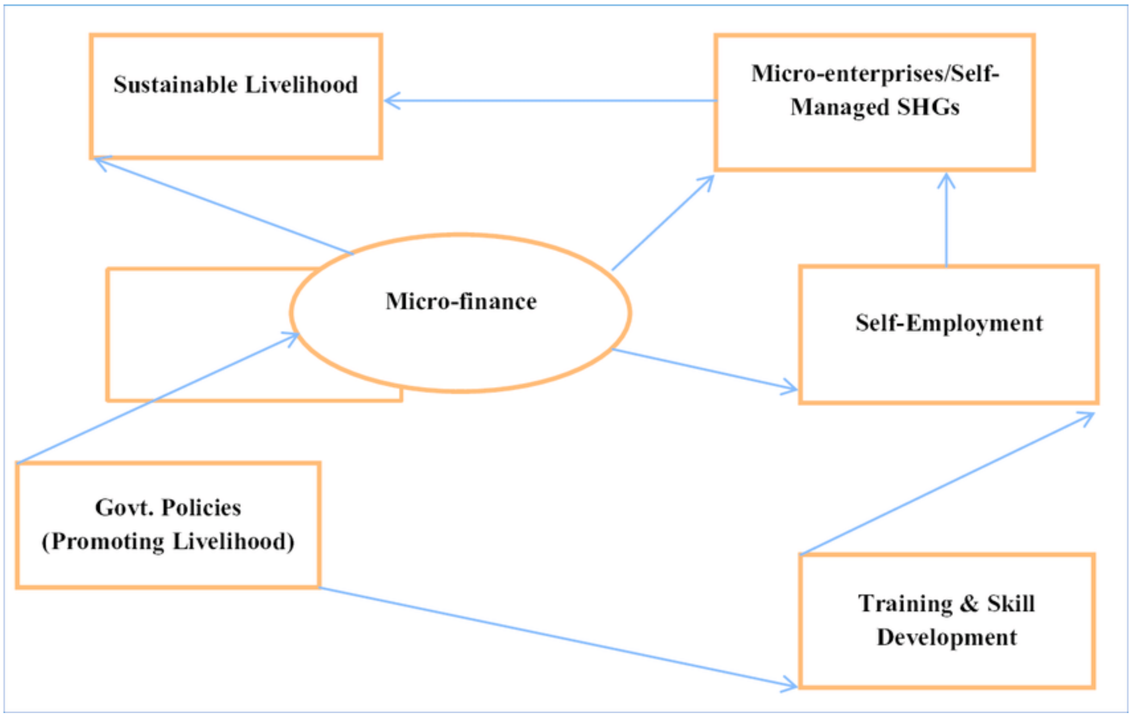

कृषि उत्पादन के लिहाज से कम उपयोगी जमीन पर चारा, ईंधन, गोंद, रबर, मोम, लाख और कागज, आयुर्वेदिक औषधियों के लिहाज से उत्पादन किया जा सकता है। गायों, भैसों, बकरी, भेड़, मुर्गी, सुअर पालन के जरिये दूध, मीट, अंडे, ऊन और अन्य उत्पादों से किसानों को जोड़ा जा सकता है। पशुपालन और कृषि परस्पर संबंधित हैं और कृषि के अन्य विकल्प भी इनमें शामिल कर दिये जायें तो ये किसानों के लिये सतत आर्थिकी का माध्यम बन सकते हैं। बाजारों के विकास से उत्पादन का बेहतर लाभ मिलने की क्षमता को बढ़ाया जा सकेगा। मत्स्य पालन भी नदियों, समुद्र और झीलों के आसपास बसे क्षेत्रों में आजीविका का बेहतर अवसर बन सकता है। ग्रामीण क्षेत्रों में गैर कृषि आधारित रोजगार के अवसर बेहद सीमित होते हैं। हालांकि, स्वयं सहायता समूहों के जरिये छोटी इकाइयां स्थापित की जा सकती हैं। इनमें कृषि सेवा केन्द्र, कृषि उपकरण निर्माण, खाद्य प्रसंस्करण और पैकिंग, वस्त्र निर्माण, हथकरघा, रेशा उत्पादन, हस्तकला आदि शामिल हैं। उद्योगों में रोजगार की सुनिश्चितता की कमी से ग्रामीणों को स्वरोजगार की ओर बढ़ना ही होगा और ऐसे कार्यक्रमों में लोगों की सहभागिता इसमें शामिल गतिविधियों की प्रकृति पर निर्भर करेगी। उपयोगी विकास के लिये कार्यक्रमों का चयन निम्न मापदंडों पर किया जा सकता है:

1. सामाजिक स्वीकार्यता एवं जनसहभागिता

2. प्राकृतिक संसाधनों एवं बाहरी स्रोतों की उपलब्धता
3. बाहरी तकनीक पर बहुत अधिक निर्भर हुए बिना कार्यक्रम के सफल संचालन का कौशल
4. सहभागी लोगों में कम जोखिम पर कार्यक्रम चलाने की योग्यता
5. उत्पादन की बाजार में मांग और उपलब्धता, विपणन व्यवस्था
6. आर्थिक व्यावहारिकता एवं उच्च लाभ क्षमता
7. वर्षभर रोजगार की उपलब्धता

इस प्रक्रिया में स्थानीय संस्थानों की स्थापना के जरिये लक्षित समूहों में क्षमता का विकास भी आवश्यक है। ये संस्थाएं उत्पादन के विपणन, जरूरी वस्तुओं की खरीद, उत्पादन के बाबत प्रतिक्रिया–सुझाव आदि का काम कर सकते हैं। श्रमिकों की उपलब्धता और उनके शैक्षिक स्तर के अनुसार आवश्यक कौशल का चयन करना भी महत्वपूर्ण बिन्दु है। हालांकि, अधिकतर गांवों में श्रम आसानी से और भारी मात्रा में उपलब्ध होता है, जबकि कृषि आधारित परियोजनाओं के लिये अधिक जटिल कौशल की भी आवश्यकता नहीं होती। ऐसे में श्रम–श्रमिक की उपलब्धता गांवों के लिये महत्वपूर्ण कारक नहीं है, बल्कि लोगों का कार्यक्रमों में सक्रिय रूप से सहभागी बनना इसकी सफलता के लिये आवश्यक है।

उपरोक्त समस्याओं के निस्तारण के लिये विभिन्न स्तरों पर अवस्थापना विकास, लोगों की जागरूकता, सप्लाई, वित्तीय व्यवस्था, उत्पादन के बाद प्रसंस्करण, विपणन आदि की व्यवस्था जरूरी है। कृषि क्षेत्र में विपणन (Marketing) की ठीक व्यवस्था नहीं होना बड़ी दिक्कत है। किसानों को विभिन्न अनाजों की मांग के प्रति जागरूक होना चाहिये, ताकि उन अनाजों की उपलब्धता सुनिश्चित हो सके, बिचौलियों के बजाय किसानों के लिये सीधे बाजार तक पहुंच बढ़ाना भी जरूरी है। वर्तमान में कृषि विपणन बोर्ड, दुग्ध सहकारी समितियों के जरिये फसलों, अनाजों, कृषि उत्पादन के विपणन की व्यवस्था की जाती है, लेकिन ये राजनीतिक तौर पर संचालित होते हैं। इन सहकारी समितियों में से अधिकतर स्पर्धा के दौर में टिक नहीं पाते। इसके चलते कुप्रबंधन और उपेक्षा के चलते ये नुकसान में ही चलती हैं, जिसका सबसे बुरा असर इनसे जुड़े किसानों पर पड़ता है।

7.8: उन्नति के लिये जनप्रयास (People's Initiatives for Progress)

Figure 3.

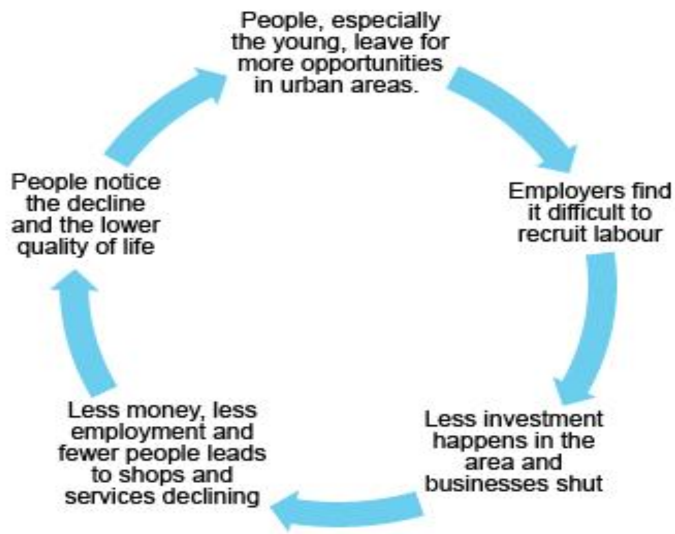

विभिन्न राज्यों में किसानों ने गन्ना, तेल, दूध, फल, सब्जी प्रसंस्करण के लिये सहकारी समितियों की स्थापना की है। पेशेवर प्रबंधन और आधुनिक तकनीक की मदद से इन संस्थानों ने किसानों को आर्थिक स्थिरता देने के साथ बिचौलियों के शोषण से भी मुक्त रहने में मदद की है। देशभर में ऐसे संस्थानों को और अधिक मजबूत करने की दिशा में प्रयास चल रहे हैं। राष्ट्रीय स्तर पर चल रहे जल संसाधन विकास कार्यक्रम में गैर सरकारी संस्थाओं की सहभागिता ने जल प्रबंधन की दिशा में लोगों को जागरूक और प्रोत्साहित किया है। इनके जरिये योजना–परियोजनाओं का निर्माण और क्रियान्वयन किया जा रहा है। इस कार्यक्रम ने बेहतर पेयजल वितरण व्यवस्था के साथ जल और ऊर्जा स्रोतों के संरक्षण को लेकर उल्लेखनीय उपलब्धि हासिल की है। अन्य क्षेत्रों में भी इसी तरह जन संगठनों को प्रोत्साहित करने, आवश्यक अवस्थापना विकास के जरिये आर्थिक समृद्धि हासिल की जा सकती है। जनसहभागिता, स्वयंसेवी समूहों के प्रोत्साहन के कार्यक्रम नवीं पंचवर्षीय योजना (1997-2002) और स्वर्ण जयंती ग्राम स्वरोजगार योजना (SGSY-1999) में शामिल किये गये। स्वयं सहायता समूह (Self Help Group) में सामाजिक–आर्थिक रूप से पिछड़े समूहों के दस से बीस लोग जुटकर अपनी बचत जमा करते हैं और इस रकम को किसी जरूरतमंद को लोन के तौर पर दिया जाता है। इस प्रक्रिया के दौरान ये लोग अपनी विभिन्न समस्याओं पर चर्चा करने के साथ इनके समाधान के रास्ते भी तलाशते हैं। सरकार के स्तर पर ऐसे अभियानों को पूरा सहयोग दिया जाता है, जो भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में सतत विकास प्रक्रिया को बढ़ावा देने और ग्रामीणों के जीवनस्तर में अपेक्षित सुधार की दिशा में कारगर है।

7.9: मूल मुद्दे एवं चुनौतियां (Key Issues and Challenges)

निर्धनता के आयामों का समग्र मूल्यांकन क्षेत्रवार एवं राष्ट्रीय स्तर पर करें तो स्पष्ट होता है कि पर्वतीय क्षेत्रों में विकास से जुड़े मुद्दे और उनकी चुनौतियां इन क्षेत्रों में विभिन्न भौतिक एवं स्थलीय गुणों, परंपराओं, जैविक संसाधनों की उपलब्धता, इतिहास–संस्कृति और प्रशासनिक व्यवस्थाओं आदि के लिहाज से विविधता भरी होती हैं। विभिन्न देशों में भी ये अलग–अलग होते हैं।

7.10: नीतियां (Policies)

- पर्वतीय क्षेत्रों के दृष्टिकोण से देखें तो, पहुंच में मुश्किल, उपेक्षा, विविधता, नाजुक पारिस्थितिकी आदि के चलते यहां पर्वतीय क्षेत्रों के लिये संवेदनशील नीतियों के निर्माण की जरूरत है। यह न सिर्फ पर्वतीय समुदायों की ओर उपेक्षा की स्थिति में सुधार लायेगा, बल्कि पर्वतीय क्षेत्रों में तुलनात्मक रूप से विकास कार्यों के जरिये सामाजिक समानता के उद्देश्य को भी पूरा कर सकेगा।

- हिन्दूकुश–हिमालयी (HKH) क्षेत्र के पर्वतीय क्षेत्रों में निर्धनता की स्थिति से निपटने के लिये विस्तृत रणनीति की आवश्यकता है जो आर्थिक विकास, सामाजिक समानता, भावी पीढ़ियों के लिये बेहतर अवसर, पर्यावरणीय सततता जैसे विषयों पर दृढ़तापूर्वक काम कर सके। यहां यह जरूरी है कि पर्वतीय क्षेत्रों के विकासपरक मुद्दों की ठीक से पहचान हो, जिनमें संबंधित लोगों के जीवनस्तर, निर्धनता, पर्वतीय कृषि, पर्यावरण आदि मुद्दों को एकीकृत दृष्टिकोण से देखा जा सके।

- पर्वतीय विकास कार्यक्रमों के सफल संचालन के लिये राष्ट्रीय एवं स्थानीय स्तर पर बेहतर तालमेल आवश्यक है। इस प्रक्रिया में विभिन्न हितधारकों की भूमिका की पहचान की जानी जरूरी है, ताकि गैर सरकारी संस्थाओं की मदद से उपेक्षा संबंधी मसलों को हल किया जा सके। उदाहरण के लिये समुदाय आधारित बैंकिंग और वनोत्पादन उपयोग। निजी क्षेत्रों और नागरिक समितियों की सहभागिता ने भी नवोन्मेषी प्रक्रियाओं के जरिये लोगों की समस्याओं के समाधान की दिशा में मदद की है। चारागाह, वन और जल जैसे सीमामुक्त संसाधनों के उपयोग के लिये समन्वय की नीतियों का निर्माण किया जाना चाहिये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये परस्पर सहयोग और प्रतिद्वंद्विता मुक्त तंत्र के निर्माण की आवश्यकता महसूस होती है।

- ग्रासरूट स्तर पर जरूरतों की पहचान और इन्हें पूरा करने के लिये क्षमताओं के विकास के लिये नीतियों का निर्माण होना चाहिये जो विभिन्न क्षेत्रों में लोगों को सहभागिता के लिये प्रेरित और प्रोत्साहित करे। शोध और विकास कार्यों, विपणन के अवसर, पारंपरिक ज्ञान को सहेजने, आदिवासी और पारंपरिक समुदायों के ज्ञान पर बौद्धिक स्वामित्व अधिकार को प्रोत्साहन देना जरूरी है। पर्वतीय विकास नीतियों में स्थानीय शक्तियों की पहचान, विविधताओं और इन सबके बीच जनसहभागिता को बढ़ावा देने की जरूरत है।

- पर्वतीय समुदायों में अकसर जमीन, वन पर स्वामित्व अधिकार और आर्थिक, शैक्षिक व स्वास्थ्य संबंधी सेवाओं तक पहुंच की कमी की दिक्कतें सामने आती हैं। इसकी बड़ी वजह इन क्षेत्रों का दूरस्थ एवं दुर्गम होना तो है ही, नीति नियामक संस्थाओं के भी अप्रासंगिक प्रतिनिधित्व भी कारण है। ऐसे में सेवाओं–सुविधाओं के समान वितरण, अवस्थापना विकास, अवसरों और संसाधनों की समान उपलब्धता सुनिश्चित करना आवश्यक होता है।

7.11: पर्वतीय कृषि एवं जीवनस्तर की विविधता (Mountain Agriculture and Diversification of Livelihoods)

- पर्वतीय क्षेत्रों में कृषि (विशेषकर अनाज उत्पादन) पर्वतीय लोगों के लिये भी अपर्याप्त होती है। पर्वतीय किसानों को नुकसान झेलना पड़ता है, जो इन क्षेत्रों में कृषि की ओर लोगों का झुकाव कम

होने की वजह है। कृषि से इतर गतिविधियों में भी पर्वतीय लोगों का जुड़ना पुराने समय से ही आवश्यक बना रहा है। हालांकि, बदलते समय के साथ ये तरीके भी कमतर होते जा रहे हैं।

- पर्वतीय लोगों के पास उपलब्ध बेहद सीमित अवसरों को देखते हुये यह महसूस किया जाने लगा है कि अनुपयोगी और उपेक्षित जमीनों की भविष्य में खाद्य सुरक्षा को सुनिश्चित करने में बड़ी भूमिका होगी। ऐसे में पर्वतीय क्षेत्रों में विकेन्द्रीकृत एवं नवोन्मेषी दृष्टिकोण की आवश्यकता है।
- हिन्दूकुश–हिमालयी क्षेत्र में विभिन्न क्षेत्रों में कृषि कार्यों का रूपांतरण कारगर साबित हुआ है। सड़कों, बाजारों, सहयोगी सेवाओं के विकास से पहुंच बढ़ी है, फसलों की विविधताओं, औद्यानिकी और अन्य उच्च नगदी फसलों के जरिये लोगों को लाभ भी मिला है। पशुधन की गुणवत्ता में उल्लेखनीय बदलाव देखे गये हैं। हालांकि खाद्य सुरक्षा की दिशा में खाद्य की उपलब्धता, क्रयशक्ति और सक्षम वितरण व्यवस्था के विकास के बिना विविधता को पा सकना संभव नहीं है।
- कृषि कार्यों से जुड़े आर्थिक सुधारों का अध्ययन सावधानी से किया जाना चाहिये। उपेक्षित किसानों को कृषि के बेहतर विकल्प देना, बाजार की व्यवस्था, सामाजिक समानता मूल बिन्दु हैं।
- हिन्दूकुश–हिमालयी क्षेत्रों में पर्यटन विकास रोजगार और बेहतर जीवनस्तर का जरिया बना है। पर्यटन के सामाजिक और पर्यावरणीय पहलू भी उभरते हैं, जिनमें ईंधन की लकड़ी की बढ़ी मांग, पर्वतीय क्षेत्रों में निर्माण की अधिकता, कचरा, भूउपयोग में परिवर्तन और सामाजिक–सांस्कृतिक प्रभाव आदि शामिल हैं।
- पर्वतीय क्षेत्रों में कौशल आधारित उद्यमों के विकास की संभावनाएं हैं। हालांकि, इसके लिये नीतियों का पर्वत आधारित होना और उद्यमों का परिवर्तन की ओर उद्यत और मूल्य आधारित होना जरूरी है। बाजार, उत्पाद की मांग के अनुरूप उत्पादन, एकीकृत नीतियां आदि आवश्यक बिन्दु हैं।
- खेती के लिये अनुपयुक्त मौसम के दौरान पर्वतीय क्षेत्रों में प्रेषित धन जीवन के लिये बुनियादी जरूरतें जुटाने में अहम भूमिका निभाता है। यह धन पर्वतीय क्षेत्रों से पलायन कर बाहर गये लोगों द्वारा भेजा जाता है। पलायन की स्थिति में बदलाव (अस्थायी से स्थायी की ओर और एकल से पूरे परिवार के पलायन तक) के लिहाज से यह देखना भी आवश्यक है कि बाहर से आने वाला धन आगे भी इसी तरह आता रहेगा या नहीं। पर्वतीय लोगों के लिये ऐसा कितना धन जरूरी है, यह भी अध्ययन होना जरूरी है

7.12: खाद्यान्न अभाव, प्राकृतिक आपदाएं, विपत्तियां, जोखिम (Food Deficit, Natural Hazards, Adversities, Risks and Vulnerability)

- बढ़ती जनसंख्या, घटते संसाधन एक बड़े संकट की ओर इशारा करते हैं। पर्वतीय किसानों के लिये प्राकृतिक आपदाएं, खाद्य संकट, भूमिहीनता, संक्रामक रोग, कीट, महामारी जैसे जोखिम बढ़ते जा रहे हैं। हालांकि, ये समस्याएं पर्वतीय लोगों के लिये नयी नहीं हैं, लेकिन इनके चलते पर्वतीय लोगों पर होने वाले असर में बढ़ोतरी पहले के मुकाबले कहीं अधिक हो चुकी है।
- हिन्दूकुश–हिमालयी क्षेत्रों में हाल के दौर में देखा गया महत्वपूर्ण परिवर्तन जनसांख्यिकी आधारित है। यहां अपेक्षाकृत युवा आबादी बढ़ी है और पुरुष आबादी बड़ी संख्या में नगद आय की तलाश में शहरों की ओर पलायन कर रही है। इस नये रुझान से पर्वतीय क्षेत्रों में पुरुषों की संख्या में खासी कमी आयी है, जिसके चलते कृषि संबंधी कार्यों का बोझ भी महिलाओं पर आ गया है। दूसरी ओर, इस क्षेत्र के कई इलाकों में मैदानी क्षेत्रों से लोगों का पर्वतीय क्षेत्रों की ओर पलायन भी दर्ज किया जा रहा है। इसके चलते कई क्षेत्रों में आदिवासी और पारंपरिक समुदायों के नवागंतुकों के साथ पारंपरिक और सांस्कृतिक टकराव बढ़ने से सामाजिक स्तर पर बेचैनी देखी जाती है।

- यद्यपि फसली भूमि के विस्तार के साथ कृषि सघनता भी बढ़ रही है, लेकिन छोटे किसानों के लिये अब भी कृषि तकनीकों, जैसे– खाद, बीज और अन्य सेवाओं, तक पहुंच आसान नहीं है। इसके चलते उत्पादन में गिरावट भी दर्ज की जाती है।
- कुछ पर्वतीय समुदायों (जैसे चरवाहे) के अपने जीवनस्तर में सुधार के प्रति जागरूकता बढ़ी भी है, लेकिन उनके संसाधनों के स्रोत लगातार घट रहे हैं। आधुनिकीकरण के दौर में पर्वतीय समुदायों की जरूरतें और इच्छाएं भी बढ़ रही हैं, लेकिन उनके पास उपलब्ध संसाधन इसके मुकाबले कम होते जा रहे हैं।
- कुछ देशों में ऊर्जा उपयोग, भौतिक और सामाजिक अवस्थापना विकास पर सब्सिडी का प्रावधान किया गया है। लेकिन, इस व्यवस्था को कब तक, कितनी सीमा तक विस्तार दिया जा सकता है और इनके जरिये कितने स्तर तक सतत विकास को सुनिश्चित किया जा सकता है, इन सवालों का परीक्षण करने की जरूरत है।

7.13: पहुंच के अवसर, पर्वतीय–मैदानी क्षेत्रों के संबंध और वैश्वीकरण के प्रभाव (Accessibility, Highland-Lowland Linkage and Impact of Globalization)

- वृहद् बाजारी अर्थव्यवस्था से पर्वतीय क्षेत्रों का अलगाव समाप्त होने के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों तरह के असर पर्वतीय समुदायों के जीवनस्तर, आजीविका और संस्कृति पर नजर आते हैं। हालांकि, पर्वतों और मैदानी क्षेत्रों के मजबूत संपर्कों–संबंधों की वजह से पर्वतीय क्षेत्रों को पूरी तरह अलग नहीं माना जाना चाहिये, लेकिन यहां जरूरत इन दोनों के बीच के विभिन्न जुड़ावों की पहचान करने की है, ताकि पर्वतीय क्षेत्रों को तुलनात्मक रूप से लाभान्वित किया जा सके।
- मैदानी क्षेत्र के लोगों द्वारा पर्वतीय संसाधनों के अत्यधिक उपभोग का इन लोगों को कोई मुआवजा तो मिलता नहीं है, लेकिन यह भी आशंका बढ़ गयी है कि वैश्वीकरण और संपत्ति अधिकारों में बदलाव के चलते वे भविष्य में उपेक्षित किये जा सकते हैं। ऐसे में पर्वतीय क्षेत्रों में वहां की उपयोगिता के अनुरूप उत्पादन की क्षमता को पहचानने की जरूरत है, जिससे लाभ मिल सके।
- परंपराओं और आधुनिक व्यापारिक संपर्कों के जरिये पर्वतीय समुदायों में बदलाव देखा जा रहा है। इन परिवर्तनों का उपयोग पर्वतीय क्षेत्रों के विकास, वहां रहने वाले समुदायों की सतत आजीविका, सामाजिक–आर्थिक अवसरों की समानता के लिये किया जा सकता है, लेकिन यहां ऐसी नीतियों–मानकों को लागू करना भी आवश्यक है, जिससे संसाधनों के अंधाधुंध दोहन, अनुचित कार्यशैलियों पर नजर रखी जा सके।

7.14: प्राकृतिक संसाधनों का प्रबंधन एवं शासन (Governance and Management of Natural Resources)

- शासन के स्तर पर संसाधनों के प्रबंधन की उचित नीतियों और व्यवस्था के अभाव में प्राकृतिक संसाधनों के मसले पर सरकार और पारंपरिक समुदायों, आदिवासी समुदायों के बीच परस्पर विरोधी भावनाएं उभरती हैं।
- वन उत्पादों के व्यावसायीकरण से पर्वतीय समुदायों के जीवनस्तर और आजीविका के संसाधनों में बढ़ोतरी की जा सकती है। इस प्रक्रिया में राज्य की भूमिका संसाधनों में संतुलन बनाये रखने और

पर्वतीय समुदायों को वनोत्पादों के व्यावसायीकरण के लिये आवश्यक सुविधाएं उपलब्ध कराने की होनी चाहिये।

- प्राकृतिक संसाधनों से पर्वतीय समुदायों के हित सर्वाधिक जुड़े होते हैं, क्योंकि उनका अस्तित्व ही इनसे जुड़ा होता है। ऐसे में प्राकृतिक संसाधनों के प्रबंधन में पर्वतीय समुदायों की अहम भूमिका होनी चाहिये। राज्य के स्तर पर समुदायों की जरूरतों और चिंताओं को समझते हुये नियंत्रण, पुनरुत्पादन और सतत उपयोग में उनकी भूमिका तय करनी चाहिये।

- समस्या न सिर्फ प्राकृतिक संसाधन संपदा को निरंतर हो रहे नुकसान की है, बल्कि समुचित प्रबंधन के अभाव की भी है। पर्वतीय क्षेत्रों में प्राकृतिक संसाधनों के उपयोग के लिये पारदर्शी और व्यवस्थित नीतियों के निर्माण की आवश्यकता है। साथ ही संसाधनों के पुनरुत्पादन के लिये निवेश बढ़ाने की भी जरूरत है।

7.15: भूउपयोग एवं स्वामित्व मामले (Land Use and Tenuruial Issues)

- राजनैतिक अव्यवस्थाएं अकसर पर्वतीय क्षेत्रों में अनिच्छित भूउपयोग परिवर्तन और प्राकृतिक संसाधनों के ह्रास की वजह बनती हैं। शांति और राजनीतिक स्थिरता तर्कसंगत एवं समान भूउपयोग को जरूरी है।

- कई क्षेत्रों में भूस्वामित्व वितरण और भूमि सुधार प्रक्रियाएं अप्रभावी सिद्ध हुयी हैं, जो अक्षम एवं असमान भूउपयोग की वजह बनता है।

- अस्पष्ट भूमि अधिकार एवं अनुपयुक्त भूउपयोग नीतियों के चलते ऐसे भूउपयोग के तरीके सामने आते हैं, जो जैवविविधता और पर्वतीय पर्यावरण के लिये घातक होते हैं।

- बाजार आधारित सुधारों के जरिये जमीनों के मूल्य तय करने से कुछ हद तक भूउपयोग की समस्या का हल निकाला जा सकता है। लेकिन, उच्च पारदर्शिता और भूमि स्वामित्व अधिकार के लिये नीतियों में सुधार की जरूरत है, ताकि आर्थिक और पर्यावरणीय लिहाज से बेहतर भूउपयोग तय किया जा सके।

7.16: लैंगिक एवं सामाजिक समानता (Gender and Social Equity)

- हिन्दूकुश हिमालय क्षेत्र में अलग–अलग स्थानों पर रहने वाली पर्वतीय महिलाएं समान चुनौतियों का सामना करती हैं। इनमें उत्पादक संसाधनों, भूमि का अभाव, सामाजिक सेवाओं और औपचारिक नगदी की कमी शामिल हैं। इनके अलावा उन पर काम का अत्यधिक बोझ रहता है, उत्पादन व्यवस्था एवं इनसे मिलने वाले लाभ पर उनका सकारात्मक नियंत्रण नहीं रह पाता, जिसके चलते वे स्वास्थ्य के लिहाज से कमजोर रहती हैं। ऐसी स्थिति में नीति निर्माण के दौरान घर के अंदर की निर्धनता को समझना बहुत आवश्यक है, जिससे निपटकर गरीबी उन्मूलन की दिशा में कदम बढ़ाया जा सकता है

- पुराने समय में लैंगिक समस्याओं को वृहद विकास नीतियों में उपयुक्त स्थान नहीं दिया जाता था। इससे समाज में महिलाओं की स्थिति में सुधार के लिये अलग से कार्यक्रम तय ही नहीं हो पाते थे।

हालांकि, समय के साथ आये परिवर्तनों के बाद इस स्थिति में भी अंतर आया है। अब लैंगिक समानता, महिलाओं की जरूरतें और उनका समाधान विकास कार्यक्रमों का अहम हिस्सा बन चुका है।

- आर्थिक गतिविधियों की विविधताओं तथा नयी तकनीकों के विस्तार ने सामाजिक–आर्थिक परिस्थितियों में खासा सुधार किया है, जिससे कुछ क्षेत्रों में महिलाओं के कार्यबोझ एवं कठिन परिस्थितियों में कमी आयी है। लेकिन, कई मामलों में बदलाव के बावजूद कार्यभार बढ़ जाता है। उदाहरण के लिये, फसली उत्पादन के बजाय सब्जी उत्पादन को बढ़ावा और पशुपालन को प्रोत्साहन से महिलाओं की आर्थिक स्थिति में सुधार तो आया है, लेकिन उनका बोझ भी बढ़ा है। इसी तरह बिजली और भोजन पकाने के बेहतर उपकरणों ने बोझ कम किया है, लेकिन पशुओं के लिये चारे की व्यवस्था से कार्यभार बना हुआ है।

7.17: विकास और गरीबी उन्मूलन के लिये क्षेत्रवार नीतियां (Sectoral Strategies and Policies for Growth and Poverty Alleviation)

यहां हम पर्वतीय क्षेत्रों में अवसरों की संभावनाओं तथा सतत विकास, आवश्यक कारकों, समान वितरण और परिणामतः मिलने वाले लाभों पर विस्तार से चर्चा करेंगे। इसे ठीक से समझने के लिये हमने इकाई के इस हिस्से को तीन भागों, आर्थिक अवसर एवं विकल्प, भूमि व्यवस्था और प्राकृतिक संसाधनों के प्रबंधन तथा पहुंच के अवसर, समानता और अंतर्संबंध में बांटा है।

आर्थिक अवसर एवं विकल्प Economic opportunities and options

पर्वतीय क्षेत्रों में कृषि विविधता: यह बात अब मानी जाने लगी है कि पर्वतीय किसानों की आजीविका में सुधार, सतत विकास के लिये पर्वतीय कृषि में विविधता को शामिल किया जाना बेहतर कदम हो सकता है। इस प्रक्रिया के लिये विशेष पर्वतीय क्षेत्रों की कृषि क्षमताओं को पहचानने और वहां के अनुरूप कृषि नीतियों के निर्माण की आवश्यकता है। कृषि विविधता की प्रक्रिया में कृषि, औद्यानिकी, पशुधन की व्यवस्था में उच्च तकनीक एवं नयी गतिविधियों को शामिल किया जाता है। इससे बाजार और मांग के अनुरूप कृषि को बढ़ावा दिया जाता है, जिसका मुख्य उद्देश्य पर्वतीय क्षेत्रों से निर्धनता को दूर करना और गैर कृषि कार्यों में रोजगार, प्राकृतिक संसाधनों की सततता और आय के साधनों में बढ़ोतरी है। इस प्रक्रिया के आवश्यक कारकों में निम्नवत शामिल हैं:

- भौतिक और सांस्थानिक अवस्थापना की स्थानीय स्तर पर उपलब्धता
- ऋण, कृषि तकनीक, प्रशिक्षण–सूचनाओं जैसी सहायक सुविधाओं तक पहुंच
- बाजार की मांग, तुलनात्मक रूप से लाभकारी उत्पादों और उत्पादों के विपणन की बेहतर जानकारी, जिससे विशेषकर छोटे किसानों को लाभान्वित किया जा सके
- उचित दामों पर भोजन की उपलब्धता, और
- भूमि क्षरण, कीटों, प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध दोहन, जैवविविधता पर खतरे जैसी पारिस्थितिकीय समस्याओं से निपटने के तरीके

नयी तकनीकों के उपयोग पर जोर देने के दौरान यह ध्यान देना आवश्यक है कि पर्वतीय समुदायों के लिये इस तरह की तकनीकों तक पहुंच आसान नहीं होती। इसके अलावा ये लैंगिक विभेद और असमानता की स्थिति को और अधिक बढ़ावा दे सकते हैं। हालांकि, पर्वतीय विशिष्टताओं के संबंध में पर्यावरणीय संवेदनशील नीतियों का निर्माण, संस्थानों की उपलब्धता पर्वतीय समुदायों को तकनीक और लाभ के लिहाज से मदद कर सकती हैं।

7.18: पर्वतीय उद्यम विकास (Mountain Enterprises Development)

उद्यम वह गतिविधि है, जिसका मकसद उत्पाद को बाजार में बेचकर नगद आय कमाना हो। पारंपरिक उद्यमों, उद्यमियों और बाजार से संबंधों की पुरानी व्यवस्था रही है। छोटे पर्वतीय उद्यमियों के लिये गतिविधियों का बहुत छोटा स्तर बड़ी चुनौती रहा है। प्रसंस्करण (Processing) और गुणवत्ता संवर्द्धन के कारण एक ही तरह के संसाधन पर अलग–अलग उत्पादक की पहुंच जरूरी हो जाती है। ऐसे में उद्यमों का वर्गीकरण, उत्पाद की गुणवत्ता और क्षमता का बिन्दु अहम हो जाता है। तकनीकी विकास की मदद से उत्पाद पूर्व प्रक्रिया से लेकर बाजार में विपणन के बाद मूल्यांकन तक की क्षमता बढ़ी है। किसी उद्यम में परिवर्तन और सुधार के लिये विभिन्न विकल्पों, चुनौतियों से जूझकर आर्थिक और वित्तीय बढ़ोतरी का रास्ता निकलता है। इसमें ऊर्जा स्रोतों के बेहतर इस्तेमाल, समुचित तकनीक की उपलब्धता और मांग के अनुरूप उत्पाद व उत्पादन व्यवस्था की विविधता का ध्यान रखना आवश्यक है। खाद्य सुरक्षा, अनाजों की उपलब्धता पर्वतीय क्षेत्रों में उद्यम विकास के लिये पूर्व आवश्यक हैं। शांति, स्थिरता, सामंजस्य, प्रभावी सहायक सुविधाएं जैसे अन्य कारकों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। सिर्फ बाजार ही पर्वतीय क्षेत्रों में उद्यम विकास का इकलौता साधन नहीं है। राज्य के स्तर पर निरंतर समर्थन आवश्यक है। भूमि स्वामित्व जैसे कानूनी पहलुओं में स्पष्ट नीतियों का होना जरूरी है, जिसमें पर्वतीय क्षेत्रों के लाभ और हितों का ध्यान रखा गया हो। सामान्य छूट के बजाय चयनात्मक समर्थन आवश्यक है, ताकि पर्वतीय क्षेत्रों के विशेष उत्पादों को बढ़ावा दिया जा सके। यहां राज्य की भूमिका क्षेत्र विशेष तक पहुंच, विशेष उद्यम विकास की संभावनाओं में वृद्धि करने, संकट के दौर में सुरक्षा प्रदान करने, बेहतर ऋण एवं प्रशिक्षण सुविधा देने, बाजार में विपणन में मदद करने और गुणवत्ता सुनिश्चित करने की है।

7.19: वनोत्पादों का व्यावसायीकरण (Commercialization of Forest Products Livelihoods)

वनोत्पादों, विशेषतः गैर काष्ठ वनोत्पाद (Non Timber Forest Products: NTFP), में पर्वतीय समुदायों की सतत आजीविका उपलब्ध कराने की क्षमता है। हालांकि, अंधाधुंध दोहन की आशंकाओं को देखते हुये वनोत्पादों के सतत विकास को लेकर उपयुक्त नीतियों को लागू किये जाने की जरूरत भी होती है। इन नीतियों का फोकस वनोत्पादों की बुनियादी जरूरतों के मूल्यांकन, वनोत्पादों के सतत विकास को लेकर प्रोत्साहन और उत्पादकों को लाभ सुनिश्चित कराना होना चाहिये। यहां वनोत्पादों के व्यावसायीकरण के लिये पर्वतीय समुदायों की नकदी, ऋण, तकनीक, प्रसंस्करण, गुणवत्ता संबंधी सुविधाओं तक पहुंच महत्वपूर्ण कारक है। इसके साथ ही संसाधनों के पुनर्विकास और खतरे में पड़ चुकी प्रजातियों के संरक्षण के प्रति जागरूकता भी जरूरी होती है।

पर्वतीय और मैदानी क्षेत्रों के असमान आर्थिक स्तर, पवतीय क्षेत्रों में वन संसाधनों के जरूरत से अधिक दोहन के चलते पर्वतीय समुदायों के लाभ के लिये प्रोत्साहन योजनाओं की यहां अहम भूमिका हो जाती है। ऐसी स्थिति में बाहरी लोगों द्वारा उपयोग से पर्वतीय समुदाय के लाभ के प्रावधान मददगार हो सकते हैं। इसमें वनोत्पादों से लाभान्वित होने वाले लोगों की ओर से योगदान, वैकल्पिक ऊर्जास्रोतों के लिये सब्सिडी योजनाएं भी शामिल हैं। इसी तरह पर्वतीय लोगों के लिये सामुदायिक संस्थानों की स्थापना की आवश्यकता

है, ताकि उनमें सहयोग, विश्वास और आर्थिक स्थिरता की भावना बने और बिचौलियों की संख्या घटती जाये। समुदायों में सामाजिक–आर्थिक भूमिका निभाने की क्षमता का भाव विकसित करना आवश्यक है। व्यावसायिक प्रक्रिया में कुछ सामाजिक और सांस्थानिक मसले भी जुड़ जाते हैं, जिन पर ध्यान देना बहुत जरूरी होता है। अवसरों पर पहुंच और लाभ पर नियंत्रण के लिहाज से लैंगिक समानता, सामाजिक जिम्मेदारी और वनोत्पादों पर सांस्कृतिक–धार्मिक अधिकारों के प्रति संवेदनशीलता ऐसे अहम बिन्दु हैं।

उपेक्षित समुदायों को व्यावसायीकरण की प्रक्रिया से अधिकतम लाभ दिलाने के लिये काम करने वाली सरकारी संस्थाओं को ऐसी साझी प्रक्रिया का निर्माण करना चाहिये, जिसमें समुदायों को प्रोत्साहन मिले। ऐसे पारंपरिक संस्थान, जिनका वनों, वन संसाधनों के संरक्षण में योगदान रहा है, उन्हें शक्तिसंपन्न बनाना चाहिये। ऐसी संस्थाएं किसी अंतर्विरोध की स्थिति में समाधान तलाशने की दिशा में बेहतर भूमिका निभा सकती हैं। लाभ पाने की दिशा में नयी संभावनाओं की तलाश, विकल्पों के विकास के लिये शोधकार्यों की आवश्यकता होती है, जिसमें ग्रामीणों, ग्रामीण महिलाओं के पारंपरिक ज्ञान का समावेश हो। राज्य के स्तर पर ऐसे शोधकार्यों को आर्थिक मदद दी जानी चाहिये, क्योंकि यह जानकारियों के दस्तावेजीकरण में मददगार हैं और इनके जरिये समुदायों की बौद्धिक संपदा के अधिकार को भी सुनिश्चित करना संभव है।

7.20: पर्वतीय पर्यटन (Mountain Tourism)

इको टूरिज्म, तीर्थयात्राएं, अभ्यारण्य, संरक्षित क्षेत्र और सांस्कृतिक पर्यटन आदि क्षेत्रों में पर्वतीय पर्यटन विकसित हो सकता है। हिन्दूकुश हिमालय क्षेत्र में उपरोक्त बिन्दुओं के अलावा पर्यटन का एक अन्य पहलू रोमांच (Adventure) भी है, जिसमें ट्रेकिंग, पर्वतारोहण अभियान आदि शामिल होते हैं। पर्वतीय क्षेत्रों में सतत पर्यटन के लिये प्राकृतिक संरक्षण के अलावा पर्वतीय संस्कृति, विविधता को बचाये रखना भी बेहद आवश्यक है। विभिन्न पर्वतीय समुदायों और पर्वतीय पर्यावरण में पर्यटन विकास के प्रभाव भी विविध देखे जाते हैं। पर्यटन को राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का अहम कारक माना जाता है, लेकिन स्थानीय अर्थव्यवस्था में अब भी इसकी संबद्धता काफी कम है। पर्वतीय पर्यटन में भी बाजारी रणनीति का अभाव साफ नजर आता है। ऐसे में स्थानीय समुदायों को कमजोर अवस्थपनाओं और संस्थानों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इससे पर्यटन व्यवस्था को संगठित करना और इस पर निगरानी करना मुश्किल होता है। पर्वतीय पर्यटन सुरक्षा, प्राकृतिक आपदाओं जैसे बाहरी कारकों से भी प्रभावित होता है। इसके अलावा बेहतर पर्यटन विकास के लिये ऐसे प्रशिक्षित लोगों की जरूरत होती है, जो स्थानीय परिवेश, पर्यावरण, संस्कृति की पूरी जानकारी रखते हों और पर्यटकों को इनकी बेहतर जानकारी दे सकें।

7.21: भूमि एवं प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन (Land System and Natural Resource Management)

भूमि व्यवस्था एवं भूमि स्वामित्व

निजी एवं सामुदायिक स्वामित्व अधिकार की इसमें अहम भूमिका है, जिनसे गरीबी उन्मूलन, आर्थिक विकास, लैंगिक समानता, सतत संसाधन प्रबंधन के उद्देश्यों की पूर्ति संभव हो सकती है। चारागाहों, जंगलों पर पर्वतीय समुदायों की पहुंच के अधिकार को सुनिश्चित करने की प्रक्रिया प्रभावी हो सकती है। यह उन उपेक्षित किसानों के लिये महत्वपूण है, जिनकी आजीविका संसाधनों पर उनकी बेहद कम पहुंच पर ही निर्भर करती है। हालांकि, बदलते दौर में पर्वतीय समुदायों के सामने निजी स्वामित्व की समस्या भी खड़ी होती जा रही है। यहां राज्य के स्तर पर उपेक्षित समूहों, विशेषतः महिलाओं, के स्वामित्व अधिकार को सुनिश्चित करने के लिये नीतियों का निर्माण आवश्यक होता है। भूमि सुधार को प्रभावी तौर पर लागू करना गरीबी उन्मूलन, सतत संसाधन प्रबंधन और समानता की दिशा में महत्वपूर्ण है। हालांकि, भूमि पर

निर्माण–स्वामित्व संबंधी नीतियों को सख्ती से लागू करने में राज्य की ओर से नये भूमि सुधारों को लागू करने की दृढ़ इच्छाशक्ति संदेहास्पद रहती है।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि अधिकर पर्वतीय क्षेत्रों में भूमि स्वामित्व संबंधी पारंपरिक नियम हाल तक लागू रहे हैं। प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन की परंपरिक व्यवस्थाओं में ह्रास से कई पर्वतीय समुदाय आजीविका संबंधी परेशानियों से जूझ रहे हैं, क्योंकि नये नियम और निजी स्वामित्व अधिकारों ने प्राकृतिक संसाधनों तक उनकी पहुंच को बेहद सीमित कर दिया है, जिससे उनके अस्तित्व पर भी खतरा बढ़ने लगा है। इससे न सिर्फ छोटे किसानों की आमदनी पर असर पड़ा है, बल्कि भूमि वितरण और प्राकृतिक संसाधनों में भी कमी आयी है। ऐसे में सामुदायिक संस्थानों को आजीविका और संसाधन प्रबंधन के अधिकार दिया जाना आवश्यक है। इसके जरिये समानता, स्वामित्व अधिकार, भूमि संसाधनों पर बाहरी नियंत्रण से सुरक्षा को भी हासिल किया जा सकता है। सामूहिक भूमि उपयोग पारंपरिक नियमों का ही विस्तार है, इसके लिये प्रोत्साहन और नियंत्रण की आवश्यकता के साथ समान लाभ वितरण की जरूरत है। यहां यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि सामूहिक भूमि उपयोग सिर्फ इकलौते रूप में लाभ देने में सक्षम नहीं होता। कई बार अन्य संसाधनों–सुविधाओं के अभाव में कम उत्पादन, संसाधनों के अनुचित दोहन, ग्रामीण आभिजात्य के प्रभुत्व, निवेश–प्रोत्साहन का अभाव जैसी समस्याएं भी सामने आती हैं।

हिन्दूकुश हिमालयी क्षेत्र में व्यक्तिगत एवं सामूहिक व्यवस्थाओं के प्रयास एकसाथ, एक ही समय पर होता नजर आते हैं। फिर भी प्राकृतिक संसाधनों के दुरुपयोग को रोकने, नियमित निगरानी तंत्र, स्पष्ट प्रोत्साहन नीति, नियंत्रण व्यवस्था भी आवश्यक हैं। राज्य को ऐसे भूमि स्वामित्व कानून लागू करने चाहिये, जो शक्तिशाली समूहों, व्यक्तियों को प्राकृतिक संसाधनों के अनुचित दोहन से रोकने में सक्षम हों। सभी हितधारकों एवं प्राथमिक उपभोगकर्ताओं के अधिकारों का निर्धारण करना आवश्यक है। सामूहिक भूमिक उपयोग का लाभ तभी मिल सकता है, जब स्थानीय संगठन शक्तिशाली हों और पूरी प्रक्रिया विकेन्द्रीकृत व्यवस्था से जुड़ी हुयी हो।

वन प्रबंधन

बीते कुछ दशकों में वन प्रबंधन के क्षेत्र में सामुदायिक सहभागिता का रुझान बढ़ा है, यहां तक कि राज्य संचालित प्रबंधन के बजाय इसे अधिक महत्व दिया जाने लगा है। संयुक्त वन प्रबंधन, सामुदायिक वानिकी प्रबंधन, सामाजिक वानिकी, वन उपभोगकर्ता समूह आदि स्वरूपों में समुदाय और संगठन हिन्दूकुश हिमालयी क्षेत्र में वन प्रबंधन के काम में लगे हुये हैं। कई मामलों में यह भी देखा गया है कि इन समूहों के प्रयासों से वनों के आच्छादन क्षेत्र में वृद्धि हुयी है। हालांकि, यह व्यवस्था अब भी विकसित होने की श्रेणी में है और इस प्रक्रिया में लाभानुदान, शक्तियों के मुद्दे भी उभर रहे हैं। कुछ मामलों में आधिकारिक वन प्रबंधक अब भी लोगों से शक्तियां बांटने में संकीर्ण बने हुये हैं।

बेहतर जैव–भौतिक पर्यावरण, सामुदायिक जरूरतों की पूर्ति, प्रभावी संसाधन उत्पादन, सामुदायिक विकास एवं गरीबी उन्मूलन के लिहाज से सहभागी वन प्रबंधन प्रक्रिया के खासे लाभ देखे गये हैं। इस तरह के परिणामों की वजह स्पष्ट और स्थायी नीतियां, नियम और उन्हें समयबद्ध तरीके से लागू किया जाना तथा आम जनता की क्षमताओं की पहचान कर सकारात्मक दिशा में इनका उपयोग करना, सरकार व समुदायों की ओर से उपयोगी संस्थानात्मक व्यवस्था, तकनीकी और सामाजिक परिप्रेक्ष्य में मानव संसाधन का विकास, हितधारकों और समुदायों को प्रक्रिया में सहभागी बनाना, संचार एवं प्रशिक्षण की सतत प्रक्रिया आदि हैं। हालांकि, ये सभी शर्तें सभी परिस्थितियों में नहीं मिल पाती हैं। परिणामस्वरूप सहभागी प्रबंधन अपने लक्ष्य को पूरा करने में पूरी तरह सफल नहीं हो पाता। ऐसे में यह आवश्यक है कि सहभागी वन प्रबंधन (Participatory Forest Management) के लिये उचित वातावरण का भी निर्माण किया जाये।

7.22: पहुंच, समानता और संबंध (Accessibility, Equity and Linkages)

पहुंच (Accessibility)

दुर्गम क्षेत्र, दुर्लभ भौगोलिक परिस्थितियां और पहुंच के सीमित अवसर, ये सब पर्वतीय क्षेत्रों के सामान्य लक्षण हैं और सामान्य तौर पर यही विकास में बाधा भी बनते हैं। पर्वतीय क्षेत्रों तक पहुंच के बढ़ने का सीधा अर्थ सड़क निर्माण, स्कूल, अस्पताल और अन्य सुविधा केन्द्रों की स्थापना से ही लगाया जाता है। लेकिन, असल में पहुंच का अर्थ भौतिक विकास से कहीं अधिक है। कटे हुए अथवा स्वयं तक सीमित समाज (Closed Society) के एकाकीपन को समाप्त कर विस्तृत बाजार से इसका संपर्क जोड़ना और वित्तीय–आर्थिक गतिविधियों को बढ़ावा देना पहुंच का मूल तत्व है।

सदियों से सबसे अलग–थलग रहने वाले पर्वतीय क्षेत्रों में पहुंच के बढ़ते दायरों ने सकारात्मक और नकारात्मक दोनों तरह के प्रभाव दिखाये हैं। यहां पहुंच की जरूरत को स्पष्ट रूप से जानना–समझना आवश्यक होता है। यह देखा गया है कि पहुंच के अवसर बढ़ने से बेहतर आय के भी दरवाजे खुलते हैं। पहुंच के बढ़ने से पर्वतीय क्षेत्रों में नकदी फसलों के उत्पादन, कृषि विशेषीकरण, पर्यटन, पर्वतीय उद्यम जैसे बिन्दुओं का विकास तेजी से हुआ है। इससे आगे, जब भौतिक पहुंच अन्य आवश्यक सहायक बिन्दुओं, जैसे ऋण व्यवस्था, प्रशिक्षण, तकनीक, ऊर्जा तक जाती है तो इससे और तेज आर्थिक विकास संभव हो पाता है, जो समानता को बनाये रखने के साथ जीवनस्तर में सुधार का जरिया बन सकती है।

पर्वतीय क्षेत्रों में निर्माण और रखरखाव की उच्च लागत परिवहन एवं संचार सुविधाओं की राह में बड़ी बाधा बनती हैं। लागत जहां भी लगती है, वहां हमेशा उसका निवेश के रूप में लाभ मिलने का प्रश्न खड़ा हो जाता है। दूसरी ओर, पर्वतीय क्षेत्रों का नाजुक होना यहां अवस्थापना विकास को प्राकृतिक आपदाओं का सबब भी बना देता है। ऐसे में इन चुनौतियों से निपटने के लिये तकनीकी क्षमता का होना अत्यावश्यक है। पहुंच का अधिक बढ़ जाना प्राकृतिक पर्वतीय संसाधनों के अंधाधुंध दोहन की भी वजह बन सकता है, जिसका बहुत कम ही लाभ पर्वतीय लोगों और पर्वतीय पर्यावरण को मिल पाता है। वृहद् बाजारी अर्थव्यवस्था से पर्वतीय क्षेत्रों का संबंध पारंपरिक सांस्कृतिक मूल्यों के ह्रास के रूप में भी सामने आता है, जिनकी वजह से संसाधनों पर अधिकार के पारंपरिक नियम बदल सकते हैं और इसके कारण गांवों से शहरों की ओर पलायन बढ़ सकता है।

पर्वतीय क्षेत्रों में पहुंच बढ़ाने के लिये तैयार की जाने वाली नीतियों के लिये आवश्यक है कि उनमें हितधारकों की क्षमताओं की पहचान अच्छी तरह की गयी हो और उनकी भूमिकाएं भी स्पष्ट हों। इन नीतियों में स्थानीय उत्पादों को महत्व देने के साथ विपणन की भी व्यवस्था होनी चाहिये। तकनीकी क्षमता का विकास भी जरूरी है। हिन्दूकुश हिमालयी क्षेत्र में कुछ जगहों पर पर्यावरण अनुकुल 'ग्रीन रोड' का निर्माण किया गया है, जो खास मौसम में ही राजमार्गों से जुड़ते हैं। इस तरह की सड़कों के निर्माण में न तो भारी उपकरणों का इस्तेमाल किया जाता है, न ही पर्यावरण पर ये गलत प्रभाव डालते हैं। इनके निर्माण से निर्धन लोगों को मौसमी रोजगार उपलब्ध हो पाता है। इसी तरह दुर्गम क्षेत्रों में रज्जूमार्ग (Ropeway) भी सामान और अनाज को एक से दूसरे स्थान तक पहुंचाने का बेहतरीन माध्यम हैं। कुछ समुदाय सड़कों के बजाय ट्रेकिंग रूट्स को ज्यादा महत्व देते हैं और उनका यह कदम ग्रामीण पर्यटन को बढ़ावा देने का जरिया भी बना है। अवस्थापना प्रबंधन की विकेन्द्रीकृत व्यवस्था पर्वतीय क्षेत्रों में प्रभावी सिद्ध हुयी है। The Food for Work Programme सड़कों के निर्माण के लिये लागू किया गया था, जिसे स्थानीय संस्थानों से और अधिक बेहतर तरीके से जोड़ा जा सकता था। सामाजिक सेवाओं और सहायक व्यवस्थाओं को भी पहुंच बढ़ाने वाली गतिविधियों से संबद्ध किया जाना चाहिये। पर्वतीय संस्कृति, ग्रामीण पर्यटन का विकास, संसाधन उत्पादन को बढ़ावा देना, पहुंच के अवसरों की सामाजिक एवं पर्यावरणीय लागत को कम करना

और सड़कों के रखरखाव के लिये व्यवस्था का विकास आदि वे पहलू हैं, जिन पर विशेष ध्यान दिये जाने की आवश्यकता महसूस होती है।

समानता (Equity)

मौजूदा विकास नीतियों को लेकर एक सवाल यह भी खड़ा होता है कि वे महिलाओं के प्रति भेदभावपूर्ण हैं और लैंगिक असमानता को बढ़ावा देती हैं। इस तरह की असमानताएं सीधे तौर पर संसाधनों तक महिलाओं की पहुंच, लाभ की स्थिति से उनकी दूरी और निर्णय लेने की क्षमताओं में कमी, दायित्वों–भूमिकाओं में कटौती से जुड़ी रहती हैं। इस तरह की स्थिति से निपटने के लिये नीतियों के निर्माण के दौरान 'Gender Audit' की व्यवस्था की जानी चाहिये, जिसका मकसद यह मूल्यांकन करना हो कि लैंगिक समानता का भाव नीतियों में अनिवार्य रूप से बना रहे। नीतियों को न सिर्फ महिलाओं पर केन्द्रित होना चाहिये, बल्कि पुरुषों–महिलाओं दोनों की स्थितियों में समान रूप से सहभागिता एवं लाभ के वितरण के जरिये सुधार करना चाहिये। हालांकि, इस तरह की नीतियों को लागू करने से पहले क्षेत्र विशेष के सामाजिक–आर्थिक सन्दर्भों को भी ध्यान में रखना जरूरी होता है। लेकिन हर मामले में समानता का भाव आवश्यक है, चाहे वह संसाधनों के वितरण की व्यवस्था हो या फिर सुविधाओं की उपलब्धता की। समानता का भाव विकसित करने के लिये एक महत्वपूर्ण साधन महिलाओं के लिये शिक्षा एवं स्वास्थ्य संबंधी कार्यक्रमों का संचालन है।

महिला सशक्तीकरण की दिशा में महिला संगठनों का जाल महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। ऐसे में किसी भी विकास कार्यक्रम में समूह गठन और सामुदायिक गतिशीलता को स्थान दिया जाना आवश्यक है। लैंगिक भेदभाव की समस्याओं से निपटने के लिये मौजूदा कानूनी ढांचों में भी बदलाव की जरूरत महसूस होती है, उदाहरण के लिये– भूमि स्वामित्व पर वंशानुगत अधिकार। आर्थिक स्वतंत्रता के जरिये भी लैंगिक समानता के लक्ष्य को हासिल किया जा सकता है। सामाजिक समानता के लिये पिछड़े समुदायों की संसाधनों, अवसरों और सुविधाओं तक पहुंच बढ़ाना आवश्यक होता है। यह निर्विवाद तथ्य है कि लैंगिक और सामाजिक समानता का लक्ष्य हासिल करने के लिये महिला सशक्तीकरण आवश्यक है, इसके लिये यह जरूरी है कि नीतियों से जुड़ने वाले सभी पक्षों को इस दिशा में संवेदनशील बनाकर जागरूक किया जाये। इसके लिये क्षेत्रविशेष की जरूरतों, परंपराओं के सन्दर्भों को ध्यान में रखा जाना चाहिये। कुछ समुदायों में लैंगिक समानता को पुरुषों को संवेदनशील बनाकर आसानी से हासिल किया जा सकता है।

मैदानी–पर्वतीय क्षेत्र संबंध और वैश्वीकरण (Highland-Lowland linkage & Globalization)

वैश्वीकरण के विस्तार का असर दुनियाभर में देखा जा सकता है और पर्वतीय क्षेत्र भी इससे अछूते नहीं हैं। सदियों तक अलग–थलग रहने वाले और बाहरी दुनिया से बेहद सीमित आर्थिक संबधों वाले पर्वतीय क्षेत्र अब मैदानी क्षेत्रों से सामाजिक–आर्थिक गतिविधियों, राजनीतिक प्रभावों, संसाधनों के जरिये पहले से कहीं अधिक बेहतर ढंग से जुड़े हुये हैं। प्राकृतिक संसाधनों के व्यवसाय, मानव संसाधन विनिमय, तकनीकों के हस्तांतरण और सूचनाओं का आदान–प्रदान मौजूदा संपर्कों–संबंधों के मूल बिन्दु हैं। पर्वतीय क्षेत्रों और मैदानी क्षेत्रों के बीच बेहतर संबंध स्थापित करने की कोशिशों के पीछे यह बिन्दु बड़ी वजह था कि असमान आर्थिक गतिविधियों के चलते पर्वतीय क्षेत्र मैदानी क्षेत्रों के मुकाबले काफी पीछे रह गये हैं। पर्वतीय क्षेत्र प्रायः राजनीतिक रूप से भी उपेक्षित रहते हैं, क्योंकि राष्ट्रीय नीतियों में भी इन्हें उतना अधिक महत्व नहीं दिया जाता। पर्वतीय क्षेत्रों से संसाधनों का मैदानी क्षेत्रों की ओर बहाव निरंतर बना हुआ है। इसके बावजूद पर्वतीय समुदायों को बाजारी अर्थव्यवस्था में बेहतर अवसर उपलब्ध नहीं हो पाते हैं।

बदलते दौर में पर्वतीय अर्थव्यवस्था को भी वैश्वीकरण की चुनौतियों से जूझना होगा। ऐसे में यह आवश्यक है कि पर्वतीय समुदाय भावी परिवर्तनों के लिये तैयार हों और इनसे लाभ लेना सीख सकें। भविष्य में

पर्वतीय और मैदानी क्षेत्रों के बीच व्यापार की बढ़ोतरी संभव है, इसके लिये पर्वतीय क्षेत्रों का विशेष उत्पादों के उत्पादन के लिये सक्षम होना आवश्यक है। भविष्य में पर्वतीय क्षेत्रों के मैदानी क्षेत्रों के संपूरक के रूप में प्रतिष्ठित होने की पूरी संभावना है। इसी तरह विभिन्न व्यावसायिक उत्पादों के व्यापार के लिये तुलनात्मक रूप से लाभ लेने के बेहतर अवसर भी मिल सकते हैं। यह अवश्यंभावी है कि पर्वतीय क्षेत्र बाहर से अधिक निवेश को आकर्षित करने में सक्षम हो सकेंगे। अवस्थापना विकास, संसाधनों के पुनर्विकास, प्राकृतिक संसाधनों के सतत उपयोग के लिये निजी निवेशकर्ता पर्वतीय क्षेत्रों की ओर बढ़ सकते हैं। लेकिन, इन सबका विपरीत असर भी नजर आ सकता है। इसकी वजह यह है कि इस तरह की स्थितियों में पहले से चला आ रहा निगरानी, नियंत्रण तंत्र और लाभ वितरण की व्यवस्था कमजोर पड़ने की आशंका बढ़ जायेगी। इसके अलावा महिलाओं के सामने एक बार फिर उपेक्षित हो जाने, चूंकि महिलाओं द्वारा संभाले जाने वाले कुटीर उद्यमों को इससे खतरा हो सकता है, की आशंका बनेगी। पर्वतीय क्षेत्रों में प्राकृतिक संसाधनों के दोहन की प्रतिद्वंद्विता भी बढ़ जायेगी।

विश्व व्यापार संगठन (WTO) ने प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन को तो अपनी प्राथमिक कार्यसूची में शामिल किया है, लेकिन पर्वतीय क्षेत्रों और उनके उत्पादों को कोई विशेष स्थान अब तक इसमें नहीं दिया गया है। देशों में पर्वतीय क्षेत्रों की विविधताओं और संसाधनों से लाभ कमाने की कोशिशों के चलते पर्वतीय क्षेत्रों की राजनैतिक भूमिका भविष्य में और बढ़ सकती है। हालांकि, पर्वतीय समुदायों के लिये यह आवश्यक है कि वे लगातार बदलते आर्थिक अवसरों को पहचानें और स्वयं को द्रुतगति से परिवर्तित होने वाले बाजार के अनुरूप ढालते रहें। इसके साथ ही निवेश की दिशा तय करने, नकारात्मक बाहरी प्रभावों से बचाव और संसाधनों में कमी की समस्या से जूझने के लिये निगरानी तंत्र की भी आवश्यकता है। यह तंत्र ऐसा होना चाहिये जो पर्वतीय क्षेत्रों के उत्पादों की गुणवत्ता पर जोर दे। इसके लिये व्यावसायिक उत्पादों का नियमित उत्पादन आवश्यक है, शोध और विकास कार्यों की जरूरत है ताकि नयी उत्पादन क्षमताओं और अवसरों को पहचाना जा सके। पर्वतीय समुदायों को भी परस्पर समन्वय, सहयोग की भावना विकसित करनी होगी। उन्हें मानव संसाधन विकास, उद्यम कौशल के विकास की भी जरूरत होगी, ताकि वे अपने पारंपरिक कौशल और ज्ञान को लाभ की दिशा में मोड़ सकें।

7.23: सन्दर्भ (References)

1. Alagh, Y.K. (1990) 'Agro-Climatic Planning and Regional Development'. In Indian Journal of Agricultural Economics, Vol. 45 (3): July to September.
2. Basu, D.N.; Guha, G.S. (1996) Agro Climatic Regional Planning in India. New Delhi: Concept Publishing Company.
3. Chand, R. (1996a) 'Ecological and Economic Impact of Horticultural Development in the Himalayas: Evidence from Himachal Pradesh'. In Economic and Political Weekly, Vol.31 (26): A-93 - A-99, June 29.
4. Chand, R. (1996b) 'Agricultural Diversification and Farm and Non-farm Employment in Himachal Pradesh'. In Indian Journal of Labour Economics, Vol.39 (4): 841- 852, October – December.
5. Chand, R. (1996c) 'Diversification through High Value Crops in Western Himalayan Region: Evidence from Himachal Pradesh'. In Indian Journal of Agricultural Economics Vol.51 (4): 652-663, Oct -Dec.
6. Chand, R. (1997) Agricultural Diversification and Development of Mountain Region. New Delhi: M.D. Publication.

7. Chand, R. (1999) 'Emerging Trends and Regional Variations in Agricultural Investments and Their Implications for Growth and Equity.' Draft Project Report, National Centre for Agricultural Economics and Policy Research, New Delhi.
8. CSO (1984) Statistical Abstract of India. New Delhi: Central Statistical Organisation CSO (1998) Statistical Abstract of India. New Delhi, Central Statistical Organisation Ministry of Agriculture (1982, 1987 & 1992) Livestock Census. New Delhi: Government of India.
9. Gandhi, M.K. 1941. Constructive Programme : Its meaning and places. Navjeevan Publishing House, Ahmedabad : 9-20.
10. Hegde, N.G. 1999. Development of Infrastructure for Rural Prosperity. Presented at the NIRD Foundation Day Seminar on "Rural Prosperity and Agriculture : Strategies and Policies for the next millennium". National Institute of Rural Development, Hyderabad: 10 pp.
11. Maheshwari, S.R. 1985. Rural Development in India : A Public Policy Approach. SAGE Publications, New Delhi : 35-51.
12. Ministry of Agriculture (1999) Indian Agricultural Statistics. New Delhi: Government of India, Ministry of Agriculture.
13. NIRD. 1999. India Development Report – 1999 : Regional disparities in development and poverty. National Institute for Rural Development, Hyderabad : 198 pp.
14. NSSO (1996) Nutritional Intake in India. Fifth Quinquennial Survey of Consumer Expenditure (July 1993-June 1994) New Delhi: National Sample Survey Organisation, Government of India.
15. Paul Choudhary, D. 1990. Voluntary effort in social welfare and development. Siddartha Publishers, New Delhi : 86-110.
16. Planning Commission (1992) Eight Five-year Plan (1992-1997). New Delhi: Planning Commission, Government of India.
17. Sachidananda. 1988. Social Change in Village India. Concept Publishing Co. New Delhi : 71-84.
18. Shah, S.L. (1992) 'Tribal Economy in India with Special Reference to the Himalayan Region – Important Development Issues'. In Indian Journal of Agricultural Economic, Vol.47 (3): July to September.
19. Swarup, R. (1992) Agricultural Economy of Hill Region. Nainital: Gyanodya Prakashan.
20. Thapliyal, B.K. 1995. Decentralised planning in the Panchayati Raj Frame. In 'Emerging Trends in Panchayati Raj (Rural local self-government) in India'. NIRD, Hyderabad : 71-102.

इकाई – 8 प्राकृतिक संसाधन : प्रकार एवं वर्गीकरण
Natural Resources: Types and Classification

8.1 प्रस्तावना

8.2 उद्देश्य

8.3 संसाधन का अर्थ एवं प्रकृति

8.4 संसाधन निर्माणकारी कारक

8.5 संसाधनों का वर्गीकरण

8.6 प्राकृतिक संसाधन एवं प्राविधिकी

8.7 मुख्य प्राकृतिक संसाधन

8.8 निष्कर्ष

8.9 शब्दावली

8.10 लघु उत्तरीय प्रश्न

8.11 निबन्धात्मक

8.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

8.1 प्रस्तावना

पृथ्वी पर वन एवं वनस्पति प्रकृति के अमूल्य धरोहर है । परन्तु तीव्र जनसंख्या वृद्धि, आवासीय एवं कृषि क्षेत्रों के विस्तार एवं आधारभूत संरचनाओं के विकास हेतु बड़े पैमाने पर निर्वनीकरण किया जा रहा है । इसके अतिरिक्त बड़े पैमाने पर अवैध रूप में वनों को काटा जा रहा है तथा वनों का क्षेत्रीय प्रतिशत लगातार कम होना जारी है । यदि विकास को सतत विकास में परिवर्तित करना है तो कृषि वानिकी, सामाजिक वानिकी द्वारा एवं खुले क्षेत्रों में वृक्षारोपण किया जाना जरुरी है । इस पर पिछली इकाई में चर्चा की जा चुकी है ।

मानव के पर्यावरण में हजारों तत्वों का भण्डार स्थित है किन्तु ये सभी संसाधन नहीं कहे जा सकते । ये तभी संसाधन बन पाते हैं जब इनसे किसी मानवीय आवश्यकता की पूर्ति की जा सके अथवा ये प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में मानव के उपयोग में आ सके । मानव की बौद्धिक एवं सांस्कृतिक क्षमता के आधार पर ही संसाधन का स्वरूप निर्धारित होता है ।

संसाधन कई प्रकार के हो सकते हैं प्राकृतिक, मानवकृत इत्यादि । इन्हें अनेक आधारों पर वर्गीकृत किया जा सकता है । इस सन्दर्भ में विस्तार से चर्चा वर्तमान इकाई में की जायेगी ।

8.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के निम्न उद्देश्य हैं –

- संसाधन से आप क्या समझते हैं ?
- संसाधन के कौन–कौन से प्रकार हैं ?
- संसाधन के वर्गीकरण के क्या आधार हैं ?
- क्षेत्र के आर्थिक विकास एवं संसाधन की उपलब्धता में क्या सम्बन्ध है ?
- सर्व सुलभ प्राकृतिक संसाधनों के दोहन से क्या समस्या उत्पन्न हो रही है ?
- प्राकृतिक संसाधन एवं राष्ट्र के तकनीकि विकास के स्तर में क्या सम्बन्ध है ?
- किन प्राकृतिक संसाधनों पर अधिक ध्यान देना आवश्यक है ?
- किन क्षेत्रों में वैकल्पिक संसाधन विकसित करने अति आश्यक हो गये हैं ?

8.3 संसाधन का अर्थ एवं प्रकृति

प्रकृति का कोई भी तत्व जिनसे मानव की किसी भी आवश्यकता की पूर्ति अंशतः या पूर्णतः होती है संसाधन कहलाती है । देखा जाये तो पर्यावरण में हजारों प्राकृतिक तत्वों का भण्डार स्थित है , किन्तु इन सभी को संसाधन नहीं कहा जा

सकता । वस्तुतः जब ये तत्व मानव की किसी उपयोगिता से जुड़ जाते हैं तभी वह संसाधन की श्रेणी में आते हैं । इस प्रकार कोई भी वस्तु अथवा तत्व मानव की आवश्यकता पूर्ति के लिए प्रयोग किये जाने के कार्य द्वारा संसाधन बन पाती है । उदाहरण स्वरूप एक लम्बे समय तक कोयला मानव के लिए एक काली वस्तु से अधिक कुछ नहीं था, तब वह संसाधन नहीं था परन्तु जब से मनुष्य ने ऊर्जा एवं शक्ति श्रोत के रूप में कोयले का प्रयोग प्रारम्भ किया तब से वह संसाधन बना । अन्य शब्दों में हीरा भी यदि उपयोग नहीं होता तो वह संसाधन नहीं है और मिट्टी भी यदि उपयोगी होती है तो वह संसाधन है । जिम्मरमैन के शब्दों में, ''संसाधन होते नहीं, बनते हैं ।''

किसी तत्व अथवा पदार्थ का संसाधन बनना स्थान, समय तथा तकनीकि विकास के स्तर पर निर्भर करता है । एक तत्व एक स्थान पर संसाधन तथा दूसरे स्थान पर उदासीन तत्व हो सकता है । इसी प्रकार कोई तत्व अथवा पदार्थ तकनीकि दृष्टि से अल्पविकसित राष्ट्र में उदासीन तत्व हो सकता है वहीं वह तकनीकि दृष्टि से विकसित राष्ट्र में संसाधन हो सकता है ।

संसाधन की निम्न परिभाषायें प्रस्तुत की जा सकती हैं –

जिम्मरमैन के अनुसार, ''संसाधन पर्यावरण की वे विशेषतायें हैं, जो मानव की आवश्यकता पूर्ति में सक्षम होती हैं, उन्हें मनुष्य की आवश्यकताओं और क्षमताओं द्वारा उपयोगिता प्रदान की जाती है ।''

फिशर के अनुसार, ''संसाधन वह कोई भी वस्तु है, जो मानवीय आश्यकताओं और इच्छाओं की पूर्ति करती है ।''

मैकनाल के अनुसार, ''प्राकृतिक संसाधन वे संसाधन हैं, जो प्रकृति द्वारा प्रदान किए जाते हैं और मानव के लिए उपयोगी होते हैं ।''

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि संसाधन प्रकृति में पाये जाते हैं एवं मानव के किसी न किसी उपयोग में आते हैं । परन्तु संसाधन को संसाधन बनाने में मानवीय ज्ञान व तकनीकि की अहम भूमिका होती है । यह सच है कि प्रकृति ने लोहा कोयला अथवा अन्य धात्विक व अधात्विक खनिज प्रदान किये हैं परन्तु जिस रूप में ये प्रकृति में पाये जाते हैं । उस रूप में इनका प्रयोग नहीं किया जा सकता । मानव ने अपने ज्ञान एवं तकनीकि के आधार पर इन्हें इस प्रकार परिवर्तित किया जिसे हम प्रयोग करें । अतः मानवीय ज्ञान, संस्कृति, तकनीकि इत्यादि स्वयं में संसाधन हैं तथा ज्ञान एवं तकनीकि में सुधार के साथ–साथ संसाधनों के भण्डार में वृद्धि होती रहती है । मिशेल के अनुसार समस्त मानव संसाधनों में ज्ञान सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण संसाधन है । ज्ञान ही मानव के अन्य समस्त संसाधनों की जननी है तथा मानव की समृद्धि का मूल कारक है। ज्ञान के अभाव में पाषाण कालीन मानव असभ्य ही था, जबकि प्राकृतिक संसाधन तब भी मौजूद थे।

8.4 संसाधन निर्माणकारी कारक

अब तक के विवरण से यह तो स्पष्ट हो गया होगा कि संसाधन का क्या तात्पर्य है ? अब हम संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत करेंगे कि संसाधन के निर्माणकारी कारक कौन–कौन से हैं –

उपर्युक्त विवरण से यह भी स्पष्ट हो गया कि प्रकृति, स्वयं मानव तथा मानव द्वारा निर्मित संस्कृति जिसमें तकनीकि भी सम्मिलित है संसाधन निर्माण के कारक हो सकते हैं । प्रकृति वह आधार है, पृष्ठभूमि है जहाँ सभी प्राकृतिक तत्व (संसाधन) पाये जाते हैं । धरातल पर हमें सूर्य से रोशनी एवं ऊर्जा प्राप्त होती है। नदियों से जल प्राप्त होता है । इसी धरातल पर मृदा, वायु, प्राकृतिक वनस्पति, चट्टानें इत्यादि मिलते हैं जो मानव जीवन के लिए आवश्यक हैं तथा प्रकृति प्रदत्त सर्वसुलभ संसाधन हैं ।

इसी प्रकार मानव स्वयं एक संसाधन है । सभी तत्व मानव के उपयोग के सन्दर्भ में ही संसाधन बनते हैं । मानव अपने ज्ञान द्वारा तत्वों को इस प्रकार से परिमार्जित एवं सवंर्धित करता है, जिससे वे मानव की आवश्यकता पूर्ति हेतु उपयोग में लाये जा सके । मानवीय ज्ञान, कुशलता, औजार, मशीनें, परिवहन साधन आदि सभी संस्कृति के उदाहरण कहे जा सकते हैं और मनुष्य इन सभी की सहायता से ही तत्वों को संसाधन के रूप में परिवर्तित करता है । अतः संस्कृति भी संसाधन निर्माणकारी कारक माने जा सकते हैं । तकनीकि के आधार पर मनुष्य वर्तमान समय में उपलब्ध क्षयशील संसाधनों की क्षमता में कई गुणा विस्तार कर सकता है । जैसे आज से पच्चीस वर्ष पहले एक टन लौह धातु पिघलाने के लिए जितने कोयले की आवश्यकता होती थी आज उससे आधे कोयले की आवश्यकता होती है । अर्थात् कोयले की क्षमता में दो गुणे का विस्तार हो गया है । यह सिद्धान्त छाया पुजं सिद्धान्त कहलाता है ।

8.5 संसाधनों का वर्गीकरण

संसाधनों को दो बृह्त वर्गों में बाँटा जा सकता है । प्राकृतिक संसाधन तथा सांस्कृतिक संसाधन । वर्तमान इकाई में प्राकृतिक संसाधनों पर विस्तृत चर्चा की जायेगी। सांस्कृतिक संसाधनों के अन्तर्गत शिक्षा, तकनीकि, परम्परायें, पूँजी, संचार, यातायात के साधन इत्यादि सम्मिलित किये जा सकते हैं ।

8.5.1 सुलभता के आधार प्राकृतिक संसाधनों पर वर्गीकरण – प्राकृतिक संसाधनों से तात्पर्य उन तत्वों से है जो प्रकृतिप्रदत्त हैं अथवा जिनका निर्माण मानव ने नहीं किया है सुलभता के आधार पर प्राकृतिक संसाधन चार प्रकार के बताये जा सकते हैं –

सर्वसुलभ संसाधन – ऐसे संसाधन जो सभी स्थानों पर पाये जाते हैं उन्हें सर्वसुलभ संसाधन कहते हैं । वायुमण्डल में नाइट्रोजन, ऑक्सीजन, कार्बन डाई ऑक्साइड आदि इसी प्रकार के संसाधन हैं ।

सामान्य सुलभ – इसके अन्तर्गत उपजाऊ मृदा, चरागाह, कृषि भूमि इत्यादि को सम्मिलित किया जा सकता है ।

विरल संसाधन – ऐसे संसाधन जिनकी उपस्थिति केवल कुछ स्थानों पर होती है जैसे – सोना, चाँदी, पेट्रोलियम, कोयला, यूरेनियम इत्यादि ।

एकल संसाधन – ऐसे संसाधन जो समस्त विश्व में केवल एक या दो स्थानों पर पाये जाते हैं । इन्हें केन्द्रित संसाधन भी कहते हैं । जैसे क्रायोलाइट प्राकृतिक रूप से केवल ग्रीनलैण्ड में उपलब्ध है या केरल तट पर थोरियम इत्यादि ।

8.5.2 उपयोगिता के आधार पर वर्गीकरण – उपयोगिता के आधार पर संसाधनों को निम्न चार भागों में बाँटा जा सकता है ।

अप्रयुक्त संसाधन – ये वे संसाधन हैं जिनका अब तक प्रयोग नहीं किया गया है । बड़े पैमाने पर अन्तरिक्ष व समस्त उच्च पर्वत श्रेणियाँ अभी तक मानव उपयोग से परे हैं । इसी प्रकार महासागरों की तली के नीचे अपार खनिज संसाधनों के भण्डार की सम्भावना है । ये सभी अप्रयुक्त संसाधन के अन्तर्गत सम्मिलित किये जाते हैं ।

अप्रयोजनीय संसाधन – ये वे संसाधन हैं, जिनका मुनष्य वर्तमान प्राविधिकी पर उपयोग नहीं कर सकता । जैसे खनिज से संबंधित कुछ खदाने इतनी गहराई तक खोदी जा चुकी हैं कि अब वर्तमान प्राविधिकी के आधार पर उनसे और अधिक उत्पादन प्राप्त नहीं किया जा सकता । अतः ऐसी खदानें अप्रयोजनीय संसाधन हैं ।

सम्भाव्य संसाधन – सम्भाव्य संसाधन वे होते हैं जिनके तकनीकि विकास द्वारा संसाधन के रूप में पर्याप्त सम्भावनायें हैं । पवन ऊर्जा, समुद्री जल ऊर्जा, भूताप ऊर्जा इत्यादि ऊर्जा के श्रोत के रूप में सम्भाव्य संसाधन हैं । निकट भविष्य में बढ़ी माँग के कारण परम्परागत श्रोतों से ऊर्जा प्राप्ति की अपार सम्भावनायें हैं ।

अज्ञात या गुप्त संसाधन – इनके अृन्तर्गत उन संसाधनों को रखा जा सकता है जिनके उपयोग के बारे में मानव को अभी ज्ञान नहीं है । जब तक कोयले या पेट्रोनियम का प्रयोग मनुष्य को ज्ञात नहीं था तब तक मानव के लिए ये अज्ञात संसाधन थे जब से इनका प्रयोग प्रारम्भ हुआ । इनकी माँग बढ़ने लगी एवं ये मूल्यवान संसाधन हो गये ।

8.5.3 संसाधनों का संरक्षणात्मक वर्गीकरण – ओवेन महोदव ने सन् 1971 ई0 में पारिस्थितिकी संदर्भ में प्राकृतिक संसाधनों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण प्रस्तुत किया । उनके अनुसार प्राकृतिक संसाधनों को निम्न रूपों में विभाजित किया जा सकता है ।

अक्षयशील संसाधन – ऐसे संसाधन जो शाश्वत है या अनश्वर है, जैसे सूर्य प्रकाश, वायु इत्यादि अक्षयशील संसाधन कहे जाते हैं । इन्हें दो उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है ।

(क) अपरिवर्तनीय – जैसे सूर्य प्रकाश ।

(ख) दुष्प्रयोजनीय – जैसे जल ।

क्षयशील संसाधन – ऐसे संसाधन जिनका प्रयोग करने पर समाप्त हो सकते हैं, क्षयशील संसाधन कहते हैं । पुनः पूर्ति के दृष्टिकोण में इन क्षयशील संसाधनों को दो प्रमुख वर्गों में विभाजित किया जा सकता है –

(क) नव्यकरणीय संसाधन तथा

(ख) अनव्यकरणीय संसाधन ।

(क) नव्यकरणीय संसाधन – ऐसे संसाधन जो क्षयशील तो है परन्तु यदि व्यवस्थित ढंग से इनका उपयोग हो तो वे पुन प्राकृतिक रूप से विकसित होकर निरन्तर उपयोग में आने की क्षमता रखते हैं । परन्तु जब इनका अवैज्ञानिक रूप से अंधाधुंध शोषण होता है तो यह भी प्राकृतिक गुणवत्ता छोड़कर नष्ट होने लगते हैं । जैसे कृषि भूमि से बिना किसी उर्वरक के एवं बिना किसी फसल चक्रण के एक ही फसल का उत्पादन किया जाये तो एक निश्चित समय के पश्चात मृदा का उपजाऊपन क्षीण होने लगता है । इसी प्रकार बिना किसी वृक्षारोपण के यदि अंधाधुंध वन काटे जाये तो धीरे–धीरे ये समाप्त हो जायेंगे । बहुत से वन्यजीव अत्यधिक शिकार के

कारण समाप्ति के कगार पर पहुँच गये हैं । भूमिगत जल का अत्यधिक दोहन होने से प्रतिवर्ष भूमिगत जल का स्तर अधिक गहराई में जा रहा है एवं जलाभाव का संकट उत्पन्न होने के कगार पर हैं । परन्तु इन संसाधन का समुचित दोहन किया जाये तो ये निरन्तर बने रहते हैं । जैसे – प्राकृतिक वनों के कटाव के साथ वृक्षारोपण द्वारा इन्हें प्रतिस्थापित किया जाये । फसलों के पुनर्चक्रण तथा जैविक उर्वरकों के आधार पर कृषि की जाये । भूमिगत जल का प्रतिदिन इस प्रकार समुचित उपयोग किया जाये कि इनका पुनर्भरण हो सके । ये सभी संसाधन जिनका प्राकृतिक पुनः उत्पादन सम्भव है एवं समुचित उपयोग द्वारा जिन्हें असीम काल तक प्रयोग किया जा सकता है । नव्यकरणीय संसाधन कहलाते हैं ।

अनव्यकरणीय संसाधन – ऐसे संसाधन जिनका एक बार प्रयोग हो जाने पर पुनर्निर्माण सम्भव नहीं हो पाता अथवा वे हमेशा के लिए समाप्त हो जाते हैं । अनव्यकरणीय संसाधन कहलाते हैं । सभी प्रकार के खनिज संसाधन, पेट्रोलियम, कोयला आदि इसी प्रकार के संसाधन हैं जिनका एक बार प्रयोग कर लिये जाने पर ये समाप्त हो जाते हैं अथवा पुनः मूल रूप में लौट नहीं पाते । अतः इन संसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग तथा संरक्षण अति आवश्यक है ।

8.6 प्राकृतिक संसाधन एवं प्राविधिकी

यह सत्य है कि प्राकृतिक संसाधन प्रकृति द्वारा प्रदत्त मानव को निःशुल्क उपहार हैं । परन्तु ये तत्व मानवीय ज्ञान द्वारा मानव के उपयोग में आने के संदर्भ में संसाधन बनते हैं । मानवीय ज्ञान एवं तकनीकि विकास के साथ–साथ संसाधनों की मात्रा एवं भण्डार में वृद्धि होती जाती है । तकनीकि द्वारा एक ओर तो मनुष्य नये संसाधन तलाशता है दूसरी ओर उपलब्ध संसाधनों का अनुकूलतम उपयोग किया जाता है जिसमें उपलब्ध संसाधनों की क्षमता का अनुकूलतम उपयोग किया जाता है जिससे उपलबध संसाधनों की क्षमता में कई गुना वृद्धि हो जाती है तथा उत्पादन प्रक्रिया के दौरान पूरक पदार्थों की उत्पत्ति यह भी प्रयास किया जाता है कि उत्पादन प्रक्रिया के दौरान अपव्यय पदार्थ कम से कम जनित हों एवं उनका उचित प्रबन्धन हो ।

इस प्रकार तकनीकि एवं संसाधन में गहरा संबंध है । विश्व के कई राष्ट्र जैसे ब्राजील, अर्जेन्टाइना, वेनेजुएला इत्यादि में अपार खनिज भण्डार पाये जाते हैं परन्तु तकनीकि दृष्टि से अल्पविकसित होने के कारण ये राष्ट्र इन संसाधनों का उचित दोहन नहीं कर पा रहे हैं । वहीं विकसित राष्ट्र अपनी उच्च प्राविधिकी के कारण ही विकास के उच्च स्तर पर है । इसी प्रकार यह माना जाता है कि अंटार्कटिका महाद्वीप में खनिज संसाधन के असीमित भण्डार हैं परन्तु वर्तमान प्राविधिकी का स्तर उतना नहीं है जिससे इनका दोहन किया जा सके । इसके अतिरिक्त सभी राष्ट्रों में आम सहमति है कि इस क्षेत्र का प्रयोग शोध के लिए ही किया जाये । इस रूप में भारत सहित कई विकसित राष्ट्रों के शोध केन्द्र यहाँ स्थित हैं । भारत ने दो शोध केन्द्र दक्षिण गंगोत्री एवं मैत्री नाम से यहाँ स्थापित किये हैं । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संसाधन तकनीकि एवं राष्ट्रों के विकास स्तर में गहरा सम्बन्ध है । उत्तरी अमेरिका में नियाग्रा नदी एवं दक्षिणी अमेरिका में अमेजन नदी से जल विद्युत शक्ति की आपर सम्भावनायें हैं । संयुक्त राज्य अमेरिका में उच्च प्राविधिकी के आधार पर नियाग्रा नदी पर बाँध

बनाकर जल विद्युत शक्ति का उत्पादन किया जा रहा है वहीं दक्षिण अमेरिका के राष्ट्र निम्न तकनीकि के कारण ऐसा करने में असमर्थ रहे हैं । यही अफ्रीका महाद्वीप में कांगो नदी के स्टेनले जलप्रपात के बारे में भी कहा जा सकता है । इन राष्ट्रों की सामाजिक आर्थिक दशा एवं तकनीकि ऐसी नहीं है कि जल विद्युत का उत्पादन किया जा सके ।

8.7 मुख्य प्राकृतिक संसाधन

अब तक हमने प्राकृतिक संसाधनों के प्रकार एवं प्राकृतिक संसाधन तथा तकनीकि में सम्बन्ध का अध्ययन किया । अब हम मुख्य प्राकृतिक संसाधनों तथा उनसे संबंधित समस्याओं का वर्णन करेंगे । कुछ मुख्य प्राकृतिक संसाधन इस प्रकार हैं –

8.7.1 वायु – वायु सर्वप्रथम प्राकृतिक संसाधन है । इस धरातल पर समस्त जीवधारियों का जीवन वायु के बिना असम्भव है । वायुमण्डल में अनेक प्रकार की गैसें पायी जाती हैं । इनमें मुख्य गैसें ऑक्सीजन, नाइट्रोजन एवं कार्बन डाई आक्साइड है । वायुमण्डल में उपस्थित ऑक्सीजन को प्राणदायिनी वायु भी कहा जाता है क्योंकि ऑक्सीजन के बिना जीवधारियों का जीवन सम्भव नहीं था । इसीप्रकार कार्बन डाई ऑक्साइड का प्रयोग वनस्पति जगत प्रकाश संश्लेषण हेतु करता है । इसके अतिरिक्त वायु धरातल को गर्म करने जलवाष्प व आर्द्रता को प्रवाहित करने तथा विभिन्न प्रकार की मौसमी व जलवायविक घटनाओं को जन्म देने में सहायक है । इतने महत्वपूर्ण संसाधन जिसके कारण पृथ्वी पर जीवन सम्भव है । मनुष्य अपनी क्रियाओं से हमें प्रदूषित करता जा रहा है ।

बढ़ती जनसंख्या एवं बढ़ती औद्योगिक गतिविधियों के कारण वायु प्रदूषण का स्तर बढ़ता जा रहा है । कार्बन डाई आक्साइड के स्तर में बढ़ोत्तरी के कारण भू ताप वृद्धि जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है । प्रकृति के इस महत्वपूर्ण एवं अमूल्य प्राकृतिक संसाधन को प्रदूषित होने से बचाना मनुष्य की आवश्यकता एवं जिम्मेदारी दोनों हैं ।

8.7.2 जल – मानव जीवन के अस्तित्व के लिए वायु के बाद जल दूसरा अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं आवश्यक तत्व है । इसके अभाव में पृथ्वी पर जीवन सम्भव नहीं है । जल मानवीय क्रियाओं को आदिकाल से आज तक नियन्त्रित कर रहा है । और भविष्य में भी करता रहेगा । जल संसाधन का जैवकीय महत्व अत्यधिक है । समस्त जीव जगत में स्वास्थ्य, सौन्दर्य, शक्ति, रंग–रूप, गंध आदि जल से ही प्राप्त होती हैं । जल की कमी से जीवों की वृद्धि कुप्रभावित हो जाती है । जल भोजन का अनिवार्य अंग है । संस्कृत में इसलिए जल को जीवन कहा गया है । अत्यधिक महत्वपूर्ण संसाधन होने के कारण ही भविष्य वक्ताओं का अनुमान है कि अगला विश्व युद्ध यदि हुआ तो इसका मूल कारण जल ही होगा । संक्षेप में मात्र पृथ्वी पर ही जीवन है इसका कारण यह है कि जल अपने तीनों रूपों वाष्प, जल और ठोस अवस्था में विद्यमान है । अर्थात् जल सक्रिय है । समस्त आर्थिक क्रियाओं का नियंन्त्रक होने से यह महत्वपूर्ण संसाधन है । जल संसाधन को भूपटल पर वितरण एवं प्राप्ति के आधार पर दो वर्गों में बाँटा जा सकता है – (क) स्थलीय जल संसाधन (ख) महासागरीय जल संसाधन ।

कुल उपलब्ध जल का लगभग 97 प्रतिशत लवणीय जल के रूप में महासागरों में उपलब्ध है । शेष 3 प्रतिशत मीठे जल का दो तिहाई हिस्सा हिमानी और ध्रुवीय बर्फीली टोपी के रूप में जमा है एवं हमारी पहुँच से बाहर है । अर्थात् कुल उपलब्ध जलराशि का एक प्रतिशत से भी कम भाग सतही जली के रूप में नदियों, झीलों एवं तालाबों आदि में संचित है । जिसका हम प्रत्यक्ष उपभोग कर सकते हैं । परन्तु वास्तव में हम उपलब्ध जल का एक छोटा भाग ही उपयोग करते हैं । वैश्विक स्तर पर 70 प्रतिशत जल का प्रयोग कृषि हेतु, 25 प्रतिशत जल का उपयोग उद्योग धंधों द्वारा तथा केवल 5 प्रतिशत जल का प्रयोग घरेलु उपयोग के लिए किया जाता है । यह प्रतिशत विभिन्न राष्ट्रों में भिन्न–भिन्न है । औद्योगिक राष्ट्र औद्योगिक कार्यों हेतु अधिक जल का उपयोग करते हैं । भारत में 90 प्रतिशत जल का उपयोग कृषि क्षेत्र में, 7 प्रतिशत जल का उपयोग उद्योग प्रक्रमों द्वारा तथा शेष 3 प्रतिशत जल का उपयोग घरेलू कार्यों हेतु प्रयुक्त होता है ।

वर्तमान शताब्दी में विश्व के समक्ष महत्वपूर्ण चुनौती इस उपलब्ध जल संसाधन का प्रबन्धन है । वर्तमान समय में विश्व की जनंसख्या लगभग 7 अरब के स्तर तक पहुँचने वाली है। विश्व की जनसंख्या में नौजवानों की संख्या को देखते हुए निश्चित रू से कहा जा सकता है कि यह बढ़ोत्तरी निकट भविष्य में भी जारी रहेगी ।

जिससे ताजे जल की सीमित उपलब्धता पर दबाव बढ़ेगा । एक अध्ययन के अनुसार वर्तमान समय के लगभग एक अरब लोगों तक शुद्ध जल की पहुँच नहीं है । वैश्विक स्तर पर 31 देशों में शुद्ध जल की कमी है । 2025 तक इनकी संख्या बढ़कर 48 हो जायेगी । संयुक्त राष्ट्र संघ के अनुसार वर्ष 2050 तक ऐसे लोगों की संख्या बढ़कर 4 अरब हो जायेगी जिन तक शुद्ध जल की पर्याप्त मात्रा में पहुँच नहीं है। इस कारण विभिन्न राष्ट्रों में जल के विभाजन को लेकर विवाद प्रारम्भ हो जायेगा । भारत में लगभग 20 शहरों में क्रान्तिक अथवा मध्यम स्तर की जल की कमी बनी रहती है। विश्व में लगभग 100 राष्ट्र ऐसे हैं जो 13 विशाल नदियों एवं झीलों के जल को बाँटते हैं । ऊपरी राष्ट्र निचले राष्ट्रों में जल को बाधित करके राजनीतिक अस्थिरता पैदा कर सकते हैं । जैसे इथियोपिया देश नील नदी के ऊपरी भाग में है तथा मिश्र नील नदी के निचली भाग में है तथा शुद्ध जल हेतु नील नदी पर पूरी तरह से निर्भर है । विभिन्न राष्ट्रों में नदियों अथवा झीलों के जल के बँटवारे हेतु अन्तर्राष्ट्रीय संधि है जिसकी विश्व शान्ति बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका हो जायेगी । भारत एवं बांग्लादेश में भी गंगा जल के बँटबारे को लेकर समझौते हुए हैं । भारत द्वारा गंगा नदी पर फरक्का बैराज बनाकर जल वितरित करने में बांग्लादेश में जल की कमी के दिनों में तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । जल के बँटबारे को लेकर एक राष्ट्र के विभिन्न राज्यों में भी तनाव की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । भारत में कर्नाटक एवं तमिलनाडु के मध्य कावेरी जल विवाद एवं कर्नाटक एवं आंध्रप्रदेश के मध्य कृष्णा नदी जल विवाद इसके प्रमुख उदाहरण हैं ।

सतही एवं भूमिगत जल का अंधाधुध दोहन एवं प्रदूषण – जनसंख्या की तीव्र वृद्धि के कारण उनकी दैनिक मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु जल की माँग भी बढ़ती जा रही है । घरेलु कार्यों में जल का उपयोग प्राथमिक उपयोग कहलाता है।

यह पीने, खाना पकाने, कपड़े धोने, नहाने व घरों की सफाई करने में प्रयुक्त होता है । अनेक विकासशील देशों में रहने वाली जनंसख्या को प्रतिदिन प्रतिव्यक्ति 2 में 4 लीटर जल प्राप्त करके ही सन्तुष्ट होना पड़ता है और यह भी उच्च गुणवत्ता वाला जल नहीं होता है । एक अध्ययन के अनुसार विश्व में लगभग 250 मिलियन व्यक्ति जल की निम्न गुणवत्ता या अपर्याप्त जलापुर्ति के कारण विभिन्न बीमारियों से ग्रस्त रहते हैं । वैश्विक स्तर पर अधिकांश मौते दूषित जल के सेवन से सम्बन्धित बीमारियों से होती है ।

औद्योगिक क्रियाकलापों में जल का प्रयोग उसका द्वितीयक उपयोग है । कल कारखानों को चलाने में जल की विशेष भूमिका होती है । विभिन्न उद्योगों में जल की मात्रा भी भिन्न–भिन्न होती है शुद्ध जल की उपलब्धता उद्योगों के स्थानीयकरण पर भी प्रभाव डालती है ।

मानव द्वारा प्रयोग किये जाने वाले जल का लगभग 80 प्रतिशत उपयोग कृषि क्षेत्र में सिंचाई के रूप में होता है । सिंचाई की आवश्यकता वहाँ पड़ती है, जहाँ पर्याप्त वर्षा नहीं होती । संसार के घने बसे भू–भागों में विशेषकर पूर्वी तथा दक्षिणी एशियाई देशों में सिंचाई के द्वारा वर्ष में कम से कम दो फसलें उगाई जाती हैं । हरित क्रान्ति की सफलता में सिंचाई का बहुत बड़ा योगदान था । सिंचाई की सहायता से बेकार भूमि को सुधार कर फसलें उगाई जा सकती हैं । पशुपालन एवं मत्स्यपालन हेतु भी बड़ी मात्रा में जल की आवश्यकता होती है ।

वर्तमान समय में मनुष्य जल का अंधाधुंध दोहन कर रहा है बहुत से लोग आवश्यकता से अधिक जल का प्रयोग करते हैं तथा बिना यह सोचे कि बहुत लोगों को यह जल उपलब्ध भी नहीं है, बड़ी मात्रा में व्यर्थ ही बहा देते हैं । कृषि क्षेत्रों में वास्तव में जितने जल की आवश्यकता होती है उससे कहीं अधिक जल प्रयोग किया जाता है । यदि परम्परागत सिंचाई पद्धति के स्थान पर टपक सिंचाई पद्धति का प्रयोग किया जाये तो बिना उत्पादन में कमी लाये बड़ी मात्रा में जल संरक्षित किया जा सकता है । इसी प्रकार भूमिगत जल पर लोग अपना स्वामित्व समझते हैं तथा जितनी मर्जी हो उतना जल निकालते हैं जिस कारण कई क्षेत्रों में भूमिगत जल का स्तर गिरता जा रहा है । भूमिगत जल के गिरते स्तर को रिचार्ज अथवा संवर्धित करने के बजाये लोग जल को निकालने हेतु पाइपों को अधिक गहराई तक डलवा रहे हैं एवं इसके संरक्षण हेतु ध्यान कम दे रहे हैं । बड़ते औद्योगिकरण का भी जल संसाधनों पर दुष्प्रभाव पड़ रहा है । उद्योगों में निःसृत प्रदूषित जल जलाशयों एवं नदियों में ऐसे ही छोड़ दिया जाता है जो सतही जल एवं भूमिगत जल (हानिकारक तत्वों के रिसाव से) दोनों को प्रदूषित कर रहा है । जिसका जलीय संपदा एवं मनुष्यों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है । बढ़ते शहरीकरण का बोझ भी जल संसाधनों पर प्रतिकूल प्रभाव डाल रहा है । एक अनुमान के अनुसार वर्ष 2020 ई0 तक कुल जनंसख्या का 60 प्रतिशत शहरों में आवास करेगा । ऐसी स्थिति में जलीय संसाधनों की कमी और उनके प्रदूषण की समस्या और अधिक भयावह होगी । विश्व में पीने लायक मीठा पानी सम्पूर्ण उपलब्ध जल का केवल 0.8 प्रतिशत है तथा वह भी मानक कृत्यों से दूषित होता जा रहा है । जल में आवश्यकता से अधिक खनिज पदार्थ, अनावश्यक कार्बनिक तथा

अकार्बनिक पदार्थ, कल–कारखानों, औद्योगिक इकाईयों तथा अन्य संयंत्रों से निकले अपशिष्ट, मल–मूत्र, कुड़ा कर्कट आदि नदियों, झीलों तथा सागरों में लगातार विसर्जित किये जा रहे हैं । जिससे प्रदूषण बढ़ता ही जा रहा है । दूषित जल के प्रयोग से पीलिया, मियादी बुखार, हैजा, डायरिया, पेचिश, इन्सेफलाइटिस जैसे रोग फैलते हैं ।

अतः इस महत्वपूर्ण प्राकृतिक संसाधन को प्रदूषित होने से बचाना तथा इसका संरक्षण करना प्रत्येक व्यक्ति का दायित्व है । सरकारी एवं गैर सरकारी संस्थाओं को जल संरक्षण हेतु लोगों को जागरुक करने की दिशा में गंभीर प्रयास करने चाहिए क्योंकि बिना जागरुकता एवं जनसहभागिता के यह प्रयास पूरी तरह सफल नहीं हो पायेंगे । भारत ने कृषि हेतु सिंचाई, विद्युत उत्पादन एवं शहरी तथा औद्योगिक क्षेत्रों को जल उपलब्ध कराने हेतु अनेक नदियों पर बड़े बाँध निर्मित किये है । भारत सरकार के इन प्रयासों से कृषि के अन्तर्गत सिंचित भूमि का प्रतिशत बढ़कर मिलियन हैक्टेअर हो गया है । यह बात सत्य है कि बड़े बांधों से निर्मित जलाशयों से घरेलु कार्यों, कृषि एवं औद्योगिक क्षेत्रों हेतु पर्याप्त जल उपलब्ध होता है । परन्तु बड़े बाँधों से कई तरह के पर्यावरणीय संकट उत्पन्न होते हैं । जैसे वे नदियों के प्रवाह को परिवर्तित कर देते हैं। बाँधों के पश्च भाग में जलाशय निर्मित हो जाने से वनीय क्षेत्र जलमग्न हो जाते हैं । इन क्षेत्रों के वन्य जीवों के निवारण स्थल नष्ट हो जाते हैं एवं इन क्षेत्रों में रहने वाले लोगों को विस्थापित होना पड़ता है । कुल मिलाकर बाँध के दोनों तरफ की पारिस्थितिकी में अन्तर आ जाता है ।

भावी जल संकट से निजात पाने के लिए सम्पूर्ण विश्व के लोगों को एक भावना के साथ जल एवं संधृत विकास की संकल्पना को अपनाना होगा । जल प्रबन्धन हेतु निम्न उपाय किये जाने आवश्यक हैं –

- बड़े बांधों के स्थान पर छोटे छोटे कई बांध निर्मित करना ।
- मृदा प्रबन्धन, लघु अपवाह क्षेत्र का विकास एवं वनीकरण करना जिससे भूमिगत जल के रिचार्ज होने में मदद मिलेगी ।
- प्रदूषित जल के शोधन पर विशेष ध्यान, प्रदूषित जल निस्तारित करने वाले उद्योगों पर जुर्माना तथा प्रदूषित जल को शोधित कर पुनः उपयोग करने वाले उद्योगों को प्रोत्साहन ।
- नगरीय क्षेत्रों में पाइपों से होने वाले रिसाव को रोकना जिसमें बड़ी मात्रा में जल व्यर्थ बह जाता है ।
- शहरी क्षेत्रों में वर्षा जल एकत्रित करने हेतु लोगों को प्रोत्साहित करना ।
- नये निर्मित होने वाले भवनों में वर्षा जल एकत्रीकरण की सुविधा होने को कानूनी अनिवार्यता प्रदान करना ।
- लोगों को प्रोत्साहित करना कि वे घरेलु उपयोग के पश्चात निःसृत जल को पुनः अन्य कार्यों हेतु उपयोग में लायें ।
- कृषि में जल संरक्षण की विधि अपनाना, परम्परागत कृषि के स्थान पर छिड़काव विधि अथवा टपक विधि द्वारा सिंचाई को प्रोत्साहन देना ।

- आज जल से संबंधित विभिन्न संगठन अलग–अलग पृष्ठ भूमियों में कार्य कर रहे हैं, जिनमें पेयजल आपूर्ति, सफाई, सिंचाई प्रबन्धन, भूमि संरक्षण तथा वनीकरण क्षेत्र प्रमुख हैं । इन सभी को एक प्लेटफार्म पर जल को आधार मानकर कार्य करना होगा ।

8.7.3 वन संसाधन – वन अत्यन्त महत्वपूर्ण नव्यकरणीय प्राकृतिक संसाधन हैं। वनों से हमें अनेक लाभ हैं । सबसे महत्वपूर्ण तो यह है कि वन प्रकाश संश्लेषण प्रक्रिया के दौरान आक्सीजन उत्सर्जित करते हैं । जो मानव एवं अन्य जीव जन्तुओं के लिए जीवनदायी गैस है । इसी प्रकार वन कार्बन डाई आक्साइड के सिंक के रूप में कार्य करते हैं । इस प्रकार वनों के माध्यम से वायुमण्डल में आक्सीजन एवं कार्बन डाई आक्साइड का संतुलन बना रहता है । परन्तु वर्तमान समय में जनंसख्या की तीव्र वृद्धि नगरीकरण एवं औद्योगिक क्षेत्रों के विस्तार एवं अन्य कारणों से पेड़ों को काटा जा रहा है और देश में वनीय क्षेत्र का प्रतिशत दिन प्रतिदिन कम होता जा रहा है । वनीय क्षेत्र में निम्नीकरण के मुख्य कारण ईंधन इमारती कार्यों, रेलमार्गों एवं अन्य विकास कार्यों हेतु लकड़ी की दिनों–दिन बढ़ती माँग, बढ़ते हुए शहरीकरण एवं औद्योगीकरण तथा कृषि हेतु अतिरिक्त भूमि की आवश्यकता, आदिवासियों द्वारा झूम पद्वति से खेती करना, वनों में फैलने वाली शवाग्नि तथा अनियंत्रित पशुचारण इत्यादि हैं । इनके फलस्वरूप आज वास्तविक वन प्रदेश केवल पहाड़ी एवं कुछ दुर्गम क्षेत्रों तक सीमित पाये जाते हैं । भारत में भी वनों का उत्तरोत्तर क्षय होता जा रहा है । राष्ट्रीय वन नीति के अनुसार देश के समस्त भौगोलिक क्षेत्रफल का 33 प्रतिशत भाग वनों से ढका होना चाहिए जबकि भारतीय वन सर्वेक्षण विभाग की वर्ष 2011 की रिपोर्ट के अनुसार भारत के सकल भौगोलिक क्षेत्रफल का केवल 23.81 प्रतिशत भाग ही वनों से आच्छादित है । अर्थात् भारत में न केवल वनीय क्षेत्रों को बचाने की आवश्यकता है बल्कि वृक्षारोपण द्वारा इस वनीय क्षेत्र को बढ़ाने की भी आवश्यकता है ।

देश में वन संरक्षण कानून 1980 में बना । इससे पूर्व वनों के काटने पर कोई रोकटोक नहीं थी । कानून बनने के बाद विकास के लिए भी वनों को काटने के पूर्व अनुमति हासिल करने का प्रावधान है और एक पेड़ काटने के बदले में तीन पेड़ लगाने पड़ते हैं । वन एवं पर्यावरण मंत्रालय के एक अध्ययन के अनुसार वन संरक्षण कानून बनने से से पूर्व देश में प्रतिवर्ष एक लाख 43 हजार हैक्टेयर वन प्रतिवर्ष घटता था । 30–35 हजार हैक्टेअर वन क्षेत्र विकास की भेंट चढ़ता है । काटे गये वन क्षेत्रफल के केवल एक तिहाई हिस्से की ही भरपाई सरकार कर पा रही है ।

प्रशासनिक दृष्टि से वनों का वर्गीकरण – ब्रिटिश शासन के दौरान वनों के संरक्षण के लिए प्रशासनिक दृष्टि से वनों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया था ।

(1) सुरक्षित वन – जो वन जलवायु की दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हैं उन्हें सुरक्षित वन कहते हैं । इन वनों का क्षेत्रफल 54.90 प्रतिशत है अर्थात् 4.22 लाख वर्ग किमी0 । इनमें न तो लकड़ियाँ ही काटी जा सकती हैं और न ही पशु चराने की अनुमति होती है । ये राष्ट्रीय सम्पत्ति माने जाते हैं । बाढ़ों पर नियन्त्रण करने, भूमि क्षरण से सुरक्षा और मरुस्थल रोकने तथा जलवायु तथा भौतिक कारणों के इनकी आवश्यकता होती है ।

(2) संरक्षित वन – इस प्रकार के वनों में विशेष नियमों के अधीन मनुष्यों को अपने पशुओं को चराने तथा लकड़ी काटने की सुविधा दी जाती है । इस प्रकार के वनों का क्षेत्रफल कुल वनों का 27 प्रतिशत है ।

(3) अवर्गीकृत वन – शेष वनों को अवर्गीकृत वन कहते हैं । इनमें लकड़ी काटने और पशुओं को चराने पर सरकार की ओर से कोई प्रतिबन्ध नहीं है । इन वनों को क्षेत्रफल 18 प्रतिशत है ।

अब इस वर्गीकरण के स्थान पर संविधान के अन्तर्गत निम्न वर्गीकरण स्वीकृत किया गया है ।

(1) राजकीय वन – पूर्णतः सरकारी नियन्त्रण में होते हैं लगभग 95 प्रतिशत वन इसी श्रेणी में हैं ।

(2) सामुदायिक वन – प्रायः स्थानीय नगरपालिकाओं एवं जिला परिषदों के अन्तर्गत है । लगभग 3.1 प्रतिशत वन इस प्रकार के हैं ।

(3) व्यक्तिगत वन – ये वन व्यक्तिगत लोगों के अधिकार में हैं । कुल वनों का लगभग 1.7 प्रतिशत इस प्रकार के वन हैं ।

एक समय था जब देश में वनों की कमी नहीं थी । फिर धीरे–धीरे कृषि के विस्तार के कारण वन केवल पर्वतीय क्षेत्रों एवं जनजातीय वाले क्षेत्रों में रह गये । ब्रिटिश काल में निर्वनीकरण एक समस्या के रूप में सामने आया । बड़ी मात्रा में वन समुद्री जहाजों एवं रेल स्लीपर बनाने के लिए काटे जाते थे । अतः ब्रिटिश लोगों वैज्ञानिक वनीकरण की नीति अपनाई गई । परन्तु इस प्रक्रिया में सुरक्षित वन एवं संरक्षित वन घोषित कर स्थानीय लोगों को इस संसाधन की पहुँच से दूर कर दिया । वनों के दोहन एवं निर्वनीकरण का दूसरा दौर स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त आया । जब देश के नागरिकों को लगने लगा कि ये वन हमारी नीजि सम्पत्ति है और हम इसका जैसे चाहे दोहन कर सकते हैं । वन विभाग का भी 1970 के दशक तक मुख्य कार्य टिम्बर उद्योग के रूप के ही था । उसके पश्चात् धीरे–धीरे वनों की पारिस्थितिकीय तंत्र में महत्ता एवं निर्वनीकरण के कारण होने वाले नुकसान को समझा जाने लगा ।

वन क्षरण के कारण – भारत में वन क्षरण के लिए निम्नलिखत कारण उत्तरदायी ठहराये जा सकते हैं –

(1) ऊर्जा प्राप्ति के लिए वन क्षरण – लकड़ी आज भी रसोई के ईंधन का महत्वपूर्ण साधन हैं । भारत के ग्रामीण क्षेत्रों में उपयोग होने वाली कुल ऊर्जा का 59.3 प्रतिशत भाग आज भी जलाऊ ईंधन लकड़ी से ही प्राप्त किया जाता है । पर्वतीय क्षेत्रों में यह प्रतिशत मैदानी क्षेत्रों की अपेक्षा कहीं अधिक है । मैदानी भागों में कुल रसोई ऊर्जा का लगभग 37 प्रतिशत रेगिस्तानी क्षेत्रों में 65 प्रतिशत तथा हिमालय क्षेत्रों में 90 प्रतिशत भाग वनों से प्राप्त होता है । जलाऊ लकड़ी के अधिक उपयोग के कारण हमारे देश में वनों का सर्वाधिक विनाश हो रहा है ।

(2) विद्युत शक्ति गृहों के लिए वनों का विनाश – न केवल जलाऊ लकड़ी के रूप में वनों का विनाश हो रहा है अपितु विद्युत शक्ति पैदा करने के लिए भी वनों को काटा जा रहा है ।

(3) बांध परियोजनाओं के निर्माण द्वारा वनों का विनाश – जब नदियों पर बांध निर्मित किये जाते हैं तो उनके पश्च भाग में विशाल जलाशय निर्मित हो जाता है । जिसमें डूबने से बड़ी संख्या में वनों का विनाश हो जाता है । वर्तमान समय में बांध परियोजनाओं का निर्माण कार्य हिमालय क्षेत्र में अधिक हो रहा है । वनों के विनाश के साथ–साथ डूब क्षेत्रों के विस्थापितों को पुनः बसाने के लिए भी वनों को काटा जा रहा है । उत्तराखण्ड में टिहरी बांध परियोजना बांध का निर्माण अथवा केरल राज्य की शांत घाटी परियोजना का अधूरा निर्माण इस प्रकार के वन विनाश के उदाहरण हैं ।

(4) कृषि भूमि के विस्तार के लिए वनों का विनाश – 1951 के पश्चात् देश की जनंसख्या में तीव्र गति से वृद्धि प्रारम्भ हुई । बढ़ती जनंसख्या के भरण–पोषण एवं खाद्यान्न उत्पादन में आत्मनिर्भरता हासिल करने हेतु पचास से सत्तर के दशक में कृषि भूमि के विस्तार के लिए बड़े पैमाने पर वनों को काटा गया । इसी दौरान हिमालय क्षेत्रों में भी वनों का निर्मुलन किया गया एवं सीढ़ीदार खेतों का विकास किया गया । हिमालय के कुछ क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर जंगलों को काटकर सेवों के बागान लगाये गये ।

(5) सड़कों के चौड़ीकरण एवं रेलमार्गों के निर्माण में वनो का विनाष – प्रारम्भ में रेलवे लाइन बिछाने के लिए स्लीपर हेतु बड़े पैमाने पर साल के वनों को काटा गया । हॉलाकि वर्तमान समय में लकड़ी के स्थान पर कंक्रीट के स्लीपर प्रयोग में लाये जा रहे हैं । परन्तु नई रेल लाइन बिछाने हेतु मार्ग में पड़ने वाले पेड़ों को काटे जाने का क्रम अब भी जारी है । इसीप्रकार जनंसख्या की तीव्र वृद्धि के कारण वाहनों की संख्या में भी अपार वृद्धि हुई है । अतः सड़कों को चौड़ा करने तथा राष्ट्रीय राजमार्गों एवं राज्य राजमार्गों को दो लेन के स्थान पर चार एवं छः लेन बनाने की आवश्यकता महसूस की जा ही है और इस दिशा में तेजी से सड़क निर्माण के कार्य किये जा रहे हैं । जिस कारण सड़क के दोनों ओर किनारों पर स्थित पेड़ों को बड़े पैमाने पर काटा जा रहा है ।

(6) स्थानान्तरण कृषि द्वारा वनों का विनाश – स्थानान्तरण कृषि अथवा झूम कृषि के कारण भी बड़े पैमाने पर वनों का विनाश हुआ है । झूम कृषि प्रायः आदिवासियों द्वारा की जाती है । इस प्रकार की कृषि में आदिवासी जन वनों को काट कर उसमें लगातार दो या तीन वर्षों तक फसलें उगाते हैं, उसके बाद उसे छोड़कर दूसरे वन क्षेत्रों में फसलें पैदा करने के लिए चले जाते हैं । भारत के उत्तरी पूर्वी राज्यों में आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र तथा केरल राज्य में आदिवासियों द्वारा इस प्रकार की कृषि की जाती थी । झूम कृषि द्वारा ही चेरापूँजी के सघन वन क्षेत्र वीरान पहाड़ियों में परिवर्तित हो गये हैं । वर्तमान समय में इस प्रकार की कृषि केवल असम एवं अरुणाचल प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में ही की जाती है । अन्य क्षेत्रों में झूम कृषि करने वाले आदिवासी स्थायी कृषि करने वाले कृषक में परिवर्तित हो गये हैं ।

(7) पशुपालन द्वारा वनों का विनाश – हमारे देश में सम्पूर्ण विश्व का लगभग 2.4 प्रतिशत क्षेत्रफल है जबकि सम्पूर्ण विश्व की लगभग 19 प्रतिशत पशु संख्या भारत में है । भारत के वन क्षेत्रों तथा चारागाह क्षेत्रों में पशुओं का प्रभाव अत्यधिक पड़ रहा है । चरागाह क्षेत्र तथा वन क्षेत्रों का आपस में सम्बन्ध है । जैसे–जैसे वनों का विनाश

हो रहा है वैसे वैसे चरागाह क्षेत्र भी घटते जा रहे हैं । पशुओं द्वारा अनियन्त्रित चराई से एक ओर वनों का विनाश हो रहा है दूसरी ओर पशुओं के खुरो से मिट्टी उखड़कर मृदा अपरदन हो रहा है । मिट्टी के बहने व चट्टानों के नंगी होने से प्राकृतिक वनस्पति का मूल समाप्त होता जा रहा है ।

(8) अन्य कारणों से वनों का विनाश – उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त अन्य प्राकृतिक कारणों जैसे पर्वतीय क्षेत्रों में भू–स्खलन तीव्र वर्षा, तुफान, आँधी एवं मानवीय कारणों जैसे आग लगने इत्यादि में भी वनों का विनाश होता है ।

वनों का संरक्षण एवं क्षरण रोकने के उपाय – वन अमूल्य प्राकृतिक धरोहर है । यदि वन समाप्त हो गये तो पृथ्वी पर जीवों का अस्तित्व भी समाप्त हो जायेगा । अतः वनों को बचाना न केवल हमारा कर्तव्य है बल्कि यह हमारे अस्तित्व के लिए भी आवश्यक है । वनों की कटान रोकने के लिए लोगों को इसकी महत्ता से अवगत कराना एवं जागरुक बनाना चाहिए । सबसे अधिक वनों का विनाश ईंधन की लकड़ी के रूप में होता है । अतः ईंधन हेतु नये वैकल्पिक ऊर्जा का प्रबन्धन किया जाना चाहिए । लोगों को प्रोत्साहित करना चाहिए कि वे ईंधन के रूप में उपलब्ध अन्य हरित ऊर्जा (बायो गैस, सौर ऊर्जा इत्यादि) को प्रयोग में लायें । घरों में इमारती लकड़ी व फर्नीचर आदि बनाने के लिए वनों की लकड़ी के स्थान पर अन्य विकल्पों पर जोर देना चाहिए । स्थानान्तरण प्रकार की कृषि करने पर वैधानिक रोक लगायी जानी चाहिए ।

पर्यावरण की सुरक्षा की दृष्टि से दुर्लभ किस्म के वृक्षों की कटाई पर प्रतिबन्ध होना चाहिए । चरागाहों को संरक्षण एवं विकास किया जाना चाहिए । चरागाहों के विकास से पशुओं द्वारा वनों की हानि से बचा जा सकता है । सामाजिक वानिकी एवं कृषि वानिकी को बढ़ावा दिया जाना चाहिए एवं वनों पर उद्योग धंधों के कच्चे माल के लिए लकड़ियाँ सामाजिक वानिकी से ही प्राप्त की जानी चाहिए । तीव्र एवं मन्द ढालों पर वनों की कटान पर पूर्ण प्रतिबन्ध होना चाहिए । मैदानी क्षेत्रों में आवश्यकता होने पर चयनात्मक कटाई की जानी चाहिए एवं वृक्षारोपण किया जाना चाहिए । वृक्षारोपण के लिए पौधों का चुनाव व्यावसायिक दृष्टि से नहीं बल्कि पारिस्थितिकी एवं स्थानीय दृष्टि से महत्वपूर्ण होना चाहिए ।

वनों के संरक्षण हेतु वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के प्रयास किये जाने चाहिए । वर्तमान समय में भारत में निर्वनीकरण एवं प्रमुख पर्यावरणीय समस्या है । इस समस्या को मद्देनजर रखते हुए पर्यावरण एवं वन मंत्रालय ने सन् 1988 में राष्ट्रीय वन नीति घोषित की । इसके अन्तर्गत संयुक्त वन प्रबन्धन को महत्ता दी गयी । संयुक्त वन प्रबन्धन स्थानीय ग्रामीण समुदाय एवं वन विभाग का वनों के धारणीय विकास हेतु एक संयुक्त प्रयास था । सन् 2000 में संयुक्त वन प्रबन्धन के नये दिशा निर्देश जारी किये गये जिसके अन्तर्गत निर्धारित किया गया कि वनीय क्षेत्र से होने वाली आय का 25 प्रतिशत हिस्सा स्थानीय समुदाय के विकास हेतु व्यय किया जायेगा । लगभग भारत के सभी राज्यों में यह प्रयास सफल रहा है ।

वास्तव में वनों से इमारती लकड़ी प्राप्त करना, बांधों का निर्माण एवं खनन उद्योग विकासशील राष्ट्र की वर्तमान आवश्यकता भी है । परन्तु यदि वनों को काटा गया तो क्षेत्रीय पारिस्थितिकीय संतुलन बिगड़ने का खतरा बना रहता है । अतः वनों

की संरक्षण एवं विकास की रणनीति में एक द्वंद की स्थिति बनी रहती है । परन्तु यह समझे की आवश्यकता है लघु समय के आर्थिक लाभ हेतु दीर्घकालीन पर्यावरणीय संतुलन को न्योछावर नहीं किया जा सकता है ।

8.7.4 खनिज संसाधन – खनिज भूगर्भ में प्राकृतिक रूप से पाया जाने वाला अनण्यकरणीय अथवा क्षयशील संसाधन है और वर्तमान समय में यह औद्योगिक सभ्यता का मूल आधार भी है । किसी देश के आर्थिक विकास में इनका महत्वपूर्ण योगदान है । इन खनिजों का निर्माण भू–पर्पटी में लाखों करोड़ो वर्षों के दौरान हुआ है । परन्तु पृथ्वी पर इनका वितरण समान नहीं है । कुछ क्षेत्र खनिजों की उपलब्धता की दृष्टि से सम्पन्न हैं तो वहीं कुछ क्षेत्र इनमें पूरी तरह से वंचित हैं । उद्योग, परिवहन, कृषि तथा सुरक्षा इत्यादि क्षेत्रों में इनका प्रयोग होता है । अतः संक्षिप्त रूप में कहा जा सकता है कि किसी देश का आर्थिक विकास एवं औद्योगिक उपलब्धि वहाँ पाये जाने वाले खनिजों की विविधता, बहुलता तथा उत्तमता पर निर्भर करता है । लौह, अल्यूमिनियम, जस्ता, मैगनीज तथा ताँबे इत्यादि का प्रयोग विभिन्न उद्योग धंधों में किया जाता है । महत्वपूर्ण अधात्विक खनिज के अन्तर्गत अभ्रक, नमक, जिप्सम, हीरा, संगमरमर, ग्रेनाइट, चूना पत्थर इत्यादि सम्मिलित किये जाते हैं । इनमें संगमरमर, सिलिका, चूना पत्थर, ग्रेनाइट इत्यादि का प्रयोग इमारत एवं भवन निर्माण में किया जाता है । हीरा, सोना, चाँदी, प्लेटिनम इत्यादि बेशकिमती खनिजों का उपयोग आभूषण हेतु किया जाता है। फास्फोरस का प्रयोग उर्वरकों के निर्माण में किया जाता है । यूरेनियम, थोरियम, बेरिलियम इत्यादि खनिजों का उपयोग अणु ऊर्जा के उत्पादन में किया जाता है ।

अधिकांश खनिज (धात्विक अथवा अधात्विक) अपरिष्कृत रूप में भूगर्भ में पाये जाते हैं एवं उपयोग में लाने हेतु इन्हें परिष्कृत करना पड़ता है । जिसके लिए उच्च तकनीकि की आवश्यकता होती है । खनिज अनव्यकरणीय प्राकृतिक संसाधन है अर्थात् एक बार उपयोग करने के पश्चात् पुनः इसका उत्पादन नहीं किया जा सकता । अतः खनिजों का विवेकपूर्ण उपयोग करना समय की आवश्यकता है । इसके अतिरिक्त इन खनिजों का पुनःचक्रण कर अधिकाधिक उपयोग करना, नए–नए भण्डारों का पता लगाना, अन्य तकनीकि का प्रयोग करना तथा समुद्र में गहराई तक खनन करना इत्यादि उपाय है जिसके द्वारा खनिज संसाधनों की कमी को पूरा किया जा सकता है । खनिज की अधिक खपत को हम वैज्ञानिक तथा अत्याधुनिक तकनीकों के द्वारा कम कर सकते हैं । विश्व के कई विस्तृत क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ खनिज की अपार संभावनायें हैं एवं अन्वेषण कार्य जारी है । जिन खनिजों के भण्डार कम है उनकी विशेषताओं का अध्ययन करके उनके विकल्प पदार्थों की खोज की जानी चाहिए और वैकल्पिक पदार्थों का उपयोग करके उन खनिजों का संरक्षण किया जाना चाहिए ।

खनन उद्योग बेहद खतरनाक व्यवसाय है अतः खनन उद्योग में लगे कर्मियों की सुरक्षा अत्यन्त महत्वपूर्ण है । सतही एवं खुली खानों से खनन भूमिगत खनन की अपेक्षा कम खतरनाक है इसी प्रकार धात्विक खनिजों का खनन कोयले अथवा रासायनिक खनिजों के खनन की अपेक्षा कम खतरनाक है । भूमिगत खदानों में छत का ध्वस्त होना, खानो में भूमिगत जल का जाना, स्वच्छ वायु की अनुपलब्धता इत्यादि का खतरा अधिक रहता है । खानों से खनन के दौरान धूल की अधिकता से श्रमिकों

को फेफड़े की बीमारी होने की सम्भावना अधिक रहती है । इसीप्रकार कोयले की खानों में कभी–कभी जहरीली गैसे निकलती हैं जो श्रमिकों के लिए जानलेवा हो सकती हैं । अतः खनिज अत्यन्त महत्वपूर्ण संसाधन होते हुए भी इसमें संबंधित व्यवसाय श्रमिकों के स्वास्थ्य हेतु खतरनाक सिद्ध हो सकते हैं । अतः इन उद्योगों में लगे श्रमिकों को पर्याप्त सुरक्षा सामग्री उपलब्ध करायी जानी चाहिए एव इनके स्वास्थ्य का एक अन्तराल पर परीक्षण होते रहना चाहिए । अतः इस सन्दर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न राष्ट्रों के मध्य कई समझौते हस्ताक्षरित किये गये हैं एवं भारत भी इन अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों में सदस्य है ।

8.7.5 खाद्य संसाधन – भोजन मानव की मूलभूत आवश्यकता है । भोजन से ऊर्जा प्राप्त होती है और मानव जीवन चलता रहता है । इसके बिना जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती । वर्तमान समय में खाद्य का सम्पूर्ण भाग कृषि, पशुपालन एवं मत्स्य उद्योग द्वारा प्राप्त होता है । वैश्विक स्तर पर खाद्य की कमी नहीं है फिर भी कई राष्ट्र ऐसे हैं जहाँ की एक तिहाई से लेकर आधी जनसंख्या कुपोषण का शिकार है । इसका मुख्य कारण निर्धनता है । भारत वर्तमान समय में खाद्यान्न उत्पादन में आत्मनिर्भर है परन्तु यहाँ भी एक तिहाई जनसंख्या गरीबी रेखा के नीचे है और यह आत्मनिर्भरता भी हरित क्रान्ति का परिणाम है जो अधिकाधिक रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशकों, खतपतवार नाशकों एवं उन्नत बीजों के परिणामस्वरूप आई । परन्तु राासायनिक उर्वरकों के अधिकाधिक प्रयोग के दुष्परिणाम अब धीरे धीरे परिलक्षित हो रहे हैं । अब पुनः कृषि में रासायनिक उर्वरकों के स्थान पर जैविक खादों के प्रयोग पर बल दिया जा रहा है । एवं कृषि को सतत कृषि अथवा धारणीय कृषि बनाने के प्रयास किये जा रहे हैं अर्थात् ऐसी कृषि जिससे जल, भूमि का संरक्षण हो, अधिक उत्पादन हो एवं पर्यावरणीय हानि न हो । बड़े कृषक एक फसली कृषि करते हैं ऐसी स्थिति में यदि कोई फसलों से संबंधित रोग फैलता है तो पूरी फसल नष्ट हो जाती है । अतः एक फसली कृषि के स्थान पर यदि मिश्रित कृषि अथवा बहुफसली कृषि की जाये तो ऐसी समस्या का सामना नहीं करना पड़ता एवं भूमि की उर्वरता भी बनी रहती है ।

एक अनुमान के अनुसार वैश्विक स्तर पर प्रतिवर्ष 1.80 करोड़ लोगों की मौत, कुपोषण एवं भूखमरी के कारण होती है तथा जिनमें अधिकांश संख्या महिलाओं एवं बच्चों की होती है । अतः खाद्य सुरक्षा अति आवश्यक है । खाद्य सुरक्षा का तात्पर्य अन्न की भौतिक उपलब्धता के साथ–साथ लोगों के क्रय करने की क्षमता से भी है । इस दिशा में भारत सरकार द्वारा कई नीतियाँ एवं कार्यक्रम संचालित किए जा रहे हैं और वर्तमान समय में खाद्य सुरक्षा बिल संसद में पारित हो गया है । इस बिल के विधेयक बन जाने के पश्चात् खाद्य सुरक्षा प्रत्येक व्यक्ति का कानूनन अधिकार होगा । हाल में समाचार पत्रों में प्रायः खबरें प्रकाशित होती रहती है कि प्रतिवर्ष गोदामों में बड़ी मात्रा में अनाज सड़ रहे हैं एवं चूहों का निवाला बन रहे हैं । इन खबरों के संज्ञान में लेते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने कई बार दिशा निर्देश भी जारी किये हैं । इस समस्या के मूल में गलत सरकारी नीतियाँ रही हैं एवं इस दिशा में शीघ्र ही ठोस पहल की आवश्यकता है क्योंकि एक तरफ जहाँ लोग भूखे मर रहे हैं एवं

कुपोषण का शिकार हो रहे हैं वहीं दूसरी तरफ बड़ी मात्रा में अनाज गोदामों में सड़ रहे हैं ।

खाद्य सुरक्षा सुनिश्चित करने हेतु बिना मृदा की उर्वरता को नष्ट किये उत्पादन बढ़ाने की आवश्यकता है । फसलों का चुनाव स्थानीय जलवायु के अनुसार किया जाना चाहिए । कम वर्षा वाले क्षेत्रों में अधिक जल की आवश्यकता वाली फसलें नहीं बोयी जानी चाहिए । बहु फसली विधि एवं चक्रीय फसलों द्वारा भूमि की उर्वरता को बनाये रखने का प्रयास किया जाना चाहिए । तटीय क्षेत्रों में मत्स्य उत्पादन पर बल दिया जाना चाहिए । इसके अतिरिक्त आंतरिक क्षेत्रों में भी तालाब बनाकर कृषि के साथ–साथ मत्स्य उत्पादन, पशु–पालन, कुक्कुट पालन इत्यादि कार्य किये जा सकते हैं । इससे कृषकों की आय में वृद्धि भी होगी तथा खाद्य सुरक्षा भी सुनिश्चित होगी ।

8.7.6 ऊर्जा संसाधन – पृथ्वी पर ऊर्जा का प्राथमिक श्रोत सूर्य है । हम सभी सूर्य से प्राप्त ऊर्जा पर ही प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से निर्भर हैं । सूर्य के प्रकाश से ही वनस्पतियाँ विकसित होती हैं एवं खाद्यान्न प्राप्त होता है । वनस्पतियाँ प्रकाश संश्लेषण के दौरान आक्सीजन उत्सर्जित करती है जिसका प्रयोग पशु एवं मनुष्य श्वसन क्रिया हेतु करते हैं । श्वसन प्रक्रिया के द्वारा उत्सर्जित कार्बन डॉय आक्साइड का अवशोषण भी वनस्पतियों द्वारा किया जाता है । सूर्य प्रकाश द्वारा ही सागर नदी एवं झीलों का जल वाष्पीकृत होकर बादलों में परिवर्तित होता है एवं वर्षा के रूप में गिरता है । वर्तमान समय में भूगर्भ में पाये जाने वाले जीवाश्मीय ईंधन भी प्रागेतिहासिक काल में वनस्पतियों के रूप में थे जिनका विकास सूर्य प्रकाश द्वारा हुआ था । अतः सूर्य प्रकाश ऊर्जा का प्राथमिक स्त्रोत है एवं ऊर्जा का प्रवाह सतत चलता रहता है । ऊर्जा की आवश्यकता घरेलु उपयोग, कृषि, औद्योगिक वस्तुओं के उत्पादन, परिवहन संचार, संरक्षा सभी क्षेत्रों में होती है । अधिकतम ऊर्जा का उपभोग आज विकास का मानक बन चुका है । विकसित राष्ट्रों में प्रति व्यक्ति ऊर्जा की खपत विकासशील राष्ट्रों में ऊर्जा की खपत से कहीं अधिक होती है ।

लगभग दो शताब्दियों तक ऊर्जा का प्रमुख साधन कोयला ही रहा है । उन्नीसवीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति में ऊर्जा का मुख्य स्त्रोत कोयला ही था । बीसवीं शताब्दी के अन्त आते–आते व्यवसायिक ऊर्जा उपभोग में कोयले का महत्व कम होने लगा । वर्तमान में वैश्विक स्तर पर कुल व्यवसायिक ऊर्जा का 39 प्रतिशत भाग पेट्रोलियम, 24 प्रतिशत भाग कोयले द्वारा, 24 प्रतिशत भाग प्राकृतिक गैस द्वारा प्राप्त किया जाता है । जबकि आण्विक ऊर्जा एवं जल विद्युत का योगदान क्रमशः 7 प्रतिशत एवं 6 प्रतिशत है । परन्तु भारत में अब भी कोयला ही महत्वपूर्ण ऊर्जा का स्त्रोत है एवं कुल ऊर्जा आवश्यकता का 55 प्रतिशत हिस्सा कोयले से ही प्राप्त किया जाता है इसके पश्चात् पैट्रोलियम 21 प्रतिशत, प्राकृतिक गैस 8 प्रतिशत, जल विद्युत 5 प्रतिशत एवं नाभिकीय ऊर्जा 1 प्रतिशत का स्थान आता है ।

ऊर्जा संसाधन को मुख्य रूप से दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है ।

(1) अनव्यकरणीय ऊर्जा संसाधन ।

(2) नव्यकरणीय ऊर्जा संसाधन ।

अनव्यकरणीय ऊर्जा संसाधन – अनव्यकरणीय ऊर्जा संसाधनों के अन्तर्गत मुख्य रूप से जीवाश्मीय ईंधन को सम्मिलित किया जाता है जिसके अन्तर्गत कोयला, पेट्रोलियम, प्राकृतिक गैस आते हैं । इन्हें जीवाश्म, ईंधन इसलिए कहा जाता है कि इनका निर्माण वनस्पतियों एवं जन्तुओं के जीवाश्मीकृत होने के कारण लाखों वर्ष पूर्व हुआ है । ये अनव्यकरणीय संसाधन कहलाते हैं क्योंकि ये भूगर्भ में सीमित मात्रा में हैं एवं एक बार प्रयोग कर लेने के पश्चात् ये समाप्त हो जाते हैं । इसके अतिरिक्त कोयले एवं पेट्रोलियम पर्यावरण की दृष्टि से भी उपयुक्त ऊर्जा के संसाधन नहीं हैं क्योंकि इसे वायु प्रदूषित हो रही है । जिससे भू–ताप वृद्धि, कई प्रकार श्वसन से संबंधित रोग एवं अम्लीय वर्षा जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है । अतः वर्तमान समय की आवश्यकता है कि जीवाश्मीय ईंधन पर निर्भरता कम की जाये एवं इनके स्थान पर वैकल्पिक ऊर्जा के साधन खोजने के प्रयास किये जायें ।

नव्यकरणीय ऊर्जा संसाधन – अब तक तो आप समझ ही गये होंगे कि नव्यकरणीय ऊर्जा संसाधन का तात्पर्य है जिनका सतत पुनर्स्थापन होता रहे तथा जो कभी समाप्त न हो । नव्यकरणीय ऊर्जा संसाधन के अन्तर्गत मुख्य रूप से जल विद्युत, सौर ऊर्जा, वायु ऊर्जा, ज्वार भाटा से ऊर्जा, भू–ताप ऊर्जा एवं नाभिकीय ऊर्जा को सम्मिलित किया जाता है । अब इन पर संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत की जायेगी ।

विद्युत ऊर्जा – जल विद्युत शक्ति नव्यकरणीय ऊर्जा स्त्रोतों में सबसे मुख्य है । जल विद्युत शक्ति के उत्पादन के लिए जरुरी है कि वर्ष भर वर्षा हो ताकि नदियों में पर्याप्त जल प्रवाह होता रहे । नदी मार्ग में जल प्रपात न होने की स्थिति में बाँध बनाने की आवश्यकता पड़ती है । जल विद्युत सबसे सस्ता संसाधन है । जल विद्युत को ट्रान्समिशन लाइनों द्वारा सरलतापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाया जा सकता है । साथ ही इससे धुआँ अथवा गंदगी नहीं होती । इसलिए इसे सफेद कोयला भी कहा जाता है ।

जल विद्युत शक्ति वायुमण्डलीय प्रदूषण की दृष्टि में तो अति उत्तम है परन्तु बाँधों एवं जलाशयों के निर्माण से कई पारिस्थितिकीय समस्यायें उत्पन्न हो जाती है । जैसे – बाँध एवं जलाशय वाले भागों में दवाब के कारण भूकम्प आने की सम्भावना होती है । इसके अतिरिक्त बड़े बाँधों एवं जलाशयों के निर्माण से विस्तृत वन क्षेत्रों का सफाया करना पड़ता है । इनके निर्माण से काफी अधिक जनसंख्या को हटाना पड़ता है । उन्हें फिर बनाना एक चुनौती भरी समस्या है । यही कारण है कि आज बड़ी जल विद्युत परियोजनाओं के स्थान पर लघु एवं जलाशय बनाने पर जोर दिया जा रहा है ।

सौर ऊर्जा – सौर ऊर्जा, ऊर्जा का एक वैकल्पिक स्त्रोत है । भारत में सौर ऊर्जा विकसित करने की अपार सम्भावनायें हैं । यहाँ वर्ष के अधिकांश दिनों में सूर्य चमकता है । अतः वर्ष भर सौर ऊर्जा का उत्पादन कीया जा सकता है । प्रतिवर्ष भारत में प्रति वर्ग मीटर 2100 किलोवाट सौर ऊर्जा का उत्पादन किया जा सकता है । सौर ऊर्जा उपयोग के लिए सौर कुकर, वाटर हीटर, फोटोवोल्टाइक सेल इत्यादि उपकरणों का विकास किया गया है । जोधपुर में सौर ऊर्जा संयंत्र कार्य कर रहा है लेकिन ये सभी कार्य अभी शैशवावस्था में है । पर्वतीय क्षेत्रों में सरकार की ओर से सोलर पैनल लगाने पर पर्याप्त छूट दी जाती है ।

पवन ऊर्जा – भारत में पवन से ऊर्जा प्राप्ति की पर्याप्त सम्भावनायें हैं । प्रति सेकेण्ड 8 से 23 मीटर पवन गति इस ऊर्जा के विस्तार के लिए आदर्श होती है । हिमालय के उत्तरी पूर्वी भाग व प्रायद्वीपीय भारत के तटीय भागों में पवन ऊर्जा विस्तार की अनुकूल दशायें उपलब्ध हैं । पवन से प्राप्त ऊर्जा अन्य ऊर्जा स्त्रोतों से कम खर्चीली है ।

नाभिकीय ऊर्जा – अब भारत में वैकल्पिक ऊर्जा स्त्रोत के रूप में परमाणु संयंत्रों को स्थापित किया जा रहा है परन्तु अभी इनकी संख्या कम है । अभी तक देश में तारापुर, कोटा, कलपक्कम, काकरापारा, नरौरा एवं कैसा में ही परमाणु विद्युत गृह हैं । नाभिकीय विद्युत गृह के साथ समस्या यह है कि इनमें प्रयुक्त होने वाले कच्चे माल (यूरेनियम तथा प्लूटोनियम) की कमी है एवं इससे पर्यावरण को नुकसान का खतरा बना रहता है । यद्यपि यह स्त्रोत अधिक महँगा नहीं है परन्तु इनकी सुरक्षा अपशिष्टों का निस्तारण आदि में अधिक खर्च करना पड़ता है ।

इसके अलावा समुद्र तटीय भागों में ज्वारीय ऊर्जा व पर्वतीय भागों में भू तापीय ऊर्जा का विकास किया जा सकता है । ये वैकल्पिक ऊर्जा अभी प्रायोगिक स्तर पर है एवं व्यवसायिक आधार पर उत्पादन नहीं किया जा सकता है ।

8.7.7 मृदा संसाधन – मृदा आधारभूत प्राकृतिक संसाधन है । इन पर कृषि करके मनुष्य खाद्यान्न उगाता है । अनेक औद्योगिक कच्चे माल की कृषि द्वारा प्राप्त किये जाते हैं । जिस राष्ट्र की मृदा अनुर्वर हो जाती है उस देश की अर्थव्यवस्था व संस्कृति को नष्ट होने में अधिक समय नहीं लगता । अतः मिट्टी एक महत्वपूर्ण प्राकृतिक संसाधन तथा मानव जीवन का मूल आधार है । मिट्टी से ही मनुष्य की तीनों मूलभूत आवश्यकताओं – भोजन, वस्त्र और मकान की पूर्ति होती है । इसलिए इसे सम्पूर्ण मानव जाति के लिए प्रकृति का एक बहुमूल्य वरदान माना जाता है ।

मृदा संसाधन से संबंधित मुख्य समस्या मृदा अपरदन की है । मृदा अपरदन एक ऐसी आपदा है जो उपजाऊ एवं उर्वर भूमि को अनुपजाऊ बना देती है । जब धरातल की ऊपरी परत किसी कारणवश एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानांतरित कर दी जाती है तो उसे मृदा अपरदन कहते हैं । पारिस्थितिकीय तंत्र में मृदा की महत्वपूर्ण भूमिका होती है । इसी में वनस्पतियाँ जन्म लेती हैं एवं विकसित होती है तथा अन्य जीवों के लिए भोजन प्रदान करती हैं । एक अनुमान के अनुसार पाँच सेन्टीमीटर मोटी मिट्टी को पूर्णतः विकसित होने में 500 वर्ष लग जाते हैं जबकि उसके क्षरण में केवल कुछ घण्टे ही लगते हैं । अतः इस संसाधन का संयमित उपयोग और संरक्षण जीवन क्रम को सतत् बनाये रखने के लिए अति आवश्यक है ।

अवैज्ञानिक भूमि उपयोग अर्थात् ढाल एवं जलवायु को ध्यान में न रखकर कृषि करने, पशु चराने, वृक्षों को काटने आदि से मिट्टी के कण ढीले हो जाते हैं जिन्हें विभिन्न साधनों जैसे वाही जल अथवा हवा द्वारा प्रवाहित कर स्थानान्तरित कर दिया जाता है । इसे ही मृदा अपरदन कहते हैं । इससे भूमि की उर्वराशक्ति नष्ट हो जाती है । जब वर्षा के जल अथवा तेज चलने वाली हवाओं से भूमि की ऊपरी सतह की मिट्टी स्थानान्तरित कर दी जाती है । तो इसे भूमि का परत अपरदन कहते हैं । इसके विपरित जल जब तेजी से बहता है तो उसकी विभिन्न धारायें मिट्टी को कुछ

गहराई तक काटकर धरातल पर नालियाँ व गढ्डे बना देती है इसे अवनालिका अपरदन कहते हैं । मरुस्थली एवं रेगिस्थानी क्षेत्रों में प्रचण्ड वायु द्वारा ऊपरी ढीली मिट्टी की परत उड़कर दूसरे स्थान पर बिछ जाती है इसे वायु अपरदन कहते हैं ।

मृदा अपरदन के कारण अनेक समस्यायें उत्पन्न होती हैं । जिनमें मिट्टी की उर्वरता में कमी प्रमुख हैं । इसके अलावा भूमि कृषि योग्य नहीं रह पाती है । अपरदित मृदा नदियों के जल के साथ वह कर जलाशयों में एकत्रित होती हैं जिससे सिल्टीकरण की समस्या उत्पन्न हो जाती है । मरुथलीकरण का विस्तार एवं बिहड़ों का निर्माण भी मृदा अपरदन के कारण होता है ।

भूमि क्षरण रोकने के लिए पहाड़ी ढालों एवं बंजर भू–भागों और नदियों के किनारे वृक्षारोपण किया जाना चाहिए । अनियन्त्रित पशुचारण पर रोक लगायी जानी चाहिए । बहते हुए जल का वेग कम करने के लिए खेतों में मेड़बन्दी करना चाहिए । जिन स्थानों पर मृदा अपरदन द्वारा शीर्ष मृदा हट गई है, वहाँ पर विभिन्न प्रकार की घासें उगाई जानी चाहिए । ये मृदा को दृढ़ता प्रदान करती हैं । पहाड़ी ढालों पर सीढ़ीनुमा खेती की जानी चाहिए । कम वर्षा वाले क्षेत्रों में जहाँ बहुत कम फसलें उग पाती हैं । इन स्थानों पर पशुओं को चराने के लिए घासें उगाई जा सकती हैं । जिससे मृदा का अपरदन नहीं हो पाता । जिन स्थानों पर तेज हवायें चलती हैं वहाँ वायु द्वारा अपरदन रोकने के लिए हवा की दिशा के विपरित वृक्षारोपण पास–पास पंक्तियों में किया जाना चाहिए, जिससे हवा की गति धीमी हो जायेगी तथा वायु द्वारा उड़ाये गये मृदा के कण वृक्षों में रुकेंगे । इस विधि का प्रयोग सामान्यतया मरुस्थलीकरण के विस्तार को रोकने के लिए किया जाता है ।

8.8 निष्कर्ष

इस इकाई के प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर दिया गया कि संसाधन ऐसा कोई भी तत्व है जिससे मानव की किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति होती है । किसी तत्व का संसाधन बनना ज्ञान एवं प्राविधिकी के स्तर पर निर्भर करता है । जो वर्तमान में बेकार की वस्तु है प्राविधिकी के उच्च स्तर के साथ संसाधन बन सकती है । कोयला एक लंबे समय तक केवल काली अनुपयोगी वस्तु के रूप में था। ज्ञान एवं तकनीकि विकास के साथ आज यह महत्वपूर्ण ऊर्जा एवं शक्ति संसाधन है । इसी प्रकार प्राकृतिक संसाधनों के उत्पादक एवं उपभोक्ता के रूप में मानव स्वयं महत्वपूर्ण संसाधन हैं । सभी प्रकार के प्राकृतिक व मानवीय संसाधन मनुष्य से ही सम्बन्धित होते हैं । उसके बिना प्राकृतिक तत्वों का न तो कोई मूल्य है और न ही उपयोग । यह मानव के अनवरत प्रयासों का ही परिणाम है कि जल से विद्युत, सूर्य प्रकाश से सौर ऊर्जा तथा वायु से पवन ऊर्जा प्राप्त की जाने लगी है । मानव ने भूगर्भ में दबे हुए तथा सागर नितल के नीचे दफन खनिजों को भी ढूँढ निकाला है । जनंसख्या की तीव्र गति के कारण नये–नये संसाधनों को खोजने की आवश्यकता है तथा उपलब्ध संसाधनों का समुचित विवेकपूर्ण उपयोग होना चाहिए । संसाधनों का इस दृष्टि से प्रबन्धन किया जाना चाहिए जिससे वे दीर्धकाल तक मानव की सेवा करते रहें ।

8.9 शब्दावली

- **एकल संसाधन** – ये वे संसाधन है जिनकी पृथ्वी पर उपलब्धता केवल एकाध स्थानों पर ही है ।
- **अज्ञात संसाधन** – ऐसे संसाधन जिनके उपयोग के बारे में मानव को अभी तक कोई ज्ञान नहीं हो पाया है अज्ञात अथवा गुप्त संसाधन कहलाते हैं ।
- **अक्षय संसाधन** – ऐसे संसाधन जिनका कभी क्षय नहीं हो सकता अक्षय संसाधन अथवा अनश्वर संसाधन कहलाते हैं । जैसे – सूर्य प्रकाश ।
- **निर्वनीकरण** – मानवीय गतिविधियों द्वारा वनों का समाप्त होना निर्वनीकरण कहलाता है ।
- **सामाजिक वानिकी** – समाज की अप्रयुक्त भूमि पर वृक्षारोपण सामाजिक वानिकी कहलाता है । ग्रामीण क्षेत्र में स्थानीय लोगों की लकड़ियों की आवश्यकता की पूर्ति सामाजिक वानिकी द्वारा प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है ।
- **कृषि वानिकी** – कृषि भूमि पर कृषि के साथ–साथ मेड़ों पर वृक्षारोपण किया जाना कृषि वानकी कहलाता है ।
- **परत अपरदन** – जल अथवा वायु द्वारा भूमि की ऊपरी परत का नष्ट होना परत अपरदन कहलाता है ।
- **रिल अपरदन** – भारी वर्षा से तेजी से बहता हुआ जल खेतों तथा भूमि में जाल के रू॰ में अनियमित आकार की व लम्बाई की क्षुद्र सरितायें बन जाती है एवं ऊपरी परत नष्ट हो जाती है इसे रिल अपरदन कहते हैं ।
- **अवनालिका अपरदन** – रिल अपरदन लगातार होने से छोटी–छोटी रिल या क्षुद्र सरितायें मिलकर अवनालियाँ बना लेती हैं । इनके बनने में प्राकृतिक गढ्ढे, पशुओं के खुरो तथा गाड़ियों के पहियों के निशान आदि महत्वपूर्ण योगदान करते हैं । इसे ही अवनालिका अपरदन कहते हैं ।
- **खाद्य सुरक्षा** – खाद्यान्न की भौतिक उपलब्धता एवं आपूर्ति के साथ–साथ लोगों की क्रय शक्ति में सुधार जिससे वे खाद्यान्न का क्रय कर सके ।
- **भू–तापीय ऊर्जा** – भूगर्भ के ताप का प्रयोग करके विद्युत का उत्पादन भूताप ऊर्जा कहलाता है इसकी संभावनायें वहाँ अधिक होती हैं जहाँ गर्म जल के स्त्रोत पाये जाते हैं ।

8.10 लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) प्राप्यता अथवा वितरण के आधार पर संसाधनों को कितने वर्गों में विभाजित किया जा सकता है ?

उत्तर – प्राप्यता अथवा वितरण के आधार पर संसाधन चार प्रकार के बताये जा सकते हैं सर्वसुलभ संसाधन, सामान्य सुलभ संसाधन, विरल संसाधन, एकल संसाधन।

(2) सम्भाव्य संसाधन से आप क्या समझते हैं ?

उत्तर – सम्भाव्य संसाधन वे हैं जिनका संसाधन के रूप में प्रयोग करने की अपार सम्भावनायें हैं । पवन ऊर्जा, सौर ऊर्जा एवं अन्य गैर परम्परागत स्त्रोत इसी प्रकार संसाधन हैं ।

(3) प्राकृतिक संसाधन क्या होते हैं ?

उत्तर – प्राकृतिक संसाधन वे संसाधन है, जो प्रकृति द्वारा निशुल्क प्रदान किए जाते हैं और जो मनुष्य के लिए उपयोग होते हैं ।

(4) संसाधनों का संरक्षणात्मक वर्गीकरण क्या है एवं किसने प्रस्तुत किया ?

उत्तर – संसाधनों के संरक्षणात्मक वर्गीकरण के अन्तर्गत संसाधनों को दो वर्गों अक्षयी अथवा अनश्वर संसाधन तथा नश्वर या क्षयी संसाधन में विभाजित करते हैं । संसाधनों का यह वर्गीकरण ओवेन महोदय ने सन् 1971 में प्रस्तुत किया ।

(5) भारत में सौर ऊर्जा संयंत्र कहाँ स्थापित किया गया है ?

उत्तर – भारत में सौर ऊर्जा संयन्त्र जोधपुर में स्थापित किया गया है ।

(6) आण्विक ऊर्जा हेतु किन खनिजों का प्रयोग किया जाता है ?

उत्तर – यूरेनियम, थोरियम, वेरिलियम इत्यादि खनिजों का उपयोग अणु ऊर्जा के उत्पादन में किया जाता है ।

(7) पवन ऊर्जा हेतु वायु कि कितनी गति आवश्यक होती है ?

उत्तर – प्रति सेकण्ड 8 से 23 मीटर पवन गति पवन ऊर्जा के उत्पादन हेतु आदर्श होती हैं ।

(8) भारत में नाभिकीय विद्युत गृह कहाँ कहाँ स्थित हैं ?

उत्तर – भारत में तारापुर, कोटा, कलपक्कम, काकरापारा, नरौरा एवं कैगा में नाभिकीय विद्युत गृह स्थापित किये गये हैं ।

(9) मृदा संरक्षण ने आप क्या समझते हैं ?

उत्तर – किसी भी स्थान की मिट्टी के कटाव को रोकना तथा भूमि को उर्वर बनाये रखना ही मृदा संरक्षण है ।

(10) मृदा संरक्षण के कृषिगत उपाय बताइये ।

उत्तर – मृदा संरक्षण के कृषिगत उपाय हरि खादों का प्रयोग, शस्यावर्तन समांच्च जुलाई, वेदिकाकरण, गहरी जुलाई, पट्टीदार कृषि तथा वनों की संरक्षी पेरी लगाना है ।

8.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. संसाधन से आप क्या समझते हैं ? विभिन्न आधारों पर संसाधन का वर्गीकरण प्रस्तुत कीजिए ।
2. संसाधन संरक्षण पर प्रकाश डालते हुए विस्तार से वर्णन कीजिए।
3. जल संसाधनों पर लेख लिखिए ।
4. वन संरक्षण पर विस्तृत टिप्पणी कीजिए ।
5. वन क्षरण के कारणों का उल्लेख कीजिए ।

6. ऊर्जा के स्त्रोत कौन–कौन से हैं ? ऊर्जा संसाधन पर विस्तार से निबन्ध लिखिए ।

8.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- *तिवारी, विनय कुमार,* 1998 ''पर्यावरण और पारिस्थितिकीय।'' हिमालया पब्लिशिग हाऊस, मुम्बई–04 ।
- *वर्मा जी0 एस0,* 2005 ''पर्यावरण अध्ययन ।'' इण्टरनेशनल पब्लिशिंग हाऊस, मेरठ ।
- *Bharucha Erach,* 2005, “Text book of environmental study” Univercity press (India) Private Limited, Hyderabad (A.P.).
- *Singh Satendra,* 2000, “Environmenal Geography” Vasundhara Publication, Gorakhpur, U.P.

इकाई – 09 प्राकृतिक संसाधनों का निम्नीकरण एवं प्रदूषण

Degradation and Pollution of Natural Resources

9.1 प्रस्तावना

9.2 उद्देश्य

9.3 प्रदूषण की अवधारणा

9.4 प्रदूषण के प्रकार

9.5 प्रदूषण के स्रोत

9.6 सारांश

9.7 शब्दावली

9.8 लघु उत्तरीय प्रश्न

9.9 निबन्धात्मक प्रश्न

9.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

9.1 प्रस्तावना

पर्यावरण संतुलन को बनाये रखने में पारिस्थितिकी तंत्र एवं जैव विविधता का महत्वपूर्ण योगदान होता है । अतः इनके संरक्षण एवं संवर्धन हेतु अनेक प्रयास एवं कार्यक्रम स्थानीय, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर किये जा रहे हैं । इसके अतिरिक्त सामान्य जन की सहभागिता सुनिश्चित करने हेतु कई जागरूकता कार्यक्रम एवं महत्वपूर्ण दिवस भी मनाये जा रहे हैं। वास्तव में पारिस्थितिकी तंत्र के अपने सामाजिक आर्थिक निहितार्थ होते हैं ।

आधुनिक समय में जनसंख्या की विस्फोटकीय वृद्धि, औद्योगीकरण, तीव्र आर्थिक विकास तथा भौतिकवादी, उपभोक्तावादी, विलासितापूर्ण जीवन शैली के कारण तथा अधिकाधिक लाभ की लालसा में मनुष्य ने प्राकृतिक पर्यावरण का अति दोहन किया है और इसके दुष्परिणाम पर्यावरण प्रदूषण के रूप में परिलक्षित होना प्रारम्भ हो गये हैं ।

पर्यावरण प्रदूषण की समस्या से निजात पाने के लिए समस्त विश्व में व्यापक स्तर पर प्रयास करने की आवश्यकता है तथा इस प्रक्रिया में सभी विकसित एवं विकासशील देशों की भागीदारी आवश्यक है । प्रदूषण निवारण हेतु आज आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, तकनीकि एवं वैधानिक स्तर पर प्रयास करने होंगे । जिनके सम्बन्ध में व्यापक अध्ययन वर्तमान इकाई में किया जायेगा ।

9.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के निम्न उद्देश्य हैं –

- प्रदूषण की अवधारणा से आप क्या समझते हैं ?
- प्रदूषण के विभिन्न कारक कौन–कौन से हैं ?
- आर्थिक विकास एवं प्रदूषण के स्तर में क्या सहसम्बन्ध है ?
- पर्यावरण प्रदूषण के दुष्परिणाम कौन–कौन से हैं ?
- प्रदूषण नियन्त्रण के उपाय के बाधक तत्व कौन से हैं ?
- प्रदूषण नियन्त्रण एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति क्या है ?
- प्रदूषण नियन्त्रण हेतु भारत में क्या प्रयास हो रहे हैं ?
- प्रदूषण एवं पर्यावरण अवनयन में क्या संबंध है ?

9.3 प्रदूषण की अवधारणा

जैसा कि आप सभी जानते हैं कि प्रदूषण की अवधारणा पर्यावरण अवनयन से उपजी है । मानवीय क्रियाकलापों एवं प्राकृतिक व्यतिक्रमों से जब पर्यावरण के तत्वों की नैसर्गिक गुणवत्ता क्षय होने लगती है तो उसे पर्यावरण अवनयन कहते हैं । अन्य शब्दों में मानव की जिस क्रिया से वायु, जल और मिट्टी तथा वहाँ के संसाधनों के

भौतिक, रासायनिक या जैविक गुणों में कोई ऐसा अवांछनीय परिवर्तन हो, जिससे जैव जगत एवं सम्पूर्ण वातावरण पर हानिप्रद प्रभाव पड़े उसे प्रदूषण कहते हैं । वास्तव में मनुष्य एवं प्रकृति के बीच अटूट सम्बन्ध होता है । उसकी समस्त क्रियायें प्रकृति के सम्पर्क से ही सम्भव होती हैं । मनुष्य प्रकृति के विभिन्न तत्वों को ग्रहण करता है और अपने उपयोग में लाता है । वह अवषिष्ट पदार्थों को वातावरण में भी छोड़ता है । जब तक मनुष्य प्राकृतिक तत्वों का संयमित उपयोग करता है, तब तक अपशिष्टो से वातावरण का प्रदूषण नहीं होता है । लेकिन वर्तमान समय में मनुष्य में संयम का अभाव हो गया है, वह प्रकृति के संवर्धन की उपेक्षा करने लगा है और प्रकृति को मात्र साधन समझने लगा है । परिणामस्वरूप वह प्रकृति का अंधाधुंध विदोहन कर रहा है । इससे पर्यावरण प्रदूषण की समस्या उत्पन्न हो गयी है ।

पर्यावरण प्रदूषण का अर्थ एवं परिभाषा – पर्यावरण प्रदूषण को निम्न रूप में परिभाषित किया जा सकता है –

लार्ड केनेट के अनुसार, ''पर्यावरण में उन तत्वों या ऊर्जा की उपस्थिति को प्रदूषण कहते हैं, जो मनुष्य द्वारा अनचाहे उत्पादित किये गये हों, जिनके उत्पादन का उद्देश्य अब समाप्त हो गया हो, जो अचानक बच निकले हों या जिनका मनुष्य के स्वास्थ्य पर अकथनीय हानिकारक प्रभाव पड़ता हो ।''

सन 1965 ई0 में संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति की विज्ञान सलाहकार समिति ने पर्यावरण प्रदूषण को निम्नलिखित प्रकार से परिभाषित किया है – ''मानवीय क्रियाओं के उप उत्पादों द्वारा ऊर्जा प्रतिरूप विकिरण स्तरों, भौतिक एवं रासायनिक संगठन तथा जीवों की बहुलता में किये गये परिवर्तनों से उत्पन्न प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभावों के कारण आसपास के पर्यावरण में अवांछित एवं प्रतिकूल परिवर्तनों को प्रदूषण कहा जाता है।''

सन् 1976 ई0 में राष्ट्रीय पर्यावरणीय शोध समिति के अनुसार, ''मानव के क्रिया कलापों से उत्पन्न अपशिष्ट उत्पादों के रूप में पदार्थों एवं ऊर्जा के निस्तारण से प्राकृतिक पर्यावरण में होने वाले हानिकारक परिवर्तनों को प्रदूषण कहते हैं।''

सन् 1970 ई0 में अमेरिका के मेसाचुसेट्स इन्स्टीट्यूट ऑफ टैक्नोलॉजी ने प्रदूषण को परिभाषित करते हुए कहा है, ''वस्तुओं के उत्पादन एवं उपभोग के प्रत्येक चरण में अपशिष्ट पदार्थों का जनन होता है। ये अपशिष्ट पदार्थ प्रदूषक या पर्यावरणीय समस्या होते हैं । इनका वायुमण्डलीय, महासागरीय या पार्थिव पर्यावरण पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है ।''

ओडम के अनुसार, ''प्रदूषण वायु, जल एवं मिट्टी के भौतिक, रासायनिक एवं जैवकीय गुणों में एक ऐसा अवांछनीय परिवर्तन है, जिससे कि मानव जीवन, औद्योगिक प्रक्रियायें, जीवन दशायें तथा सांस्कृतिक तत्वों की हानि होती है अथवा हमारे कच्चे माल की गुणवत्ता घटती है ।''

प्रदूषण की परिभाषाओं से स्पष्ट है कि पर्यावरण में प्रदूषण जिन तत्वों की उपस्थिति से उत्पन्न होता है वे मानवीय कार्यों द्वारा ही उत्पन्न होते हैं । जिन तत्वों से प्रदूषण पैदा होता है उन्हें प्रदूषक कहते हैं ।

9.4 प्रदूषण के प्रकार

उपर्युक्त विवरण से आप जान गये होंगे कि पर्यावरण प्रदूषण पारिस्थितिकी तंत्र की असन्तुलित अवस्था है । आज मानव के चतुर्दिक प्रत्येक तत्व कमोबेश रूप में प्रदूषित है । प्रदूषण की व्यापकता को देखते हुए इसको वर्गीकरण करना अत्यन्त कठिन कार्य है । इसके स्वरूप, अवस्थिति, क्षेत्रीय विस्तार, प्रदूषण के स्रोत इत्यादि के आधार पर कई प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है –

(1) स्वरूप के आधार पर वर्गीकरण – स्वरूप के आधार पर प्रदूषण के दो प्रकार बताये जा सकते हैं – भौतिक प्रदूषण तथा समाजिक प्रदूषण ।

भौतिक प्रदूषण – जल, वायु, मृदा आदि पर्यावरणीय तत्वों की गुणवत्ता में अवनयन भौतिक प्रदूषण कहलाता है ।

समाजिक प्रदूषण – जब मानव समाज की गुणवत्ता में कमी आती है तो उसे सामाजिक प्रदूषण कहते हैं । जैसे – राजनैतिक प्रदूषण, जातीय प्रदूषण, नैतिक प्रदूषण इत्यादि ।

(2) अवस्थति के आधार पर प्रदूषण – अवस्थति के आधार पर प्रदूषण दो प्रकार का होता है – बिन्दु प्रदूषण तथा अबिन्दु प्रदूषण ।

बिन्दु प्रदूषण – जब प्रदूषक तत्वों का उत्सर्जन किसी स्थान विशेष से होता है तो उसे बिन्दु प्रदूषण कहते हैं । जैसे – चिमनी से निकला धुँआ, कारखाने से निकलता प्रदूषित अवषिष्ट जल इत्यादि ।

अबिन्दु प्रदूषण – जब प्रदूषक तत्वों का क्षेत्र व्यापक होता है उसे प्रत्यक्ष रूप में देख पाना संभव नहीं होता तो ऐसे प्रदूषण को अबिन्दु प्रदूषण कहते हैं । जैसे – खेतों में डाले गये उर्वरक का वर्षा के जल के साथ बहकर नदियों, तालाबों में पहुँचकर प्रदूषण फैलाना ।

(3) क्षेत्रीय विस्तार के आधार पर वर्गीकरण – क्षेत्रीय विस्तार की दृष्टि से प्रदूषण को तीन वर्गों में रखा जा सकता है ।

1. स्थानीय प्रदूषण – ग्रामीण एवं नगरीय प्रदूषण ।
2. राष्ट्रीय प्रदूषण – नदी, समुद्र तथा वायुमण्डलीय प्रदूषण ।
3. अन्तर्राष्ट्रीय प्रदूषण – ओजोन क्षरण, आण्विक विकिरण इत्यादि।

(4) प्रदूषण तत्वों के स्त्रोत के आधार पर – कृषि प्रदूषण, औद्योगिक प्रदूषण, वाहन प्रदूषण, महानगरीय प्रदूषण, रासायनिक प्रदूषण, जनसंख्या प्रदूषण (निर्धनता बेरोजगारी आदि।)

क्या आप जानते हैं कि औद्योगिक स्त्रोत को प्रदूषकों का घर कहा जाता है । ऐसा इसलिए है क्योंकि कल–कारखानों की चिमनियों से अनेक प्रकार की जहरीली गैसें जैसे – सल्फर डॉई ऑक्साइड, कार्बन मोनो ऑक्साइड, हाइड्रोजन, मिथाइल, आइसो साइनाइट, नाइट्रोजन के ऑक्साईड इत्यादि उत्सर्जित किये जाते हैं । इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार ठोस अपशिष्ट एवं रासायनमिश्रित जल भी ऐसे ही खूले वातावरण में छोड़ दिये जाते हैं ।

अब तक हमने अनेक प्रकार के प्रदूषण की चर्चा की, परन्तु सामान्य रूप में देखा जाये तो प्रदूषण के चार मुख्य प्रकार बताये गये हैं – वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण, मृदा प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण ।

9.4.1 वायु प्रदूषण – वायु पृथ्वी पर जीवन का एक आवश्यक तत्व है, जो वायुमण्डल के रूप में पृथ्वी को आवृत्त किये हुए है । इसी से प्राणियों एवं जीव–जन्तुओं को ऑक्सीजन और वनस्पति को कार्बन–डाई–ऑक्साइड प्राप्त होती है । वायुमण्डल में विद्यमान गैसें एक निश्चित मात्रा और अनुपात में होती हैं । पर यह संतुलन उस समय गड़बड़ा जाता है जब उद्योगों वाहनों या अन्य घरेलु उपयोगों से निकलता धुआँ, धूल के कण वायु में प्रवेश कर जाते हैं । यही वायु प्रदूषण कहलाता है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अनुसार, ''वायु प्रदूषण एक ऐसी स्थिति है, जिसमें बाह्य वातावरण में मनुष्य और उसके पर्यावरण को हानि पहुँचाने वाले तत्व सघन रूप से एकत्रित हो जाते हैं ।''

वायु प्रदूषण के कारण – वायु प्रदूषण विभिन्न कारकों से होता है । ये कारक मानवीय व प्राकृतिक दोनों प्रकार के हो सकते हैं –

प्राकृतिक कारण – कुछ निम्न प्राकृतिक क्रियायें भी वायु मण्डल के लिए जिम्मेदार होती हैं –

ज्वालामुखी का फटना – ज्वालामुखी के फटते समय विशाल मात्रा में धुआँ, राख, चट्टानों के टुकड़े तथा विभिन्न प्रकार की गैंसे वायुमण्डल में मिलकर वायु प्रदूषण को बढ़ाती हैं ।

दलदली प्रदेशों में पदार्थों के सड़ने से – इससे मिथेन गैस बनती है जो पर्यावरण को प्रदूषित करती है ।

पौधों के प्रभाव – कुछ पौधों से उत्पन्न परागकण भी प्रदूषण का कारण बनते हैं । परन्तु प्राकृतिक स्त्रोतों से होने वाला प्रदूषण सीमित व कम हानिकारक होते हैं ।

वायु प्रदूषण के मानवजनित कारण – (1) घरेलु ईंधन के दहन से निकला धुआँ ।

(2) उद्योगों द्वारा छोड़ा गया धुआँ एवं अनेक पदार्थों के सूक्ष्म कण ।

(3) वाहनों से निकला धुआँ, गैस व धातु कण ।

(4) कीटनाशकों का छिड़काव ।

(5) ताप विद्युत घरों के संयंत्रों से निकलने वाली सल्फर–डॉई–आक्साइड ।

(6) आणविक तथा रासायनिक प्रयोगों के अपशिष्ट ।

मुख्य वायु–प्रदूषक – उद्योगों को ''बृहत वायु प्रदूषक'' कहा जाता है क्योंकि सबसे अधिक वायु प्रदूषण औद्योगिक कारणों से ही होता है । वर्तमान समय में महानगरों में वाहनों को भी प्रदूषण का प्रमुख स्त्रोत माना जाता है । वायु प्रदूषक मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं – (1) वायु प्रदूषक गैसें (2) सूक्ष्म कण ।

प्रमुख वायु प्रदूषकों का विवरण इस प्रकार है –

(1) कार्बन–मोनो–ऑक्साइड – इसे सबसे बड़ा वायु प्रदूषक माना जाता है । यह रंगहीन, गंधहीन तथा स्वादहीन गैस है । इसका मुख्य स्त्रोत वाहन और उद्योगों में अधजले हाइड्रोकार्बन्स तथा ईंधन दहन है । इससे रक्त में आक्सीजन की कमी, सरदर्द, दृष्टि दोष और स्नायु सम्बन्धी रोग हो सकते हैं ।

(2) कार्बन–डॉई–आक्साइड – यह सामान्यतः प्रदूषक नहीं हैं लेकिन इसकी अधिक मात्रा, प्रदूषक का कार्य करती हैं । पृथ्वी के ताप को नियन्त्रित करने में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है । वायुमण्डल में कार्बन–डाई–ऑक्साइड की मात्रा 0.03 प्रतिशत है । जो निरन्तर बढ़ती जा रही है । एक अनुमान के अनुसार पिछले 100 वर्षों में इसकी मात्रा में 17 प्रतिशत का इजाफा हुआ है । सन् 1980 में इसका स्तर 280–290 भाग प्रति 10 लाख (PPM – Parts Per Million) था जो बढ़कर 1988 में 350 भाग प्रति 10 लाख तक पहुँचा तथा अनुमान है कि 2050 तक इसकी मात्रा 500 भाग प्रति 10 लाख तक पहुँच सकती है । जिससे पृथ्वी का तापमान 5°C तक बढ़ सकता है । पृथ्वी के तापमान में वृद्धि से मौसम चक्र बदल जायेगा, शीतोषण क्षेत्र मरूस्थल में परिवर्तित हो जायेगें, ध्रुवों की बर्फ पिघलने से समुद्र के जलस्तर में वृद्धि हो जायेगी । जिसका प्रभाव तटीय एवं द्विपीय देशों पर सबसे अधिक पड़ेगा ।

(3) सल्फर–डॉई–ऑक्साइड – कार्बन डॉई ऑक्साइड के बाद वायु का दूसरा सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रदूषक सल्फर–डाई–ऑक्साइड है । वायुमण्डल में यह तापशक्ति गृहों, तेलशोधनशालाओं, कागज व लुगदी उद्योग, सल्फ्यूरिक अम्ल बनाने के संयंत्र तथा स्वचालित वाहनों से विसर्जित की जाती है । रासायनिक अभिक्रियाओं द्वारा इससे सल्फ्यूरिक अम्ल का निर्माण होता है । जो अत्यधिक संक्षारक तथा मानव स्वास्थ्य के

लिए हानिकारक होता है । अम्लीय वर्षा में सल्फ्यूरिक एसिड का विशेष योगदान होता है । इससे कृषि फसलों, जलीय जीवों तथा मानव–समुदाय को बहुत अधिक क्षति होती है । अम्लीय वर्षा से मनुष्य में फैंफड़े तथा नेत्र सम्बन्धी विकार पैदा हो जाते हैं ।

(4) नाइट्रोजन ऑक्साइड – इसके प्रमुख स्त्रोत ताप विद्युत गृह, कारखाने, वन दहन, वायुयान तथा स्वचालित वाहन हैं । इसकी उपस्थिति से मसूड़ों में सूजन, रक्तस्त्राव, निमोनिया एवं अन्य फेफड़े से सम्बन्धित रोग उत्पन्न हो जाते हैं ।

(5) अमोनिया – यह घुलनशील तथा तीखी गंध वाली गैस है । वायु में इसकी मात्रा 53 भाग प्रति 10 लाख से अधिक हो जाने पर यह घातक हो जाती है । विस्फोटक पदार्थ, रोगन, उर्वरक तथा विभिन्न रसायन निर्माण के संयंत्रों से यह निकलती है । अमोनिया से स्वास नली को हानि पहुँच सकती है और दम घुटने लगता है।

(6) क्लोरीन – यह ब्लीचिंग पाउडर, रबर, प्लास्टिक, कीटनाषक आदि के निर्माण तथा धात्विक क्लोराइडों के विद्युत अपघटन से निकलती है। यह श्वसन तंत्र को प्रभावित करती है । आँखों में जलन, नाक में तकलीफ के कारण सांस लेने में कठिनाई आदि हो सकती है ।

(7) हाइड्रोजन सल्फाइड – तेल शोधनशालाओं तथा रासायनिक कारखानों से, पेपर मिल्स तथा दूषित पानी के शुद्धीकरण संयंत्र से यह उत्पन्न होती है । इसकी सूक्ष्म मात्रा भी हानिकारक हो सकती है । इससे आँख, किडनी की बीमारी, मितली आग आदि रोग होते हैं ।

(8) हाइड्रोजन क्लोराइड – पेट्रोलियम शुद्धीकरण, एल्युमिनियम और उर्वरक के उत्पाद आदि इसके मुख्य स्त्रोत हैं । यह सांस के साथ शरीर में प्रवेष कर जाती है और गम्भीर रूप से आंतरिक भागों को प्रभावित करती है ।

(9) फास्जीन – यह अत्यन्त जहरीली गैस है । हवा में इसकी मात्रा बढ़ जाने पर आँखों में जलन होने लगती है और पानी बहने लगता है, सांस लेने में तकलीफ होने लगती है और फेफड़ों में पानी जमा होने लगता है । भोपाल गैस त्रासदी में मिथाइल आइसोसाइनाइट गैस के साथ–साथ फास्जीन गैस भी रिसी थी ।

(10) मिथाइल आइसोसाइनेट (मिक) – यह अत्यन्त जहरीली तथा प्राणघातक गैस है । वायु में इसकी उपस्थिति से फेफड़ों में पानी भर जाता है और मस्तिष्क तक रक्त (ऑक्सीजन) नहीं पहुँच पाती । 3 दिसम्बर, 1984 को भोपाल के यूनियन कार्बाइड कारखाने में इसी गैस के रिसाव से 10,000 से भी अधिक व्यक्ति काल कवलित हुए थे ।

अन्य वायु प्रदूषक – उपरोक्त गैसों के अतिरिक्त निम्नलिखित पदार्थ भी वायु में मिलकर प्रदूषण फैलाते हैं –

(1) धुआँ – कार्बन युक्त पदार्थों के अपूर्ण दहन से धुंए की उत्पत्ति होती है । इसके मुख्य स्रोत कल कारखाने, सिगरेट, घरेलु ईंधन, वाहन आदि हैं । धातु शोधन तथा विनिर्माण कार्यों से भी वायु में कणकीय पदार्थ उत्सर्जित होते हैं । इनका भूतल पर अवपात होने पर मानव के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है । विकासशील देशों में अधिकतर घरों का चूल्हा लकड़ी, उपले या इसी प्रकार के जैविक ईंधन पर निर्भर करता है । इससे इन देशों की महिलायें इसकी चपेट में हैं । नवजात शिशु भी रसोई में ईंधन के जलने के कारण प्रदूषण का शिकार बनते हैं । प्रदूषण और कुपोषण से बच्चों की बुद्धि सामान्य नहीं रहती । धुयें के दुष्प्रभाव से सिरदर्द, दम घुटना, आलस्य एवं गला सूख जाता है ।

(2) कणिकीय प्रदूषक – विभिन्न उद्योगों में ऊर्जा के साथ–साथ कुछ सूक्ष्म कण (एयरोसोल, धूल आदि) भी उत्पन्न होते हैं । इनमें एल्यूमिनियम, सोडियम, आयरन, कैल्शियम, सिलिकान, जिंक, लैड, कॉपर आदि धात्विक तत्व होते हैं । ये कण श्वसन क्रिया में बाधा डालते हैं और अस्थमा व फेफड़े सम्बन्धी अन्य रोगों को जन्म देते हैं । ऐस्बेस्टास से कैंसर तथा जस्ते, निकल, क्रोनियम, आर्सेनिक जैसी भारी धातुओं से हृदय व मस्तिष्क के रोग होते हैं । सीसा (लैड) से विभिन्न स्नायु रोग तथा महिलाओं में गर्भपात तक हो जाता है ।

(3) स्मॉग – स्मॉग दो शब्दों से मिलकर बना है स्मोक तथा फॉग (Smoke + Fog = Smoge) । स्मॉग पानी की वाष्प के संघनन से बनता है । इसमें धुयें एवं धूल के कण संघनन में सहायता करते हैं । मनुष्यों में इनके दुष्प्रभाव से श्वसन तंत्र एवं आँखें प्रभावित होती हैं ।

वायु प्रदूषण के दुष्प्रभाव – अब तक आप जान गये होंगे कि वायु प्रदूषण क्या होता है और कौन–कौन से प्रदूषक तत्व वायु प्रदूषण फैलाते हैं । अब हम वायु प्रदूषण के दुष्प्रभावों पर चर्चा करेंगे । वायु प्रदूषण का दुष्प्रभाव, मानव स्वास्थ्य, पेड़–पौधों, जीव–जन्तुओं, जलवायु और यहाँ तक कि इमारतों एवं भवनों पर भी पड़ता है । इसके प्रमुख प्रभाव इस प्रकार हैं –

(1) मानव स्वास्थ्य पर प्रभाव – मानव अपने जीवन को बनाये रखने के लिए श्वसन प्रक्रिया के दौरान वायु ग्रहण करता है और छोड़ता है । वायु में प्रदूषकों की उपस्थिति अनेक भयंकर रोगों का कारण बन जाती है । वायु प्रदूषण का सर्वाधिक प्रभाव मनुष्य के श्वसन तन्त्र पर पड़ता है जिससे विभिन्न रोग जैसे – ब्रोंकाइटिस, दमा, निमोनिया, गले का दर्द, फेफड़े का कैंसर आदि हो जाते हैं । श्वास रोगों के अतिरिक्त वायु में सल्फर–डाई–आक्साइड और नाइट्रोजन–डाई–ऑक्साइड से एम्फायसीमा नामक रोग होता है । यह एक जानलेवा बीमारी है । वाहनों के धुयें में उपस्थिति सीसा कण शरीर में पहुँच कर यकृत, आहार नली, बच्चों के मस्तिष्क विकार, हड्डियों का गलना जैसे रोग का कारण बनते हैं । विभिन्न सर्वेक्षणों से यह प्रमाणित होता जा रहा है कि वायु प्रदुषण में वृद्धि के साथ उससे फैलने वाली बीमारियों व मृत्यु–संख्या में भी वृद्धि होती जा रही है ।

(2) जीवों पर प्रभाव – मधुमक्खी, शलभ जैसे कीट, औद्योगिक वायु प्रदूषण के कारण बड़ी संख्या में मरते देखे जा सकते हैं । मनुश्य के समान ही अन्य जीवों का श्वसन तंत्र तथा केन्द्रिय तंत्रिका तंत्र भी वायु प्रदूषण से प्रभावित होते हैं ।

(3) वनस्पति पर प्रभाव – पेड़–पौधे भी वायु प्रदूषण से प्रभावित होते हैं । वायु प्रदूषण के कारण पौधों को सूर्य प्रकाश पूरी तरह से नहीं मिल पाता जिससे प्रकाश संष्लेषण की प्रक्रिया पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है । प्रदूषक पदार्थ, पत्तियों की सतह पर एकत्रित होकर पर्ण रन्ध्रों को अवरुद्ध कर देते हैं । फलस्वरूप वाष्पोत्सर्जन की क्रिया मंद पड़ जाती है । स्मॉग के कारण ओजोन, नाइट्रस आक्साइड उत्पन्न होते हैं जिससे पत्तियाँ विकृत व सफेद होकर गिरने लगती हैं । सल्फर–डाई–आक्साइड से पत्तियाँ रंगहीन हो जाती हैं तथा काली पड़कर नष्ट हो जाती हैं । अधिक वायु प्रदूषण में पौधे मुरझाकर नष्ट हो जाते हैं । सल्फर–डाई–आक्साइड युक्त ओस तथा कोहरे से सदाबहार पौधों को सर्वाधिक नुकसान पहुँचता है ।

कुछ पौधे जैसे सालविया, दहलिया, चीड़, बरगद, जीनिया, ग्लेडयूलस आदि तो वायु प्रदूषण के प्रति इतने अधिक संवेदनषील होते हैं कि उनमें होने वाले परिवर्तन, प्रदूषण सूचक का कार्य करते हैं । इन्हें प्रदूषण सूचक पौधे कहा जाता है । इन सूचक पौधों में प्रदूषक पदार्थों की निश्चित स्तर से अधिक मात्रा होने पर विशेष चिन्ह पैदा हो जाते हैं जिन्हें देखकर आसानी से बताया जा सकता है कि किसी स्थान विशेष पर किस कारण से प्रदूषण हैं ।

(4) वायुमण्डल पर प्रभाव – वायु प्रदूषण का वायुमण्डल पर निम्नलिखित प्रभाव पड़ता है –

(1) वायुमण्डल में स्थित ओजोन परत का कवच मानव जीवन के लिए महत्वपूर्ण है, क्योंकि वह सूर्य से आने वाली पराबैंगनी किरणों को रोककर जीवन की रक्षा करती है । परन्तु प्रदूषक तत्व जैसे क्लोरो फ्लोरो कार्बन जिनका प्रयोग फ्रिज एयर–कंडीशनर आदि में किया जाता है, ओजोन परत को हानि पहुँचाते हैं । 1983 में वैज्ञानिकों ने प्रथम बार अंटार्कटिक महाद्वीप के ऊपर ओजोन छिद्र होने के संकेत दिये थे । यह पर्यावरण प्रदूषण के कारण ही है ।

(2) वायुमण्डल में कार्बन–डाई–ऑक्साइड की मात्रा में निरन्तर वृद्धि होने से यह सूर्य की किरणों को अवशोषित करती है, इससे वायुमण्डल गर्म हो जाता है । इसे ही हरित गृह प्रभाव अथवा ग्रीन हाउस इफेक्ट कहते हैं । जून, 1988 में टोरन्टों में हुए सम्मेलन में हरित गृह प्रभाव तथा उससे सम्बन्धित खतरों के बारे में वैज्ञानिकों ने चिन्ता व्यक्त की । हरित गृह प्रभाव उत्पन्न करने वाली गैसें कार्बन–डाई–आक्साइड, मिथेन, क्लोरो, फ्लोरो, कार्बन, नाइट्रम आक्साइड इत्यादि हैं ।

(3) वायु प्रदूषण का स्थानीय मौसम पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है । इनसे बादलों, तापमान व वर्षा पर भी प्रभाव पड़ता है । औद्योगिक नगरों पर छाने वाला कोहरा वायु प्रदूषण के कारण होता है । नगरों में तो कोहरे का गुम्बद बन जाता है ।

हाल के वर्षों में दिल्ली तथा अन्य महानगरों में वायु प्रदूषण के कारण भीषण गर्मी, घना कोहरा तथा कम वर्षा देखने को मिली है ।

(5) भवनों पर प्रभाव – वायु प्रदूषण से भवनों धातु निर्मित संरचनाओं पर हानिकारक प्रभाव पड़ता है । गंधक तथा उसके यौगिकों से युक्त वायु, भवनों में लगे पत्थर, इस्पात और जस्ते पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं । विश्व प्रसिद्ध ताजमहल का रंग, वायु प्रदूषण के कारण ही पीला पड़ने लगा है ।

(6) अन्य प्रभाव – वायु प्रदूषण कई अन्य वस्तुओं को भी प्रभावित करता है । धातुओं में जंग लगने तथा कागज, कपड़ा, पत्थर, आदि के क्षरण के लिए अम्लीय वायु प्रदूषण उत्तरदायी है । हाइड्रोजन सल्फाइड, चाँदी की चमक घटाता है और सीसे की बनी वस्तुओं को काला बना देता है । ओजोन से रबर की बनी वस्तुयें चटक जाती हैं जबकि सल्फर–डाई–ऑक्साइड से इस्पात के क्षरण की प्रक्रिया तेज हो जाती है । वायु प्रदूषित नगरों में रेल की पटरियाँ अपेक्षाकृत चार गूना अधिक तेजी से घिसती हैं।

अब तक के विवरण से स्पष्ट है कि वायु प्रदूषण एक ऐसा जहर है जो न केवल मनुष्य बल्कि समस्त जीव जगत को प्रभावित कर रहा है । यदि इस दिशा में शीघ्र प्रयत्न नहीं किये गये तो यह ऐसी स्थिति में पहुँच जायेगा जहाँ विनाश ही विनाश होगा और हम मूकदर्शक बने रहेंगे । अतः वायु प्रदूषण की समस्या के निराकरण एवं नियन्त्रण हेतु समुचित उपाय करना आवश्यक है –

वायु प्रदूषण के नियन्त्रण के उपाय – वायु प्रदूषण को नियन्त्रित करने के लिए निम्नलिखित उपायों पर शीघ्रातिशीघ्र अमल किया जाना चाहिए ।

(1) जीवाश्म ईंधन जैसे कोयला, पेट्रोल, डीजल आदि का उपयोग कम किया जाना चाहिए और इनके स्थान पर ऊर्जा के गैर पारम्परिक स्त्रोतों जैसे – सौर ऊर्जा, पवन चक्की, गोबर गैस, बायो गैस इत्यादि के प्रयोग को बढ़ावा दिया जाना चाहिए । घरों में खाना बनाने के लिए एल0पी0जी0 का इस्तेमाल किया जाना चाहिए ।

(2) उद्योगों की चिमनियों से निकलने वाले धुयें को उपचारित करके ही वायुमण्डल में छोड़ा जाना चाहिए एवं चिमनियों की ऊँचाई निर्धारित मानदण्ड के अनुसार होनी चाहिए ।

(3) वायु प्रदूषण रोकने के लिए वनों का काटना रोकना चाहिए तथा वृक्षारोपण किया जाना चाहिए । नगर एवं औद्योगिक क्षेत्रों के चारों ओर हरित पेटी का विकास किया जाना चाहिए ।

(4) वाहनों के सम्बन्ध में निम्न बातों पर ध्यान रखना जरुरी है ।

1. वाहनों का इंजन पूराना न हो व भली–भाँति ट्यून हो ।
2. स्वचालित वाहनों में कैटेलिटिक कनवर्टर का प्रयोग किया जाना चाहिए ।

3. डीजल में संयोगी पदार्थ मिलाकर तथा पैट्रोल से लेड और सल्फर को निकालकर प्रदूषण कम किया जा सकता है ।

(5) ओजोन क्षय करने वाले क्लोरो–फ्लोरो–कार्बन, फ्रेऑन 11 तथा फ्रेऑन 12 के उत्पादन में कटौती या रोक लगनी चाहिए ।

(6) कणिकीय वायु प्रदूषकों से बचने के लिए फैब्रिक फिल्टर या हाई एनर्जी स्क्रबर उपकरणों की सहायता से धूयें में होने वाली हानि से बचा जा सकता है ।

(7) विद्युत शवदाह गृहों का उपयोग किया जाना चाहिए ।

(8) उद्योगों को नगरों तथा आवासीय क्षेत्रों से दूर विस्थापित किया जाना चाहिए।

(9) वायु प्रदूषण से उत्पन्न होने वाले घातक परिणामों के प्रति लोगों को जागरुक किया जाना चाहिए । जिससे लोग वायु को प्रदूषित करने वाले स्त्रोतों पर अंकुश लगाने के लिए उत्प्रेरित हो सके ।

9.4.2 जल प्रदूषण – अब तक हमने वायु प्रदूषण के विभिन्न आयामों पर चर्चा की । जल प्रदूषण भी वायु प्रदूषण की भाँति एक भयावह समस्या है । अनुमान है कि विश्व के लगभग 25,000 व्यक्ति प्रतिदिन प्रदूषित जल का सेवन करने से मर जाते हैं ।

जल प्रदूषण से अभिप्राय है जल के भौतिक रासायनिक अथवा जैविक गुणों में परिवर्तन जिसके कारण प्राकृतिक अवस्था में यह उपयोग अथवा प्रयोग करने योग्य न रह पाये । वर्तमान समय में मानव जनित कारणों के परिणाम स्वरूप पृथ्वी पर मौजूद जल चाहे वह समुद्र का जल हो, नदी अथवा झील का जल हो या भूमिगत जल हो सभी प्रदूषित होते जा रहे हैं । आज जन को पीने एवं अन्य नित्य कार्यों हेतु स्वच्छ जल प्राप्त नहीं हो पा रहा । गंगा नदी जो कि धार्मिक मान्यताओं के अनुसार अत्यन्त पवित्र नदी थी और मान्यता यह भी थी कि इसमें स्नान मात्र से मनुष्य कई दोषों से मुक्त हो जाता है परन्तु आज स्थिति यह है कि इसका जल अत्यन्त प्रदूषित हो चुका है ।

जल वैसे तो रंगहीन, गंधहीन एवं पारदर्शक होता है और जब जल की इन भौतिक विशेषताओं में परिवर्तन आ जाता है तो वह प्रदूषित जल माना जाता है । इसके अतिरिक्त जल प्रदूषण के अन्य मापक उसका तापमान, संचालकता, घनत्व, घुले रसायन तथा ठोस पदार्थों की मात्रा है । जल में घूले नमक की मात्रा जल की कठोरता, अम्लता, घूली ऑक्सीजन, जैव ऑक्सीजन माँग, पी0एच0 मान, भारी धात्विक पदार्थों की मात्रा, क्लोराइडस, कीटनाशक, रोगनाशक रसायनों की मात्रा, अपमार्जकों की मात्रा आदि की उपस्थिति जल को प्रदूषित बनाती हैं ।

9.5 प्रदूषण के स्त्रोत

– जल जीवन का आधार है । हमें पीने से लेकर, नहाने, कपड़े धोने एवं अन्य दैनिक कार्यों हेतु जल की आवश्यकता होती है । इन क्रियाओं के लिए अधिकतर जल नदियों तथा भूमिगत स्त्रोतों से प्राप्त किया जाता है । अधिकतर पदार्थ जल में घुलनशील होते हैं । इसलिए जल आसानी से प्रदूषित हो जाता है । जल प्रदूषण के बिन्दु स्त्रोत में कारखाने, ताप बिजली घर, तेल के कुयें इत्यादि तथा अबिन्दु स्त्रोत में खेतों से जल प्रवाह, नालों एवं नदियों का प्रदूषित जल व वायुमण्डल से धूल का जमाव इत्यादि है । जल प्रदूषण के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं –

9.5.1 जल प्रदूषण के स्त्रोत – जल प्रदूषण अनेक स्त्रोतों के माध्यम से होता है एवं यह स्त्रोत परस्पर आपस में अर्न्तक्रिया कर जल प्रदूषण प्राकृतिक एवं मानव जनित स्त्रोतों के कारण से होता है, जिनका विश्लेषण निम्नवत् है –

प्राकृतिक स्त्रोत – प्राकृतिक कारकों जैसे ज्वालामुखी उद्गार, मृदा अपरदन, भूमिस्खलन, दावानल, बाढ़, भूधसाँव, पौधों तथा जन्तुओं के विघटन एवं वियोजन से जल की गुणवत्ता पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है तथा प्रदूषण में वृद्धि होती है । उदाहरण के तौर पर ज्वालामुखी उद्गार के फलस्वरूप धुँआ, राख, लावा, गैसों तथा अन्य अशुद्धियों के निःसृत होकर जल में मिलने से जल प्रदूषण की मात्रा में वृद्धि करती है । इसी प्रकार मृदा अपरदन, भूमिस्खलन आदि के कारण से नदियों एवं झीलों में अवसाद की मात्रा बढ़ने से जल प्रदूषण की समस्या पैदा होती है ।

मानवीय स्त्रोत – आधुनिक समय में मानव जनित जनित स्त्रोतों के कारण से जल प्रदूषण की समस्या गंभीर हो गयी है । जनसंख्या प्रस्फोट, नगरीयकरण, औद्योगीकरण, कृषिकार्यों में अत्यधिक रसायनों के प्रयोग, सांस्कृतिक एवं धार्मिक क्रियाकलापों से जल की मात्रा तथा गुणवत्ता दोनों पर दबाव बढ़ रहा है तथा जल प्रदूषण का संकट गहरा रहा है । मानवीय स्त्रोतों का विष्लेषण निम्नवत् किया जा सकता है –

घरेलु अपषिष्ट एवं मलजल (सीवेज) – घरेलु तथा नगरीय स्त्रोत से भारी मात्रा में कूड़ा–कचरा, साबुन, डिटरजेंट, सीवेज, आदि के निरन्तर नदियों एवं झीलों में समाहित होने से जल प्रदूषण होता है ।

औद्योगिक अपषिष्ट – औद्योगिक इकाईयाँ तथा कल कारखानों से निःसृत अशुद्ध, रसायन युक्त विशैले जल के शुद्ध जल में मिलने से जल प्रदूषण होता है, जल प्रदूषण फैलाने वाले प्रमुख उद्योगों में चमड़ा, रबड़, रसायन, लौह, काँच, तेल शोधक, चीनी, वनस्पति घी, सीमेंट, भारी उद्योग, ताप विद्युत, कागज उद्योग प्रमुख हैं ।

कृषि अपषिष्ट – कृषि कार्यों में प्रयुक्त होने वाले रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशी, रोगनाशी, शाकनाषी तथा पेड़ पौधों के अवषिष्ट भागों के सतही जल में

घुलकर नदियों तथा झीलों में मिल जाते हैं एवं जल प्रदूषण की समस्या गहरा जाती है।

नाभिकीय अपषिष्ट – नाभिकीय तत्वों के प्रयोग जैसे नाभिकीय ऊर्जा तथा नाभिकीय हथियारों के प्रयोगों के दौरान नाभिकीय अपषिष्टों के भूमि तथा नदियों के जल में मिल जाने से जल में नाभिकीय प्रदूषण की समस्या उत्पन्न हो जाती है । इस नाभिकीय तत्वों के अन्तर्गत यूरेनियम, थोरियम, रेडियम आदि का प्रयोग सामान्यतया किया जाता है ।

विनाशक हथियारों के प्रयोग – विनाशक हथियारों जैसे नाभिकीय बमों, मिसाईलों, रासायनिक हथियारों आदि के परीक्षण अकसर समुद्र में किये जाते रहे हैं जिनसे भारी मात्रा में सामुद्रिक पारिस्थितिकीय तंत्र प्रभावित होता है तथा जल प्रदूषण की समस्या पैदा होती है ।

तेल का बिखराव – कच्चे तेल के उत्पादन एवं परिवहन के दौरान अक्सर तेल के रिसाव एवं बिखराव से समुद्र में भारी जल प्रदूषण का संकट पैदा हो जाता है अक्सर तेल टैंकरों तथा पाईप लाइनों में होने वाली दुर्घटनाओं से तेल बिखराव की समस्या पैदा हो जाती है । 1991 के खाड़ी युद्ध के दौरान अमेरिकी बम वर्षक विमानों ने ईराकी तेल पोतों पर भारी बम वर्षा की जिनसे समुद्र में व्यापक तेल जनित प्रदूषण फैल गया।

धार्मिक अनुष्ठान – धार्मिक अनुष्ठान तथा क्रिया कलापो से भी जल प्रदूषण का स्त्रोत है, धार्मिक आयोजन जैसे कुंभ मेला, मूर्ति विसर्जन समेत अनेक आयोजनों में नदियों झीलों में फल–फूल, दीपक आदि को प्रवाहित किया जाता है । अंतिम संस्कार की प्रक्रिया में अस्थियों का विसर्जन एवं मृत मनुष्यों, जानवरों के शरीरों को नदियों में प्रवाहित करना जल प्रदूषण का स्त्रोत है ।

9.5.2 जल प्रदूषकों के प्रकार – जल प्रदूषकों के स्त्रोत, गुण तथा प्रकृति के आधार पर उनका वर्गीकरण निम्नवत् किया जा सकता है –

- प्रदूषकों के स्त्रोतों के आधार पर, जल प्रदूषकों को उनकी उत्पत्ति के स्त्रोतों के आधार पर निम्नतया विभाजित किया जा सकता है –
    - **औद्योगिक प्रदूषक** – उसके अन्तर्गत अपषिष्ट जल, गर्म जल, रसायन जैसे अमोनिया, कार्बोनेट, क्लोराइड, फ्लोराईड, नाइट्रेट्स, आदि, भारी धातुओं जैसे सीसा, पारा, जस्ता आदि आते हैं ।
    - **घरेलु तथा नगरीय प्रदूषक** – इसके अन्तर्गत सीवैज, डिटरजेन्ट, सल्फेट आयन, नाइट्रेट आयन, पौटेषियम आयन, सोडियम आयन आदि आते हैं ।
    - **कृषि जन्य प्रदूषक** – इसके अन्तर्गत, शाकाहारी, कीटनाषी, रसायनिक उर्वरक, रोगनाषी आदि से जनित रसायन आते हैं ।

- **प्राकृतिक प्रदूषक** – इसमें ज्वालामुखी राख, धुआँ, धूल तथा अपरदन एवं स्खलन के फलस्वरुप जन्य अवसाद, मलवा एवं विघटित जैविक पदार्थ आते हैं ।

- **भौतिक गुणों के आधार पर** – जल प्रदूषकों को उनके भौतिक गुणों के आधर पर जैसे – रूप–रंग, गंध तथा आकार–प्रकार के अनुसार विभाजित किया जा सकता है । अतः प्रदूषकों को धूल, राख, तेल, निलम्बित ठोस पदार्थ, सकल ठोस पदार्थ, गैस आदि रूपों में विश्लेषित किया जा सकता है ।
- **रसायनिक गुणों के आधार पर** – प्रदूषकों को उनके रसायनिक गुण धर्म के आधार पर भी विभाजित किया जा सकता है इनमें क्लोराईड, सल्फाइड, कार्बोनेट, अमोनिया, नाइट्रोजन, नाइट्राइट्स, नाइट्रेटस आते हैं।
- **विगलनता के आधार पर** – प्रदूषकों को उनकी विगलित होने की क्षमता के आधार पर भी वर्गीकृत किया जा सकता है । सूक्ष्मजीवों या जैविक कारकों के कारण विघटित या वियोजित होने वाले प्रदूषकों को जैविक प्रदूषक कहते हैं क्योंकि इसका विगलन हो जाता है, इसके अन्तर्गत जीव एवं वनस्पतियाँ, सीवेज, कचरा, मल–मूत्र आदि आते हैं ।

जिन प्रदूषकों का वियोजन या विगलन नहीं हो पाता है उन्हें अजैविक प्रदूषक कहते हैं इसमें प्लास्टिक, पॉलीथीन आदि आते हैं ।

9.5.3 जल प्रदूषण के परिणाम – जल प्रदूषण की अत्यधिक मात्रा के कारण सतही तथा भूमिगत जल की मात्रा तथा गुणवत्ता अत्याधिक कुप्रभावित हो गयी है । इसके परिणाम स्वरूप जलीय पारिस्थितिकी तंत्र न सिर्फ छिन्न–भिन्न हो गया है अपितु गंगा जैसी सदानीरा नदियों के अस्तित्व पर संकट गहरा गया है । जल प्रदूषण के कारण दिल्ली में यमुना नदी तो एक गन्दे नाले में बदल चुकी है । जल प्रदूषण के दुष्परिणाम् आज व्यापक रूप से परिलक्षित् हो रहे हैं । तथा जिनका विष्लेषण निम्न प्रकार से किया जा सकता है –

मानव स्वास्थय पर प्रभाव – जल प्रदूषण जैसे सीवेज, रसायनों, तथा अन्य अशुद्धियों के कारण हुये दूषित जल के सेवन से पीलिया, हैजा, अतिसार, मियादी बुखार, पोलियों, गुर्दे की क्षति, आदि बीमारियाँ फैल जाती है । भारी धातुओं तथा विषैले रसायन युक्त जल के सेवन से कैंसर, त्वचा सम्बन्धी रोग, फ्लोरिसिस जैसे रोगों के साथ–साथ बच्चों के मानसिक तथा शारिरिक विकास पर दुष्प्रभाव पड़ता है ।

जल प्रदूषण से जलीय वनस्पति पर प्रभाव – जल प्रदूषण से जीव जन्तुओं तथा जलीय पारिस्थितिकी तंत्र पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है । प्रदूषण से जल में ऑक्सीजन की मात्रा कम हो जाती है जिससे जलीय जीव जन्तुओं तथा वनस्पतियों का नाश हो जाता है । इससे समस्त जलीय खाद्य श्रृंखला अंसतुलित हो जाती है एवं बड़ी

मछलियों, घड़ियालों डालफिन, आदि के अस्तित्व पर संकट उत्पन्न हो जाता है । डिर्टेरजेन्ट युक्त जल के जल में मिलने से शैवालों की वृद्धि सुपोषण की प्रक्रिया से तीव्र हो जाती है एवं जलीय जीवन पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है । इसी प्रकार जल में औद्योगिक अपषिष्ट, ताप विद्युत ग्रह द्वारा निस्सृत गर्म जल तथा खनिज तेल के विखराव का परिणाम् समस्त जल पारिस्थितिकी तंत्र पर पड़ता है ।

भूमि उत्पादकता पर प्रभाव – प्रदूषित जल से सिंचाई करने से न केवल भूमि की गुणवत्ता तथा उर्वरा क्षमता प्रभावित होती है अपितु फसलों को भी नुकसान होता है जिससे कृषि की उत्पादकता प्रभावित होती है ।

रोजगार तथा आजीविका पर प्रभाव – प्रदूषण के कारण नदियों, झीलों तथा समुद्र की खाद्य श्रृंखला पर नकारात्मक प्रभाव पड़ने से उनकी उत्पादकता पर संकट गहरा रहा है अतः जिससे मत्स्य उद्योग तथा इस पर निर्भर लोगों को रोजगार तथा आजीविका के संकट का सामना करना पड़ रहा है ।

जल संकट – बढ़ते जल प्रदूषण के कारण भूमिगत तथा सतही जल संसाधनों की मात्रा तथा गुणवत्ता में निरन्तर क्षरण हो रहा है तथा जनसंख्या वृद्धि एवं आर्थिक विकास की आवश्यकताओं को देखते हुए समस्त् सृष्टि के सम्मुख जल संकट की समस्या गहरा रही है । सदानीरा नदियाँ जैसे गंगा, यमुना आदि निरन्तर प्रदूषित होकर धीरे–धीरे नालों का रूप लेती जा रही है । जिससे न सिर्फ जल संकट गहरा रहा है अपितु समस्त मानव सभ्यता के अस्तित्व के समक्ष एक प्रश्न खड़ा हो गया है । जल हमेशा से ही सभ्यताओं एवं संस्कृतियों के विकास का आधार रहा है । सिन्धु घाटी सभ्यता से लेकर वर्तमान समय तक मानव सभ्यतायें नदी मैदानों में फलती फूलती आयी हैं ।

9.5.4 जल प्रदूषण निवारण के उपाय – जल प्रदूषण के नियन्त्रण एवं निवारण हेतु अनेक स्तरों पर प्रभावी उपाय करना अपरिहार्य हो गया है इसके अन्तर्गत घरेलु, सामुदायिक, सामाजिक, आर्थिक, वैधानिक, तकनीकी, सरकारी, गैर सरकारी, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास करने की आवश्यकता है ।

- घरेलू तथा नगरीय अपषिष्ट तथा सीवैज के शोधन द्वारा उपचार के पश्चात् ही जल में प्रवाहित किये जाने चाहिये इसके लिए नगरपालिकाओं द्वारा समुचित सीवर शोधन संयंत्रों की व्यवस्था करनी चाहिए।
- अपषिष्ट जल के शोधन के पश्चात् उसके पुनःउपयोग जैसे सिंचाई, सफाई आदि कार्यों में उपयोग की व्यवस्था सुनिश्चित की जानी चाहिए।
- औद्योगिक इकाईयों में अपषिष्टों के शोधन की प्रभावी व्यवस्था सुनिश्चित की जानी चाहिए । औद्योगिक इकाईयों में अपषिष्टों के अनिवार्य उपचार हेतु वैधानिक नियमों का गठन तथा क्रियान्वयन होना चाहिए ।

- महानगरों जैसे दिल्ली, कानपुर, पटना आदि हेतु प्रभावी अपषिष्ट नियमन व्यवस्था अंगीकृत की जानी चाहिए ।
- नदियों, झीलों आदि में कूड़े कचरे एवं मृत जीव जन्तुओं को प्रवाहित करने की प्रवृत्ति एवं परम्पराओं पर पूरी तरह से प्रतिबन्ध लगना चाहिए।
- कृषि क्षेत्र में रसायनिक उर्वरकों, शाकाहारी, कीटनाषी आदि का विवेकपूर्ण प्रयोग होना चाहिए एवं जैविक कृषि को अधिक प्रोत्साहन देना चाहिए।
- नदियों, तालाबों के आस–पास औद्योगिक, खान, खनन एवं अन्य धार्मिक वाणिज्यिक गतिविधियों का नियमन किया जाना चाहिए ।
- नगरों तथा महानगरों में कूड़े कचरे को डंप करने से पूर्व उसका उपचार सुनिश्चित किया जाना चाहिए जिससे निक्षालन की प्रक्रिया के माध्यम से भूमिगत जल का प्रदूषण रूक सके ।
- जल संसाधनों के स्रोतों की समय–समय पर निरन्तर साफ–सफाई होनी चाहिए जिससे नदियाँ, झीलों, तालाबों आदि में बैक्टीरिया, सूक्ष्म जीवों, शैवाल आदि की वृद्धि नियन्त्रित हो जाये।
- जल का विवेकपूर्ण तौर पर प्राथमिकता के आधार पर प्रयोग होना चाहिए, शुद्ध पेय जल का शौचालय एवं लॉन हेतु प्रयोग को नियंत्रित कर प्रयुक्त जल का पुर्नचक्रण कर शौचालय एवं सिंचाई कार्यों में प्रयोग किया जाना चाहिए ।
- झीलों, तालाबों, नदियों की साफ–सफाई हेतु सूक्ष्म जीवों, के प्रयोग तथा ऑक्सीजन आपूर्ति बढ़ाने वाली तकनीकों का प्रयोग किया जाना चाहिए।
- समाज को जल प्रदूषण न करने एवं प्रदूषण को नियन्त्रित करने हेतु जागरूक किया जाना चाहिए तथा प्रदूषण रोकथाम एवं नदियों, झीलों आदि की साफ सफाई हेतु सामाजिक भागीदारी को प्रौत्साहित किया जाना चाहिए ।
- जल प्रदूषण रोकथाम् तथा इस दिशा में समुचित प्रौद्योगिकी सयंत्र विकसित करने हेतु निजी क्षेत्र, शोधकर्त्ताओं तथा वैज्ञानिकों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए ।
- जल प्रदूषण रोकथाम हेतु बने जल प्रदूषण नियन्त्रण एवं निवारण अधिनियम् 1974 तथा अन्य अधिनियमों, निर्देषों नियमावलियों का प्रभावी क्रियान्वयन सुनिश्चित किया जाना चाहिए ।

मृदा प्रदूषण

प्राकृतिक या मानव जनित कारकों या दोनों के माध्यम से मृदा की गुणवत्ता के क्षरण होने की प्रक्रिया को मृदा प्रदूषण कहते हैं । मृदा प्रदूषण के कारण मृदा में आवांछित तत्वों की भरमार हो जाती है जिससे मृदा के गुणों में अवनयन हो जाता है ।

मृदा प्रदूषण यद्यपि प्राकृतिक एवं मानवजनित दोनों कारकों से होता है परन्तु मानव जनित कारक प्राकृतिक कारकों के प्रभावों को और भी बड़ा देते हैं । मृदा प्रदूषण से मृदा की भौतिक, रासायनिक एवं जैविक विशेषताओं पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है । जिससे मृदा की उत्पादकता में अवनयन हो जाता है ।

स्त्रोत – मृदा प्रदूषण के स्त्रोतों को उनकी उत्पत्ति के स्त्रोतों के आधार पर भौतिक, जैविक, घरेलु एवं नगरीय, कृषि, औद्योगिक, नाभिकीय आदि में निम्न प्रकार से विश्लेषित किया जा सकता है –

(1) भौतिक स्त्रोत – प्राकृतिक एवं मानव जनित कारकों से होने वाले मृदा अपरदन के कारण होने वाले मृदा अवनयन मृदा प्रदूषण के भौतिक स्त्रोत के अन्तर्गत आते हैं । मृदा अपरदन वर्षा, सतही जल तथा वायु द्वारा सम्पादित किया जाता है, वनों के विनाश, दोषपूर्ण कृषि, अत्यधिक वर्षा, बाढ़, तापमान में परिवर्तन तथा वायु के वेग आदि से मृदा अपरदन की प्रक्रिया में वृद्धि होती है ।

(2) जैव स्त्रोत – इस स्त्रोत के अन्तर्गत सूक्ष्म जीवों तथा पौधों की उन क्रियाओं को सम्मिलित किया जाता है जिसके कारण मृदा की गुणवत्ता में अवनयन होता है । मृदा प्रदूषण के जैव प्रदूषकों को निम्न तीन मुख्य वर्गों में विभाजित किया जाता है ।

(क) मनुष्य द्वारा परित्यक्त रोग जनक सूक्ष्म जीव ।

(ख) पालतू मवेशियों द्वारा गोबर आदि के माध्यम् से परित्यक्त रोग जनक सूक्ष्म जीव ।

(ग) मिट्टियों में पहले से मौजूद रोग जनक सूक्ष्म जीव ।

(3) कृषि स्त्रोत – कृषि क्रियाओं तथा कृषि अपषिष्टों से भी मृदा का अवनयन होता है । रासायनिक उर्वरकों, कीटनाषी, शाकनाशी आदि के अत्यधिक प्रयोगों से मृदा के भौतिक रसायनिक गुणों में परिवर्तन आ जाता है तथा मृदा को उपजाऊ बनाने वाले सूक्ष्मजीव नष्ट हो जाते हैं । जैवनाशी रसायन के अत्यधिक प्रयोग से यह आहार श्रृंखला में प्रवेश कर जाते हैं जिनसे मनुष्यों तथा पशुओं को भी नुकसान होता है । जैवनाशी रसायनों द्वारा मृदा के अवनयन को रेंगती मृत्यु कहा जाता है ।

(4) औद्योगिक एवं खनन स्त्रोत – औद्योगिक स्त्रोतों से निस्तृत अपषिष्टों, हानिकारक रसायनों, कूड़े–कचरे को भूमि पर डंप करने से मृदा में हानिकारक विशैले तत्वों का जमाव हो जाता है । कोयले, अभ्रक, चूने आदि के अत्यधिक खनन से आवांछित तत्व एवं कण वायु–जल के माध्यम् द्वारा मृदा में समाहित हो जाते हैं । अत्यधिक जीवाश्म ईंधन के दोहन से अम्लवर्षा होती है जिसके कारण से मृदा के रसायनिक एवं भौतिक गुणों में परिवर्तन हो जाता है तथा मृदा प्रदूषण की समस्या गहराने लगती है ।

(5) घरेलु एवं नगरीय स्त्रोत – घरेलु तथा नगरीय स्त्रोतों द्वारा सीवैज, अपषिष्ट जिनमें प्लास्टिक, पॉलीथिन चमड़े का सामान, रबर, इलैक्ट्रानिक कचरा, खिलौने, कॉंच, आदि के रूप में प्रतिदिन टनों कचरा भूमि पर ही डंप किया जाता है । उपभोक्तावादी एवं भौतिकवादी संस्कृति के कारण महानगरों के बाहर कचरे का अंबार लग जाता है । जिसके कारण से मृदा में भारी प्रदूषण होता है ।

(6) रेडियो एक्टिव स्त्रोत – रेडियो एक्टिव अपषिष्टों का उत्पादन नाभिकीय प्रयोगशालाओं एवं नाभिकीय ऊर्जा के सक्रिय उद्योगों के द्वारा किया जाता है । रेडियो एक्टिव कचरे के मृदा में पहुँचने से हानिकारक तत्वों का जमाव मृदा में हो जाता है जिसके कारण से मृदा प्रदूषित हो जाती है ।

मृदा प्रदूषण के प्रभाव – मृदा प्रदूषण के परिणाम् दूरगामी होते हैं तथा इनका प्रभाव मानव, जीव–जन्तु, वनस्पति तथा समस्त पर्यावरण पर पड़ता है मृदा प्रदूषण के प्रभावों का मूल्यांकन निम्नवत् किया जाता है –

- मृदा अपरदन अत्यधिक होने से भूमि पर नालियाँ एवं खड्डों का निर्माण हो जाता है समस्या के गहराने से भूमि बीहड़ हो जाती है । अत्यधिक जल जमाव एवं अत्यधिक सिंचाई से भूमि में अम्लीयकरण व क्षारीयकरण होने से बंजर होकर कृषि कार्यों हेतु अनुपयुक्त हो जाती है।
- मृदा में प्रदूषकों के जमा रहने से वह जल के साथ निक्षालन के माध्यम से भूमिगत जल को प्रदूषित करते हैं ।
- मृदा में प्रदूषकों विशेषकर कणों के जमाव से मृदा में मौजूद सूक्ष्म छिद्र बंद हो जाते हैं तथा हानिकारक प्रदूषकों से सूक्ष्म जीव भी नष्ट हो जाते हैं जोकि मृदा की गुणवत्ता बनाये रखने हेतु आवश्यक होते हैं ।
- कूड़े कचरे में मानव स्वास्थ्य हेतु हानिकारक जीव व जीवाणु पनपते हैं जिनसे हैजा, टी.बी., अतिसार, पोलियो, मियादी ज्वर आदि बिमारियाँ पनपती हैं । जैवनाशी रसायनों के अति प्रयोग से तथा हानिकारक औद्योगिक अपशिष्टों के मृदा में समाने से विषैले रसायन एवं भारी धातुओं का मृदा एवं जल में जमाव हो जाता है जो कि भोजन श्रृंखला के माध्यम से शरीर में पहुँच जाते हैं । फलस्वरूप कैंसर, त्वचा, रोग, किडनी की समस्यायें, हृदय रोग एवं मानसिक विकार जैसी गम्भीर बिमारियों का खतरा बढ़ जाता है ।
- मृदा प्रदूषण के कारण भूमि उत्पादकता में क्षरण होने से कृषि उत्पादन, रोजगार पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है ।
- प्लास्टिक, पॉलीथीन एवं सिन्थैटिक समान मृदा में विगलित नहीं हो पाता है जिससे यह लम्बे समय तक मृदा में बने रहकर उसे और भी प्रदूषित करता रहता है । जिससे मृदा की भौतिक–रसायनिक गुण धर्म बदल जाते हैं ।

- मृदा प्रदूषण का नकारात्मक प्रभाव वनस्पतियों पर भी परिलक्षित होता है । हानिकारक एवं विषैले तत्वों के मृदा में प्रवेश करने से वनस्पति आवरण का नाश भी आरम्भ हो जाता है ।

मृदा प्रदूषण का नियन्त्रण एवं निवारण – मानव, जीव जगत के स्वास्थ्य तथा पर्यावरण के गुणवत्ता को बनाये रखने हेतु मृदा प्रदूषण की रोकथाम आज अनिवार्य हो गयी है । मृदा प्रदूषण को नियन्त्रित करने हेतु निम्न महत्वपूर्ण उपाय आवश्यक हैं –

- रसायनिक उर्वरकों एवं जैवनाशी कृत्रिम रसायनों का प्रयोग विवेकपूर्ण एवं सीमित पैमाने पर करना चाहिए तथा समन्वित कीट प्रबन्धन जैसे कार्यक्रमों के माध्यम् से रसायनिक कीट नाशकों पर निर्भरता कम की जाये एवं जैविक कृषि को प्रोत्साहित किया जाये । हानिकारक तथा विषैले रसायनों का कृषि में प्रयोग प्रबन्धित कर दिया जाये।
- घरेलु, नगरीय तथा औद्योगिक अपशिष्ट का भूमि पर खुला निस्तारण के प्रयोग को प्रतिबन्धित किया जाये । नगरों में पॉलीथिन के प्रयोग को वर्जित किया जाये ।
- घरेलु नगरीय तथा औद्योगिक अपशिष्ट के लिये पुर्नचक्रण एवं पुर्नशोधन की प्रक्रिया के माध्यम् से अपशिष्टों का पुनरोपयोग सुनिचित किया जाये तथा अपषिष्टों का समुचित उपचार के पष्चात ही निस्तारण किया जाये ।
- टपशिष्ट के उपचार हेतु प्रभावी, सस्ती एवं सुलभ तकनीकि विकसित की जाये एवं अपशिष्ट उपचार को प्रत्येक नगरीय क्षेत्रों में अनिवार्य बनाया जाये ।
- मृदा प्रदूषण नियन्त्रण हेतु अपशिष्ट प्रबन्धन की समस्या सबसे गम्भीर बनी हुई है । अपषिष्ट पदार्थों के प्रबन्धन के अन्तर्गत अपशिष्टों के संग्रह, वर्गीकरण, परिवहन तथा समुचित डंपिंग स्थल पर उपचार एवं निस्तारण एवं दहन की प्रक्रिया को सम्मिलित किया जाता है । अतः अपशिष्ट प्रबन्धन की प्रभावी व्यवस्था प्रत्येक नगर एवं औद्योगिक इकाई के स्तर पर लागू की जानी चाहिए ।
- अपशिष्टों का उनके गुणधर्म अनुसार विभाजन तथा निस्तारण करना चाहिए । जैसे जैविक पदार्थों को कम्पोस्ट के माध्यम् से प्राकृतिक खाद बनायी जा सकती है । लकड़ी कागज, रबर, प्लास्टिक्स आदि का पुर्नचक्रण कर पुनरोपयोग में लाया जा सकता है । कृषि तथा कार्बनिक अपशिष्टों का बायोमास के माध्यम से ऊर्जा में प्रयोग किया जा सकता है । ज्वलनशील अपशिष्टों को विशिष्ट प्रकार से बनाये गये भस्मकारी संयत्रों की सहायता से जलाया जा सकता है ।

- रसायनिक उर्वरकों तथा रासायनिक जैवनाशी के समुचित उपयोग के लिए किसानों को शिक्षित – प्रशिक्षित किया जाना चाहिए ।

ध्वनि प्रदूषण

ध्वनि इस जीव जगत के जीवन शैली का एक महत्वपूर्ण अंग है तथा इसके माध्यम् से भावनाओं तथा विचारों की अभिव्यक्ति होती है । परन्तु यदि ध्वनि की तीव्रता अधिक हो जाती है तो यह एक ऐसे अवांछनीय शोर में परिवर्तित हो जाती है जिससे मानव मन असहज एवं अशांत होने लगता है तथा यह कानों को प्रिय लगने की बजाय चुभने लगती है । ध्वनि की तीव्रता में बढ़ोतरी के साथ–साथ मानव मन मस्तिष्क में बैचेनी, उद्विग्नता एवं अशान्ति बढ़ती जाती है एवं ध्वनि प्रदूषण की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । अतः ध्वनि प्रदूषण एक ऐसी दशा है जहाँ पर ध्वनि की प्रकृति शोर में परिवर्तित होकर निरन्तर इतनी तीव्र हो जाती है कि उसके प्रतिकूल प्रभाव मानव वर्ग पर परिलक्षित होने लगते हैं ।

ध्वनि प्रदूषण को आधुनिक समय में ही एक गंभीर समस्या के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है । इस दिशा में 1972 में संयुक्त राष्ट्र के तत्वाधान में आयोजित स्टॉक होम पर्यावरण सम्मेलन में ध्वनि प्रदूषण को एक प्रदूषण की समस्या के रूप में स्वीकार किया गया तथा इसके रोकथाम के उपाय अपनाने पर जोर दिया गया ।

ध्वनि प्रदूषण का स्तर – ध्वनि की तीव्रता का डेसीबल इकाई के रूप में मापन किया जाता है । इसका मापन शून्य से आरम्भ होता है जोकि सामान्य कानों द्वारा सुनी जा सकने वाली सर्वाधिक धीमी आवाज को प्रदर्शित करता है । वास्तव में शून्य डेसीबल सुनने का क्रांतिक स्तर होता है अर्थात् इससे क्षीण आवाज को नहीं सुना जा सकता है । सामान्य बात् चीत की तीव्रता 55–60 डेसीबल होती है । 75–80 डेसीबल के ऊपर की ध्वनि मनुष्य को असहज करना प्रारम्भ कर देती है । अधिकांश देशों में ध्वनि के प्रदूषण का स्तर 75–80 डेसीबल तक निर्धारित किया गया है । 90 डेसीबल की तीव्रता की ध्वनि निरन्तर सुनने से मनुष्य बहरा हो सकता है तथा 150–160 डेसीबल तीव्रता वाली ध्वनि से दिल की धड़कनें बढ़ जाती है तथा अधिक असहनीय स्थिती हो जाती है । श्रोतों द्वारा उत्पन्न तीव्रता को निम्नतालिका द्वारा प्रस्तुत किया गया है ।

ध्वनि का श्रोत	तीव्रता	मन–मस्तिष्क पर प्रभाव
सामान्य श्वसन एवं पत्तियों की सरसराहट	10	–
फुसफसाहट (पुस्तकालय या कक्षा में)	30	अत्यधिक शांत
सामान्य कार्यालय में	40	शांत
सामान्य यातायात	50	
स्वचालित बाहन तथा घरेलू		

मशीन	80—90	असहज
रेलगाड़ी	110	असहनीय
जेट विमान	150	अधिक असहनीय

ध्वनि प्रदूषण के श्रोत — ध्वनि प्रदूषण प्राकृतिक तथा कृत्रिम कारकों दोनों के द्वारा जनित होता है जिनका विश्लेषण निम्नवत् है —

प्राकृतिक श्रोत — प्राकृतिक श्रोतों से जनित ध्वनियाँ जैसे — बादलों की गरज, तीव्र तूफान जैसे हरीकेन, टारनेडो, चक्रवात आदि, अत्यधिक तीव्र वर्षा, ओलावृष्टि, भूस्खलन एवं चट्टानों, बाढ़, जल प्रपात, सागरीय तरंगों आदि को इसके अन्तर्गत शामिल किया जा सकता है ।

जंगली तथा पालतू जानवरों द्वारा समय समय पर निकाले जाने वाली आवाज जैसे — शेर की दहाड़, कुत्तों का भौंकना, हाथी की चिंघाड़, सियारों का शोर आदि सभी जीवीय श्रोतों के अन्तर्गत आते हैं । जिन्हें प्राकृतिक श्रोतों में समाहित किया जा सकता है ।

कृत्रिम श्रोत — मनुष्य के विभिन्न क्रियाकलापों एवं मानव निर्मित उपकरणों एव मशीनों के संचालित होने से जनित शोर को इसके अन्तर्गत शामिल किया जा सकता है । कृत्रिम श्रोतों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण निम्न प्रकार से किया जा सकता है —

- औद्योगिक इकाईयों तथा कल कारखानों में विभिन्न उपकरणों एवं मशीनों के संचालित रहने से ध्वनि प्रदूषण होता है ।
- नगरीय क्षेत्रों में भीड़भाड़ चहल—पहल, परिवहन एवं यातायात के साधनों एवं अक्सर लगने वाले ट्रैफिक जाम से ध्वनि प्रदूषण उत्पन्न होता है ।
- धार्मिक सांस्कृतिक कार्यक्रमों तथा इनके प्रचार प्रसार में पूजा पाठ, भजन कीर्तन एवं नमाज आदि सभी में लाउडस्पीकर के प्रयोग से ध्वनि प्रदूषण होता है ।
- राजनैतिक क्रियाकलापों, प्रचार, भाषण, रैली, हड़ताल आदि के दौरान शोर होने से ध्वनि प्रदूषण होता है ।
- मनोरंजन के कार्यक्रमों जैसे संगीत के रंगारंग कार्यक्रमों मेलों, महोत्सवों आदि में ध्वनि प्रदूषण उत्पन्न होता है ।
- प्रतिरक्षा से सम्बन्धित विभिन्न प्रयोगों जैसे बम, बंदूक, राइफल, गोलाबारी, राकेट आदि से तीव्र ध्वनि प्रदूषण होता है ।
- परिवहन तथा यातायात के साधनों जैसे रेल, बस, कार, मोटर साइकिल एवं हवाई जहाज निरन्तर ध्वनि प्रदूषण को उत्पन्न करते रहते हैं ।

ध्वनि प्रदूषण के प्रभाव – ध्वनि प्रदूषण का मानव के मन मस्तिष्क एवं स्वास्थ्य पर नकारात्मक एवं गम्भीर प्रभाव पड़ता है जिसका विश्लेषण निम्नवत् रूप में किया जा सकता है ।

- ध्वनि प्रदूषण से शोर–शराबा, कोलाहल एवं अशान्ति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है । जिससे मानव के क्रियाकलापों, शयन एवं विश्राम में खलल पड़ता है तथा असहजता बढ़ती जाती है प्रदूषण के बढ़ते स्तर से मन मस्तिष्क में बेचैनी, उद्विग्नता एवं अशांति बढ़ती है तथा मनुष्य का स्वभाव चिड़चिड़ा एवं अस्थिर हो जाता है ।
- ध्वनि प्रदूषण से जनित निरंतर शोर से सुनने की क्षमता अस्थायी या स्थायी रूप क्षतिग्रस्त हो सकती है । 90 डेसीबल की ध्वनि के निरन्तर प्रभाव से मनुष्य पूर्णरूप से बधिर हो सकता है ।
- ध्वनि प्रदूषण से विशेषकर विद्यार्थी वर्ग की एकाग्रता भंग हो जाती है । इससे उनके चिंतन मनन की प्रक्रिया कुप्रभावित होती है तथा उनकी स्मृति क्षमता पर भी नकारात्मक प्रभाव पड़ता है कुल मिलाकर ध्वनि प्रदूषण से अध्ययन में विमुखता की परिस्थितियाँ भी उत्पन्न हो सकती है ।
- अत्यधिक ध्वनि प्रदूषण के जारी रहने से मनुष्यों तथा जानवनों के आचार–व्यवहार सम्बन्धी मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ते हैं । अवांछित शोर के कारण खीझ, झुझलाहट, चिड़चिड़ापन, थकान, बैचेनी आदि उत्पन्न होती है जिससे उनकी मानसिक एवं शारीरिक कार्यक्षमता पर दुष्प्रभाव पड़ता है । लम्बे समय तक ध्वनि प्रदूषण के कारण न्यूरोटिक मेंटल डिसआर्डर की समस्या हो जाती है ।
- ध्वनि प्रदूषण के कारण मनुष्य मानसिक तथा शारीरिक विकृतियों से ग्रसित हो सकता है । इसके कारण तनाव, अनिद्रा, उच्च रक्तचाप, मांस पेशियाँ तथा स्नायु में विकार आदि की समस्या उत्पन्न हो जाती है । अत्यधिक तीव्र विस्फोट एवं सोनिक बम से गर्भवती महिलाओं तथा नवजात शिशुओं के स्वास्थ्य को गम्भीर नुकसान हो सकता है ।

ध्वनि प्रदूषण पर नियन्त्रण – ध्वनि प्रदूषण पर नियन्त्रण हेतु विविध प्रकार के उपाय तथा तकनीकि वैधानिक प्रशासनिक उपाय करने आवश्यक है जोकि निम्नवत् हैं –

- ध्वनि प्रदूषक उद्योगों को आवासीय क्षेत्रों से दूर अवस्थित करना चाहिए।
- उद्योगों, प्रेक्षागृहों, सिनेमा हॉलों, धार्मिक अनुष्ठान केन्द्रों में समुचित ध्वनि शामकों की व्यवस्था होनी चाहिए तथा इनकी दीवारों को ध्वनि अवशोषक पदार्थों द्वारा निर्मित किया जाना चाहिए ।

- उद्योगों में मशीनों तथा उपकरणों में ध्वनि शामकों की व्यवस्था कर तथा कल पुर्जों का रखरखाव ग्रीस लगाकर समय–समय पर किया जाना चाहिए।
- उद्योगों, वाहनों प्रेक्षागृहों धार्मिक अनुष्ठान केन्द्रों आदि के ध्वनि प्रदूषण का स्तर वैधानिक स्तर द्वारा निर्धारित किया जाना चाहिए । लाउडस्पीकरों तथा रेकार्ड प्लेयरों से उत्पन्न होने वाले कर्णभेदी शोर को वैधानिक तथा प्रशासनिक प्रयासों द्वारा नियन्त्रित किया जाना चाहिए ।
- अत्यधिक ध्वनि प्रदूषण के क्षेत्रों में कार्यरत लोगों के लिए कानों हेतु प्लग एवं ध्वनि कवच पहनना अनिवार्य बनाया जाना चाहिए ।
- अत्यधिक व्यस्त महानगरों में ट्रफिक जाम की समस्या से निजात पाने हेतु वैकल्पिक यातायात के साधनों तथा मार्गो का विकास किया जाना चाहिए ।
- सभी हाइवे तथा सड़कों के आस–पास सघन हरित वृक्षों की पट्टी का विकास करना चाहिए । वृक्ष ध्वनि, प्रदूषण का स्तर 10–15 डेसीबल तक कम कर सकते हैं ।
- ध्वनि प्रदूषण से संबंधित सभी कानूनों का प्रभावी क्रियान्वयन आवश्यक होना चाहिए तथा ध्वनि प्रदूषण के निवारण तथा इसके प्रभावों के सन्दर्भ में जन जागरुकता को प्रसारित किया जाना चाहिए ।
- वाहनों में अनावश्यक हार्न के प्रयोग को वर्जित किया जाना चाहिए तथा बेहतर ध्वनिशामक युक्त वाहनों का प्रयोग प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

नाभिकीय प्रदूषण

नाभिकीय प्रदूषण आधुनिक समय में मानव तथा उसके पर्यावरण हेतु सबसे हानिकारक प्रदूषण है । इस प्रदूषण का हानिकारक प्रभाव जीव, वनस्पति जगत समेत जल तथा वायु मण्डलीय पर्यावरण पर भी पड़ रहा है । इस नाभिकीय प्रदूषण को रेडियोधर्मी प्रदूषण भी कहते हैं । क्योंकि यह प्रदूषण रेडियोधर्मी पदार्थों के विखंडन के फलस्वरूप छोड़े गये हानिकारक विकिरण के पर्यावरण में फैलने से उत्पन्न होता है ।

नाभिकीय प्रदूषण प्राकृतिक तथा मानव जनिक दोनों कारकों से होता है जिनका विश्लेषण निम्नवत् है –

प्राकृतिक कारक – रेडियोधर्मी विकरण पृथ्वी पर प्राकृतिक कारकों के कारण भी नाभिकीय प्रदूषण की समस्या को उत्पन्न करते हैं इन कारकों का विश्लेषण निम्नवत् है –

- सौर्यिक विकरण के कारण अक्सर रेडियोधर्मी विकिरण पृथ्वी पर आता है या पृथ्वी पर सक्रिय हो जाता है ।
- आकाशीय पिंडों के पृथ्वी पर टकराने अथवा उल्कापात होने से रेडियोधर्मी पदार्थ पृथ्वी पर आते हैं तथा क्रियाशील हो जाते हैं जिनसे रेडियोधर्मी विकिरण सक्रिय हो जाता है ।
- रेडियोधर्मी पदार्थ पृथ्वी पर प्राकृतिक रूप से उपस्थित है ये पदार्थ निरन्तर क्रियाशील एवं विखंडित होते रहते हैं एवं अत्यन्त गतिशील एवं उच्च ऊर्जा के विकरण छोड़ते हैं । जिनसे नाभिकीय प्रदूषण की समस्या उत्पन्न होती है ।

मानव जनित कारक – आधुनिक समय में विभिन्न देश अपनी शक्ति समृद्धि में निरन्तर बढ़ोतरी करने हेतु रेडियोधर्मी पदार्थों का उत्पादन करते रहते हैं जिनसे नाभिकीय विकरण एवं प्रदूषण का खतरा बना रहता है । इसमें सर्वाधिक रेडियोधर्मी पदार्थों का प्रयोग नाभिकीय ऊर्जा तथा नाभिकीय हथियारों के निर्माण हेतु किया जाता है । इसके अतिरिक्त उद्योग, कृषि, स्वास्थ्य आदि क्षेत्रों में भी रेडियोधर्मी पदार्थों का प्रयोग किया जाता है । रेडियोधर्मी पदार्थों के उपयोग से बड़ी मात्रा में हानिकारक विकिरण के साथ–साथ नाभिकीय कचरे की समस्या भी पैदा हो जाती है जिससे नाभिकीय प्रदूषण का खतरा गम्भीर हो जाता है । सामान्य रूप से उपयोग में आने वाले कार्बन, कोबाल्ट, यूरोनियम तथा थोरियम् के समस्थानिक हैं जिनसे विकिरण के रूप में अल्फा, बीटा तथा गामा किरणें निकलती रहती हैं ।

नाभिकीय प्रदूषण का प्रभाव – नाभिकीय प्रदूषण के दुष्प्रभाव अत्यधिक व्यापक एवं लम्बे समय तक प्रभावी रहते हैं । हिरोशिमा एवं नागासाकी पर हुए परमाणु हमले से न सिर्फ लाखों लोग कालकवलित हुए अपितु इसके प्रभाव लम्बे समय तक वहाँ के निवासियों में दृष्टिगोचर होते रहे । नाभिकीय रिएक्टरों से तत्कालीन सोवियत संघ के चेरनोबिल में 1986 में हुए रिसाव से ने सिर्फ सैकड़ों लोगों की मौत हुई अपितु पर्यावरण को भी अपूरणीय क्षति उठानी पड़ी । नाभिकीय प्रदूषक के प्रभावों का विश्लेषण निम्न प्रकार से किया जा सकता है ।

- नाभिकीय विकरण से त्वचा पूरी तरह जल सकती है इससे भाँति–भाँति प्रकार के कैंसर फैल सकते हैं इसके कारण मानव के संवेदनशील अंगों पर कुप्रभाव पड़ सकता है ।
- नाभिकीय विकिरण से डी.एन.ए. में परिवर्तन हो सकता है जिसके कारण से अनुवांशिक रोग की समस्या उत्पन्न हो सकती है ।
- नाभिकीय विकिरण नवजात एवं गर्भस्थ शिशुओं, गर्भवती महिलाओं हेतु अत्यधिक हानिकारक है । इसके फलस्वरूप उनके शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य पर दुष्प्रभाव पड़ता है ।

- नाभिकीय विकिरण का कुप्रभाव मानव के अतिरिक्त जीव–जन्तु एवं वनस्पति जगत पर पड़ने के साथ–साथ समस्त् पर्यावरण पर पड़ता है । इसके कारण से इनसे मिलने वाले उत्पाद विषैले हो सकते हैं तथा जीव जन्तु तथा वनस्पतियों के अस्तित्व को संकट हो सकता है।

नाभिकीय प्रदूषण पर नियन्त्रण – नाभिकीय प्रदूषण पर नियन्त्रण के लिए राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर गम्भीर प्रयास करने होंगे जोकि निम्नवत् हैं –

- ऊर्जा के स्वच्छ, वैकल्पिक एवं गैर परम्परागत साधनों का विकास करना होगा जिससे नाभिकीय ऊर्जा पर निर्भरता कम की जा सके ।
- नाभिकीय रिएक्टरों में रिसाव की समस्या से निपटने के लिए समुचित शमन के उपायों को अमल में लाना होगा ।
- नाभिकीय अपशिष्ट तथा कचरे का निस्तारण प्रभावी उपचार के बाद करना होगा, इसके निस्तारण करते समय यह ध्यान देना होगा कि इसको जमीन या समुद्र में खुले में निस्तारित नहीं करना होगा अपितु इसकों कंक्रीटों से भरे स्टील ड्रमों में भरकर समुद्र की तलहटी में खोदकर दबाना होगा ।
- नाभिकीय विकरण के संभावित क्षेत्रों की समय–समय पर निगरानी चौकसी अत्यधिक आवश्यक है ।
- रेडियोधर्मी पदार्थों के उपयोग करते समय अत्यधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता है तथा इन पदार्थों की खुदाई में नवीनतम् प्रोद्योगिकी एवं विधियों का प्रयोग अपरिहार्य है ।
- नाभिकीय हथियारों के विकास एवं परीक्षणों पर बगैर भेदभावों के प्रतिबन्ध लगाना चाहिए तथा इस दिशा में सभी देशों को आगे आना चाहिए ।

9.6 सारांश

प्रदूषण वर्तमान समय में समस्त विश्व के सम्मुख सबसे बड़ी चुनौती एवं समस्या बनकर उभरा है । प्रदूषण के कारण मानव ने जल, वायु, मृदा जैसे संसाधनों को न सिर्फ विषैला बना दिया है अपितु पृथ्वी के अस्तित्व पर भी एक प्रश्न चिन्ह लगा दिया है ।

प्रदूषण हेतु आज मनुष्य स्वयं ही उत्तरदायी है । शक्ति समृद्धि एवं बेहतर जीवन शैली की होड़ में मानव आज आत्म केन्द्रित तथा सुविधा भोगी हो गया है तथा प्रकृति एवं पर्यावरण को उसने एक डस्टबिन की भाँति उपयोग कर रहा है ।

अतः प्रदूषण की समस्या के समाधान तथा समस्त सृष्टि में स्वच्छ एवं बेहतर रहन सहन बनाने हेतु मनुष्य को पर्यावरण अनुकूल तरीकों से विभिन्न क्रियाकलापों को

अंजाम देना होगा । इस महान उद्देश्य की पूर्ति हेतु राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर से लेकर स्थानीय स्तर तक आम जनता को प्रभावी भागीदारी निभानी होगी ।

9.7 शब्दावली

जैव आक्सीजन माँग – जलीय जीव जन्तुओं को अपनी उपापचयी क्रियाओं को सुचारु रूप से चलाने के लिए आवश्यक आक्सीजन को जैव आक्सीजन माँग कहते हैं।

निक्षालन या लीचिंग – निक्षालन वह प्रक्रिया है जिससे भूमि में मिले प्रदूषक अन्तः स्पन्दन करते हुए या जल के साथ रिसते हुए नीचे की गमन करते हैं तथा भूमिगत जल को प्रदूषित करते हैं ।

सोनिक बूम – ध्वनि की गति से अधिक तीव्रता से चलने वाले जेट विमानों (सुपर सोनिक विमान) से उत्पन्न शोर को सोनिक बूम कहते हैं ।

यूट्रोफिकेशन या सुपोषण – नदियों, झीलों तथा तालाबों के जल में अजैविक तथा जैविक पोषक तत्वों की वृद्धि होने से जलीय भागों में शैवाल जैसी वनस्पतियों की बहुगुणी वृद्धि होती है जिसे सुपोषण कहते हैं ।

समस्थानिक या आइसोटोप – यह किसी तत्व के ऐसे नाभिक होते हैं जिनका परमाणु क्रमाँक समान होता है ।

नाभिकीय विखंडन – भारी नाभिकों के हल्के नाभिकों में टूटने की प्रक्रिया को नाभिकीय विखंडन कहते हैं । इस प्रक्रिया में भारी मात्रा में ऊर्जा अवमुक्त होती है ।

धूम्र कोहरा या स्मॉग – प्रदूषण के कारण धुआँ (स्मॉक) तथा कोहरा (फाग) मिलकर धूम्र कोहरे (स्मॉग) का निर्माण करते हैं । जिसका पर्यावरण एवं मानव स्वास्थ्य पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है । जब धूम्र कोहरे के साथ सल्फर डाईआक्साइड का विलय हो जाता है तो धूम्र कोहरा विषाक्त एवं प्राण घातक हो जाता है सन् 1952 में लंदन महानगर में विषैले धूम्र कोहरे से लगभग 4000 लोग मारे गये थे ।

अम्ल वर्षा – जल वर्षा के साथ अम्ल के अवपात को अम्ल वर्षा कहते हैं सल्फर तथा नाइट्रोजन के ऑक्साइड जलवाष्प के साथ क्रिया करके वर्षा जल को अम्लीय बना देते हैं । यदि जल के पी0एच0 का मान 7.0 से कम होता है तो अम्लीय तथा 7.0 से अधिक होने पर क्षारीय होता है । अम्ल वर्षा, जीव–जन्तुओं एवं वनस्पतियों के साथ–साथ भवनों, ईमारतों, पुलों आदि के लिए भी हानिकारक है । उत्तर पश्चिमी यूरोप के देशों जैसे – नार्वे, स्वीडन आदि देशों की हजारों झीले जैवकीय दृष्टि से मृत झीलों में परिवर्तित हो गयी हैं ।

9.8 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. हरित गैस प्रभाव हेतु सर्वाधिक उत्तरदायी कौन–सी गैस है ?

2. स्थान विशेष से होने वाले प्रदूषण को किस नाम से जाना जाता है ?
3. भोपाल त्रासदी हेतु कौन–सी गैस उत्तरदायी थी ?
4. दो प्रदूषण सूचक पौधों के नाम बताइये ?
5. ओजोन परत पृथ्वी पर सूर्य से आने वाली कौन–सी किरणों को अवशोषित करके हमारी रक्षा करती है ?
6. रेंगती मृत्यु किन रसायनों को कहा जाता है ?
7. ओजोन परत को नुकसान पहुँचाने वाली प्रमुख प्रदूषक गैस कौन सी है ?
8. डिर्टेरजेन्ट युक्त जल के मिलने से नदियों, तालाबों तथा झीलों में कौन–सी क्रिया तीव्र हो जाती है ?
9. ध्वनि प्रदूषण को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कब से एक समस्या के रूप में स्वीकार किया गया ?
10. तत्कालीन सोवियत संघ के किस शहर में 1986 में नाभिकीय रिसाव की घटना घटित हुई है ?
11. ध्वनि प्रदूषण हेतु ध्वनि तीव्रता का स्तर कितने डेसीबल पर निर्धारित किया गया है ?
12. भूमि पर स्थित प्रदूषक जल के साथ मिलकर किस क्रिया के माध्यम् से भूमिगत जल को प्रदूषित करते हैं ?
13. लंदन में किस सन् में विषैले धूम्र कोहरे के कारण 4000 लोग मारे गये थे ?
14. सुपर सोनिक राकेट के कारण निकलने वाली अत्यधिक विस्फोटक एवं घातक ध्वनि को किस नाम से जाना जाता है ?
15. मृत झीलों के पीछे कौन से कारक उत्तरदायी हैं ?

उत्तरमाला – (1) कार्बन डाई ऑक्साइड (2) बिंदु प्रदूषण (3) मिक (4) बरगद, डहेलिया (5) पराबैगनी किरणें (6) रसायनिक जैवनाशी (7) क्लोरो फ्लोरो कार्बन (8) सुपोक्षण (9) 1972 (10) 1986 (11) 75–80 डेसीबल (12) निक्षालन (13) 1952 (14) सोनिक बूम (15) अम्ल वर्षा ।

9.9 निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्रदूषण एवं प्रदूषक का अर्थ समझाते हुए प्रदूषण की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए ।
2. वायु प्रदूषण के कारण एवं प्रभावों पर चर्चा करते हुए इसके निवारण के उपाय समझाइये ।
3. जल प्रदूषण के अर्थ को स्पष्ट करते हुए इसके कारण एवं निवारण पर चर्चा कीजिए ।
4. ध्वनि प्रदूषण पर विस्तृत टिप्पणी कीजिए ।
5. मृदा प्रदूषण के लिए जिम्मेदार कारकों को समझाते हुए इनके प्रभावों को स्पष्ट कीजिए।

9.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- *सिन्हा मेघा,* 2002, ''पर्यावरण और पारिस्थितिकीय तंत्र'' वन्दना पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली–02 ।
- *त्रिपाठी, रेनू तथा डॉ0 अर्पणा त्रिपाठी,* 2011 ''पर्यावरण भूगोल,'' ओमेगा पब्लिकेशन दिल्ली–02 ।
- *वर्मा जी0 एस0,* 2005 ''पर्यावरण अध्ययन'' इण्टरनेशनल पब्लिशिंग हाउस, मेरठ ।
- *सिंह सविन्द्र,* 2008 ''पर्यावरण भूगोल'' वसुन्धरा प्रकाशन, गोरखपुर ।

इकाई . 10 जल: गुणवत्ता के मुद्दे, पुनर्चक्रण एवं जल प्रबन्धन

Water: Quality Issues, Recycling and Water Management

10.1 प्रस्तावना

10.2 उद्देश्य

10.3 जल की गुणवत्ता का अर्थ एवं तात्पर्य

10.4 जल गुणवत्ता के मुख्य मानक

10.5 जल गुणवत्ता को प्रमाभित करने वाले कारक

10.6 जल पुनर्चक्रण

10.7 जल संरक्षण एवं जल प्रबन्धन

10.8 सारांश

10.9 शब्दावली

10.10 लघु उत्तरीय प्रश्न

10.11 निबन्धात्मक प्रश्न

10.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

10.1 प्रस्तावना

पृथ्वी पर अनगिनत संसाधन पाये जाते हैं परन्तु ये संसाधन अनन्त एवं असीमित नहीं है। दूसरे शब्दों में पृथ्वी की एक निश्चित वहन क्षमता है, परन्तु वर्तमान समय में तीव्र जनसंख्या वृद्धि एवं इनकी बढ़ती माँग की पूर्ति हेतु मनुष्य संसाधनों का अंधाधुंध दोहन कर रहा है। टिकाऊ विकास हेतु संसाधनों का विवेकपूर्ण प्रयोग एवं प्रबन्धन अति आवश्यक है तथा समय-समय पर विभिन्न पहलुओं को ध्यान में रखते हुए प्रबन्धन मूल्यांकन किया जाना आवश्यक है। इस संबंध में विस्तार से चर्चा पिछली इकाई में की जा चुकी है।

जल के बिना पृथ्वी पर जीवन असम्भव है। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण संसाधन है जो पृथ्वी पर प्रचूर मात्रा में पाया जाता है, परन्तु इस जल का अत्यन्त छोटा भाग ही मानव उपयोग हेतु उपलब्ध है और वह भी मानव गतिविधियों के कारण प्रदुषित होता जा रहा है। अतः जल गुणवत्ता बनाये रखने हेतु सामाजिक, राजनीतिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास किये जाने की आवश्यकता है। दूषित जल को पुनर्चक्रीत कर अनेक कार्यों में उपयोग में लाया जा सकता है ।

10.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के निम्न उद्देश्य हैं -

- जल गुणवत्ता से आप क्या समझते हैं ?
- जल गुणवत्ता के कौन-कौन से मुद्दे हैं ?
- जलगुणवत्ता के मुद्दों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पहलू क्या है ?
- जल पूनर्चक्रण की आवश्यकता क्यों है ?
- जल प्रबन्धन से आप क्या समझते हैं ?

10.3 जल की गुणवत्ता का अर्थ एवं तात्पर्य

जल अत्यन्त महत्वपूर्ण प्राकृतिक संसाधन है। पृथ्वी पर समस्त जीवधारियों का संचालन जल के साथ अविछिन्न रूप से जुड़ा हुआ है और इसके बिना पृथ्वी पर जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। पृथ्वी का अधिकांश भाग जल से व्याप्त है परन्तु जल का बहुत सीमित भाग ही मानव उपयोग हेतु उपलब्ध है और यह सीमित भाग भी अत्यधिक जनसंख्या वृद्धि, तीव्र औद्योगीकरण, नगरीकरण, मलिन बस्तियों के विकास, भूमिगत जल के अत्यधिक दोहन, निर्वनीकरण, जल की बढ़ती माँग इत्यादि के कारण प्रदुषित होता जा रहा है। जल की गुणवत्ता दिन प्रतिदिन प्रभावित एवं निम्नीकृत होती जा रही है तथा इससे मानव जगत को अनेक समस्याओं से जुझना पड़ रहा है ।

जल गुणवत्ता का तात्पर्य जल की उस क्षमता से है जिससे इसका प्रयोग विभिन्न उपयोगी कार्यों हेतु किया जा सके। उच्च गुणवत्ता वाले जल का तात्पर्य जल में हानिकारक संदुष्कों की अनुपस्थिति एवं जरुरत योग्य तत्व (ऑक्सीजन, खनिज लवण) की उपस्थिति है। इस प्रकार सामान्य रूप से जल गुणवत्ता का निर्धारण जल के भौतिक, रासायनिक एवं जैविक गुणों के आधार पर किया जाता है। भौतिक गुणों के अन्तर्गत जल के स्वाद, रंग, गंध, पारदर्शिता/ गंदलापन, तापमान इत्यादि को सम्मिलित किया जाता है। इसी प्रकार रासायनिक विशेषता के अन्तर्गत खनिज तत्वों की उपस्थिति, जल की अम्लीयता अथवा क्षारीयता तथा PH मान इत्यादि देखे जाते हैं । जैविक विशेषता, जल में

घुली आक्सीजन, जैविक आक्सीजन माँग ;ठव्क्द्ध रासायनिक आक्सीजन माँग ;ब्व्क्द्ध, जीवाणुओं का स्तर आदि आधार पर निर्धारित होती है। पूर्ण रूप से शुद्ध जल में भी असंख्य रासायनिक तत्व पाये जा सकते हैं और इन सभी का मापन संभव नहीं है। अतः जल गुणवत्ता के निर्धारण हेतु अधिक हानि पहुँचाने वाले तत्वों का मापन किया जाता है। जैस कृषि क्षेत्रों में जल में उर्वरकों एवं कीटनाशकों इत्यादि की उपस्थिति का अध्ययन किया जाता है या औद्योगिक क्षेत्रों में समीपवर्ती उद्योगों में प्रयुक्त रासायनिक तत्वों की उपस्थिति पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है । इसके अतिरिक्त जल की गुणवत्ता उद्देश्य के आधार पर भी निर्धारित की जाती है। जैसे पेय जल हेतु प्रयुक्त जल का प्रयोग अन्य कार्य हेतु यथा घरों की सफाई, फूलवारियों की सिंचाई हेतु किया जा सकता है परन्तु सिंचाई के जल का प्रयोग पेय जल के रूप में नहीं किया जा सकता । अतः जल गुणवत्ता निर्धारित करने वाले मानक जल के उपयोग के आधार पर निर्धारित किये जाते हैं । अशुद्ध एवं प्रदुषित जल मानव स्वास्थ्य एवं पारिस्थितिकी के स्वास्थ्य दोनों को ही प्रभावित करता है। पीने योग्य पानी समुचित रूप में उच्च गुणवत्ता वाला पानी होता है जिसका उपयोग तत्काल या दीर्घकालीन नुकसान के न्यूनतम खतरे के साथ किया जा सकता है। दुनिया के ज्यादातर बड़े हिस्सों में पीने योग्य पानी तक लोगों की पहुँच अपर्याप्त होती है और वे बीमारी के कारकों, रोगाणुओं या विषैले तत्वों के अस्वीकार्य स्तर या मिले हुए ठोस पदार्थों से संदूषित श्रोतों का इस्तेमाल करते हैं । इस तरह का पानी पीने योग्य नहीं होता है और पीने या भोजन तैयार करने में इस तरह के पानी का उपयोग बड़े पैमाने पर त्वरित और दीर्घकारीक बीमारियों का कारण बनता है। साथ ही कई देशों में यह मौत और विपत्ति का एक प्रमुख कारण है। विकासशील देशों में जलजनित रोगों को कम करना सार्वजनिक स्वास्थ्य का एक प्रमुख लक्ष्य है ।

भारत में पेयजल की गुणवत्ता की महत्ता को ध्यान में रखते हुए केन्द्रीय मंत्रीमण्डल ने कोलकाता (पश्चिम बंगाल) में पेयजल गुणवत्ता के लिए अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र की स्थापना के प्रस्ताव को अपनी मंजूरी 14 अगस्त, 2013 को प्रदान की है। इस परियोजना की कुल लागत 176.64 करोड़ रुपये है। यह सम्पूर्ण खर्च केन्द्र द्वारा प्रायोजित राष्ट्रीय ग्रामीण पेय जल कार्यक्रम के अन्तर्गत पेय जल एवं स्वच्छता मंत्रालय को प्रदत्त निधि से वहन किया जायेगा । इस केन्द्र का मुख्य उद्देश्य भारत (शहरी एवं ग्रामीण दोनों) में पेयजल गुणवत्ता से संबंधित समस्याओं पर अनुसंधान और विकास पर ध्यान केन्द्रित करते हुए इसका चयन, निदान और प्रबन्धन के क्षेत्र में काम करना है।

10.4 जलगुणवत्ता के मुख्य मानक

सामान्य रूप से जल गुणवत्ता के निम्न मानक है जिनके आधार पर जल गुणवत्ता का निर्धारण किया जाता है -

कोलिफार्म बैक्टिरीया - कोलिफार्म जीवाणु मुख्य रूप से मानव मल एवं अन्य पशु मल में पाये जाते हैं । ये जीवाणु स्वयं रोगों के कारण नहीं बनते । वरन् ये मानव पाचन नली में प्राकृतिक रूप से पाये जाते हैं । परन्तु जब मनुष्य किसी रोग से ग्रसित हो जाता है तो रोग जनित जीवाणु इन जीवाणुओं के साथ सवंर्धित होते हैं । जिस जल में कोलिफार्म जीवाणु अधिक पाये जाते हैं (200 समूह/100 मिली जल से अधिक) बहुत अधिक सम्भावना होती है कि ऐसे जल में रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणु भी मौजूद हों । यदि कोई व्यक्ति कोलिफार्म बैक्टिरीया वाले जल में तैरता है तो ये रोग जनित जीवाणु नाक, कान, मुँह अथवा त्वचा पर कटे भागों से शरीर में प्रवेश कर जाते हैं तथा टाईफाइड, हैजा, हैपिटाईटिस, गैस्ट्रोइंट्रीटाइटिस, पेचिश, कान के रोग इत्यादि होने की संभावना बढ़ जाती है। ये

जीवाणु गंदे जल, सीवर, पेय जल की टूटी पाइपों द्वारा पेयजल मे ंप्रवेश कर जाते हैं एवं रोगों का कारण बनते हैं।

जल का तापमान - जल का तापमान प्रदर्शित करता है कि जल में कितनी उष्मा मौजूद है। जल का तापमान मुख्य रूप से जल में घुली ऑक्सीजन, जल में पाये जाने वाले वनस्पतियों की प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया एवं गति तथा जल में पाये जाने वाले जीवों के अस्तित्व को प्रभावित करता है। गर्म जल मुख्य रूप से नदी एवं तालाबों के चतुर्दिक निर्वनीकरण, उद्योगों के द्वारा दूषित एवं गर्म जल नदियों मंे छोड़े जाने के कारण होता है। इसे तापीय प्रदूषण भी कहते हैं।

घुली ऑक्सीजन - शुद्ध जल में पर्याप्त मात्रा में घुली ऑक्सीजन होती है। जिस प्रकार मनुष्यों को जीवित रहने के लिए ऑक्सीजन की आवश्कता होती है। उसी प्रकार जल में रहने वाले जीवों को भी जीवित रहने के लिए आक्सीजन की आवश्यकता होती है। जब जल की गुणवत्ता गिर जाती है तो उसमें घुली ऑक्सीजन की मात्रा भी कम हो जाती है। गर्म जल में सामान्यतया घुली आक्सीजन ठण्डे जल की अपेक्षा कम मात्रा में पायी जाती है। जल में घुली आक्सीजन के कम होने का मुख्य कारण जैविक अवशिष्टों की उपस्थिति है। जैविक अपशिष्ट मुख्य रूप से सीवर, खेत एवं पशुओं के चारे अवनलिकाओं द्वारा बहकर, एवं प्राकृतिक श्रोत जैसे जल में रहने वाले जीवों की मृत्यु के पश्चात सड़ने एवं जल में पत्तियों के गिरने से पहुँचते हैं। सूक्ष्म जीवाणु एवं प्रोटोजोआ जिन्हें विघटक भी कहा जाता है जब इन जैविक अवशिष्टों का विघटन करते हैं तो इस प्रक्रिया में बड़ी मात्रा में आक्सीजन लगती है। इस प्रकार जल में घुली आक्सीजन की मात्रा कम हो जाती है।

जैविक ऑक्सीजन माँग - जैविक आक्सीजन माँग जल में सूक्ष्म जीवों द्वारा जैविक अपशिष्टों के विघटन के दौरान उपयोग की गयी आक्सीजन की मात्रा को प्रदर्शित करता है और इस प्रकार यह जल की गुणवत्ता का मानक है। अर्थात् जिस जल में जैविक ऑक्सीजन माँग की मात्रा अधिक होगी वह उतना ही प्रदूषित जल होगा। जैसे-जैसे जल के जैविक अवशिष्टों की मात्रा बढ़ती जायेगी वैसे-वैसे जल में जैविक ऑक्सीजन माँग बढ़ती जायेगी।

फास्फोरस की मात्रा - फास्फोरस सभी जीव एवं वनस्पतियों में पाया जाता है। यह एक खनिज तत्व है। इसका प्रयोग लोग अपने बगीचों एवं फुलवारियों में उर्वरक के रूप में करते हैं। वैज्ञानिकों का मानना है कि जब जल में फासफोरस की मात्रा अधिक हो जाती है तो छोटी वनस्पतियॉ जैसे अल्गी इसका प्रयोग अपनी वृद्धि हेतु करते हैं। जिससे इनकी संख्या एवं मात्रा जल में बढ़ जाती है और जल हरे रंग के रूप में प्रतीत होने लगता है। यह हरा रंग मुख्य रूप से तैरते हुई वनस्पतियों के क्लोरोफील के कारण होता है और जब ये वनस्पतियाँ मर जाती है तो पुनः विघटन के कारण जैविक ऑक्सीजन माँग बढ़ जाती है और ऐसा जल दूषित जल कहलाता है।

नाइट्रोजन - फास्फोरस की तरह नाइट्रोजन भी पोषक तत्व है और खेतों के बाहय जल द्वारा सिंचित जल में घुलकर नदियों तक पहुँच जाते हैं। इनके कारण भी नदियों में काई अथवा अल्गी में तीव्र वृद्धि होती है। इसे अल्गल ब्लूम भी कहते हैं।

जल की अम्लीयता अथवा क्षारीयता का मापक है। PH मापक 0 (अत्यधिक अम्लीय) से लेकर 14 (अत्यधिक अम्लीय) तक होता है। PH मान 7 उदासीनता को प्रदर्शित करता है। शुद्ध जल का PH मान 6.5 तथा 8.2 के बीच होता है। अत्यधिक अम्लीय अथवा क्षारीय जल प्रदूषित जल का द्योतक है। लगभग सभी विद्युत गृहों एवं उद्योगों से निःसृत रासायनिक तत्व वायुमण्डल में प्रदूषक के रूप में विद्यमान रहते हैं। जब वर्षा होती है तो ये प्रदुषक वर्षा जल में घुलकर अम्लीय वर्षा के रूप में धरातल

पर गिरते हैं। कनाडा एवं उत्तरी पूर्वी संयुक्त राज्य अमेरिका की कई झीलें निकटवर्ती उद्योग धंधों के कारण अम्लीय जल में परिवर्तित हो चुकी हैं।

मैलापन या गंदलापन - तीव्र वर्षा के पश्चात् नदियों का जल मैला या गंदा हो जाता है यह अपरदन के कारण अवसादों की मात्रा बढ़ने के कारण होता है। गंदा जल वनस्पतियों एवं जलीय जीवों के विकास में बाधा उत्पन्न करता है। जल में उपस्थित मिट्टी के कण सूर्य प्रकाश अवशोषित कर जल के तापमान को बढ़ा देते हैं। इसके अतिरिक्त प्रकाश नदी तल तक नहीं पहुँच पाता। गंदा जल, कम प्रकाश, आक्सीजन की कमी एवं उष्णता जलीय जीवन को लगभग असम्भव बना देती है।

10.5 जल गुणवत्ता को प्रभावित करने वाले कारक

वैश्विक स्तर पर मानव की बढ़ती गतिविधियों के कारण जल गुणवत्ता का स्तर गिरता जा रहा है। बढ़ती जनसंख्या वृद्धि, तीव्र नगरीकरण, नित नये रोगाणु एवं उद्योगों में प्रयुक्त होने वाले नये-नये रासायनिक तत्वों का वायुमण्डल में प्रवेश इत्यादि इसके प्रमुख कारण हैं। इसके अतिरिक्त जलवायु परिवर्तन भी जल गुणवत्ता को प्रभावित करता है। अधिकांश राष्ट्रों में जल गुणवत्ता को प्राथमिकता न दिए जाने के कारण तथा कमजोर ढाँचागत संरचना व संसाधनों के आवंटन के अभाव में जल गुणवत्ता एक प्रमुख चुनौती बनता जा रहा है। जल गुणवत्ता को प्रभावित करने वाले कारक निम्न हैं। वैसे ये सभी कारक पृथक-पृथक नहीं बल्कि सम्मिलित रूप में जल गुणवत्ता को प्रभावित करते हैं।

10.5.1 जल गुणवत्ता को प्रभावित करने वाले भौतिक कारक - पृथ्वी पर लगभग 1.4 विलियन घन मीटर जल मौजुद है। परन्तु इसका 97 प्रतिशत भाग सागरों में मिलता है। खारेपन के कारण यह पीने के योग्य नहीं है अतः भूमि पर केवल 3 प्रतिशत ही अलवणीय जल है जिसका 77.2 प्रतिशत ध्रुवों व हिमखंडों में बर्फ के रूप में जमा रहता है तथा 22ण्4 प्रतिशत भूमि में मिलता है। शेष 0ण्4 प्रतिशत अलवणीय जल झीलों, नदियों एवं सरिताओं में मिलता है।

जल गुणवत्ता को प्रभावित करने वाले भौतिक कारकों में जलवायु, वर्षण, मृदा के प्रकार, भूगर्भिक संरचना, वनस्पतियाँ, भूमिगत जल, प्रवाह की दशा एवं दिशा इत्यादि को सम्मिलित किया जा सकता है। वायु में उपस्थित कण, गैस एवं अन्य पदार्थ वर्षा को प्रभावित करते हैं। जब वर्षा होती है तो वायुमण्डल में उपस्थित धुल कण, ज्वालामुखी एवं प्राकृतिक गैसें जैसे कार्बन डॉय आक्साइड, ऑक्सीजन तथा नाइट्रोजन सल्फर डॉय ऑक्साइड, विषैले रसायन इत्यादि वर्षा जल में घुलकर धरातल तक पहुँचते हैं तथा जलबहाव के रूप में नदी, झीलों में मिलकर जल गुणवत्ता को प्रभावित करते हैं। इसके अतिरिक्त जब तीव्र वर्षा के रुप में जल धरातल पर गिरता और तीव्र धरातलीय बहाव के रूप में बहता है तो चट्टानों में उपस्थित घुलनशील रसायन जैसे कैल्शियम कार्बोनेट, खनिज तत्व, धातु कण इत्यादि भी जल में घुलकर जल के साथ प्रवाहित होते हैं। जब जल धरातल से प्रवाहित होता है तो मृदा अपरदन करता है जिससे जल में बड़ी मात्रा में अबसाद एवं सिल्ट जमा हो जाते हैं। इसलिए वर्षा के पश्चात् अथवा बाढ़ के समय नदियों का जल मटमैला हो जाता है। नगरीय एवं औद्योगिक क्षेत्रों में धरातलीय प्रवाह अनेक प्रकार के विषाक्त एवं रासायनिक तत्वों को अपने साथ बहाकर ले जाता है तथा जल की गुणवत्ता प्रभावित होती है।

10.5.2 जलगुणवत्ता को प्रभावित करने वाले आर्थिक कारक - नगरों में जलापूर्ति का 85 प्रतिशत भाग उद्योगों द्वारा उपयोग में लाया जाता है। जहाँ एक ओर कारखानों के संचालन में जल का

प्रयोग किया जाता है वहीं दूसरी ओर औद्योगिक अपशिष्टों को बहाने तथा सीवर प्रणाली को चालू रखने में जल का उपयोग होता है। सीवर में जल का बढ़ता उपयोग जल प्रदूषण का एक श्रोत भी बन गया है। इस कारण इन क्षेत्रों में जल गुणवत्ता का निम्नीकरण स्वाभाविक है। औद्योगिक नगरों के किनारे बहने वाली नदियाँ नदी कम नाला ज्यादा लगते हैं । कई बार औद्योगिक क्षेत्रों का यह प्रदूषित जल रिसकर भूमिगत जल में मिल जाता है और इससे भूमिगत जल भी प्रदूषित हो जाता है ।

कोलकाता नगर में औद्योगिक क्षेत्रों से विसर्जित रसायनिक तत्वों के कारण भूमिगत जल में आर्सेनिक की मात्रा बढ़ गयी है। जिससे इन क्षेत्रों के लोगों को अनेक प्रकार की समस्याओं से जुझना पड़ रहा है। इसी प्रकार नगर दिल्ली के कई इलाकों में हैण्डपम्पों और कुओं का जल मानव के पीने योग्य नहीं बचा है। वास्तव में इन जल श्रोतों का जल बेहद जहरीला हो गया है। इसी कारण दिल्ली में जगह-जगह हैण्डपम्पों व कुओं के आस-पास ऐसा पानी न पीने के चेतावनी वाले बोर्ड लगे हुए हैं । दिल्ली के आस-पास के उद्योगों से निकला अपशिष्ट धीरे-धीरे रिसकर दिल्ली तथा आस-पास के भूमिगत जल में पहुँचता रहता है जिससे भूमिगत जल में फ्लोराइड, नाइट्रेट, लोह तत्व, मैंगनीज के विभिन्न यौगिक भारी धातुओं के कण घुल गये हैं जो मानव स्वास्थ्य के लिए जानलेवा साबित हो सकते हैं ।

10.5.3 जल गुणवत्ता एवं कृषि - कृषि क्षेत्रों में अन्न पैदावार हेतु बड़ी मात्रा में रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशी, रोगनाशी आदि का प्रयोग किया जाता है। वर्षा के समय खेतों से धरातीय जल इन रसायनों को बहाकर पास स्थित झीलों, तालाबों तथा नदियों में पहुँचा देता है। अधिकांश कीटनाशक दवाओं में विषैले पदार्थ जैसे - पारा, क्लोरीन, फ्लोरीन, फासफोरस आदि मिले रहते हैं जो जल में मिश्रित हो जाने पर मनुष्य एवं अन्य जीवों पर विपरीत प्रभाव डालते हैं । वर्तमान समय में डी0डी0टी0 (डायक्लोरो डायफिनाइल ट्राईक्लोरो मिथाइल मिथेन) के प्रयोग पर इसका विनाशकारी स्वरूप पता लगने पर रोग लगा दी गई है। जिस जल में ये रसायन एकत्रित होते हैं वहाँ जलीय वनस्पति काई (अल्गी) बहुत तेजी से बढ़ती है तथा सम्पूर्ण झील एवं तालाब काई से भर जाते हैं जिसे अल्गल ब्लूम या वाटर ब्लूम कहते हैं । जब ये मर जाते हैं तो सुक्ष्म जीवाणु इनका विघटन करते हैं और इस प्रक्रिया में जल में घुली आक्सीजन समाप्त होने लगती है। इस पर पूर्व में चर्चा की जा चुकी है। इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को यूट्रोफिकेशन कहते हैं ।

10.5.4 जल गुणवत्ता एवं तापीय प्रदुषण - तापीय प्रदूषण से तात्पर्य है जल के तापमान में इतनी वृद्धि हो जाना कि वह जल जीवों, वनस्पतियों एवं अन्य उपयोग हेतु हानिकारक हो । अनेक उद्योगों में शीतलन प्रक्रिया में काम आने वाले उष्ण जल को नदी या जलाशयों में ऐसे ही बहा दिया जाता है। जिससे जल जीव व वनस्पति का विनाश हो जाता है व जल की गुणवत्ता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है ।

10.5.5 जल गुणवत्ता एवं घरेलू अवषिष्ट जल - मानव जल को विविध घरेलु कार्यों में उपयोग जैसे भोजन निर्माण, कपड़े धोने, स्नान करने, बर्तन साफ करन,े घर की सफाई इत्यादि में उपयोग करता है। उपयोग में लेने के उपरान्त जल का 80 प्रतिशत भाग बहा दिया जाता है जो नालियों, नालों से होता हुआ नदी, झील आदि में चला जाता है या भूमि के द्वारा सोख लिया जाता है यह जल विभिन्न अशुद्धियों का मिश्रण होता है। इसमें कागज, कपड़ा, राख, सड़े-गले पदार्थ जैसे न जाने कितने हानिकारक पदार्थ मिले रहते हैं । ये सब पदार्थ जल श्रोतों में पहुँचकर उन्हें प्रदुषित करने का प्रमुख कारण बनते हैं तथा जल गुणवत्ता को प्रभावित करते हैं । ग्रामीण नगरों एवं शहरों के अपशिष्ट अनियन्त्रित रूप से समीपस्थ, तालाबों, झीलों सरिताओं व नदियों में मिल जाते हैं । वहाँ पर इनका

संचय होने से पुनःचक्रण नहीं हो पाता और जल प्रदूषित हो जाता है। अकेले दिल्ली महानगर में 120 करोड़ लीटर पानी का प्रयोग प्रतिदिन होता है। इसमें से 96 करोड़ लीटर गन्दा पानी 17 खुले नालों द्वारा यमुना नदी में डाल दिया जाता है। इसमें घरेलु अवशिष्टों की मात्रा अधिक होती है गंगा नदी पर स्थित 47 प्रमुख नगरों का घरेलु अवशिष्ट भी इसी नदी में डाला जाता है। इसीप्रकार प्लास्टिक एवं पॉलिथीन बैग के अत्यधिक उपयोग ने अपशिष्टों की समस्या उत्पन्न कर दी है। क्योंकि ये न तो पानी में गलती हैं, न सड़ती है अतः इनका निस्तारण कठिन हो जाता है। भारत में केवल हिमाचल प्रदेश ही एक ऐसा राज्य है जहाँ जमीनी स्तर पर प्लास्टिक एवं पॉलिथीन बैग के प्रयोग पर प्रतिबन्ध सफल रहा है।

10.6 जल पुनर्चक्रण

10.6.1 जल पुनर्चक्रण का तात्पर्य - पुनर्चक्रण शब्द से ही स्पष्ट है कि एक बार उपयोग किये गये जल को कुछ प्रक्रियाओं द्वारा संवर्धित कर पुनः अन्य उपयोगी कार्यों हेतु उपयोग किया जाना । जैसा पूर्व में बताया गया है कि पृथ्वी पर अलवणीय जल बहुत ही सीमित मात्रा में हैं और इस अलवणीय जल का एक छोटा भाग ही मानव उपयोग हेतु उपलब्ध है। जल की प्रति व्यक्ति उपलब्धता जनसंख्या वृद्धि एवं सीमित जल संसाधन के कारण घटती जा रही है। तथा उपलब्ध जल संसाधन औद्योगिक, कृषि और घरेलु निस्सरणों से प्रदूषित होता जा रहा है और इस कारण उपयोगी जल संसाधनों की उपलब्धता और भी सीमित होती जा रही है ।

अलवणीय जल की घटती हुई उपलब्धता और बढ़ती माँग से सतत पोषणीय विकास के लिए इस महत्वपूर्ण जीवनदायी संसाधन के संरक्षण और प्रबन्धन की आवश्यकता बढ़ गयी है। भारत में केन्द्रीय प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड (सी.पी.सी.बी.) राज्य प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड (एस.पी.सी.बी.) के साथ मिलकर 507 स्टेशनों की राष्ट्रीय जल संसाधन की गुणवत्ता की मॉनीटरिंग कर रहा है। इन स्टेशनों से प्राप्त आँकड़े दर्शाते हैं कि जैव और जीवाण्विक संदूषक नदियों में प्रदूषण का मुख्य श्रोत हैं । दिल्ली और आगरा के बीच यमुना नदी देश में सबसे अधिक प्रदूषित नदी है। इसके अतिरिक्त देश की अन्य नदियाँ जैसे गंगा, गोमती, साबरमती, वैगई, मूसी इत्यादि भी प्रदूषण से मुक्त नहीं है और कई स्थानों पर तो ये नालों के रूप में तब्दील हो चुकी हैं ।

जल का पुनर्चक्रण एवं पुनः उपयोग कर अलवणीय जल की सीमित उपलब्धता को काफी हद तक सुधारा जा सकता है। इस संबंध में अब हम विस्तार से चर्चा प्रस्तुत करेंगे ।

जल पुनर्चक्रण से किसी भी राष्ट्र में उपलब्ध जलापूर्ति को बढ़ाया जा सकता है। जल अत्यन्त महत्वपूर्ण संसाधन होने के कारण इसका संरक्षण करना एवं उपलब्ध जल का विवेकपूर्ण उपयोग करना मनुष्य का कर्तव्य है। जल का पुनर्चक्रण निम्न रूपों में किया जा सकता है ।

जल पुनर्चक्रण की कुछ तकनीक के अन्तर्गत बड़ी मशीनरी का प्रयोग किया जाता है तथा जल शोधन किया जाता है तथा इस शोधित जल का प्रयोग विभिन्न कार्यों हेतु प्रयोग में लाया जाता है इसके अतिरिक्त जल पुनर्चक्रण की कुछ मूलभूत विधियाँ घरों में प्रत्येक व्यक्ति द्वारा संपादित की जा सकती हैं ।

वर्षा जल एकत्रित करना - वायुमण्डलीय जलवाष्प जोकि वर्षा की बूदों के रूप में धरातल पर गिरती है प्रायः वही जल के रूप में बहकर नदी, नालों में मिल जाती है और यह जल अप्रयुक्त ही व्यर्थ चला जाता है। घर की छतों पर गिरनेवाले इस वर्षा जल को एकत्रित कर विभिन्न कार्यों जैसे पशुओं को

पीने हेतु, फुलवारियों एवं बगीचों में सिंचाई हेतु, वाहन साफ करने हेतु प्रयोग किया जा सकता है। इस प्रकार बड़ी मात्रा में इन कार्यों हेतु प्रयुक्त होने वाले शुद्ध जल को बचाया जा सकता है ।

ग्रे जल का पुनः उपयोग - घरों में स्नानागार से व्यर्थ जल अथवा रसोई के बर्तन आदि साफ करने से निर्मित व्यर्थ जल अथवा वॉशिंग मशीन में कपड़े धाने के उपरान्त बचे जल को सम्मिलित रूप से ग्रेजल कहते हैं । इनमें वॉशिंग मशीन के साबून युक्त जल को व्यर्थ बहाने के बजाय टॉयलेट फ्लश में इस्तेमाल किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त रसोई के बिना साबुन युक्त जल को फुलवारियों एवं क्यारियों में सिंचाई हेतु प्रयुक्त किया जा सकता है। इसमें एक तरफ तो किचन गार्डन या फुलवारियाँ विकसित होंगी तथा दूसरी तरफ शुद्ध जल की बचत होगी ।

इसके अतिरिक्त विभिन्न उद्योगों में जल का प्रयोग शीतलन, बॉयलन, भरण, स्वच्छता, पेय तथा विविध प्रयोगों में किया जाता है जल की उपलब्धता तथा 'प्रयोग करो और बहा दो ' के सिद्धान्त को अपनाने के कारण प्रक्रम उद्योगों में जल के प्रयुक्त उपयोग की ओर पूर्व में ध्यान नहीं दिया जाता था । भारत में जल (प्रदूषण निवारण और नियन्त्रण) अधिनियम 1974, और पर्यावरण (संरक्षण) अधिनियम 1986 तथा उनके अधीन निर्मित नियमों/विनियमों के लागू हो जाने के बाद रासायनिक प्रक्रम उद्योगों में जल के उपयोग और दूषित जल के विसर्जन के बारे में कुछ सोच प्रारम्भ हुई । ताप विद्युत गृहों एवं रासायनिक प्रक्रमों से उत्सर्जित जल का शोधन कर पुनः शीतलन, सफाई इत्यादि कार्यों में प्रयोग करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। जिससे बड़ी मात्रा में जल की बचत की जा रही है। ऐसा सरकार द्वारा विभिन्न अधिनियमों के द्वारा सक्रिय कदम उठाने के कारण सम्भव हो सका है ।

जल पुनर्चक्रण के अंतर्गत भूजल पुनर्भरण एक महत्वपूर्ण तकनीक है जिसका सफल प्रयोग विभिन्न राज्यों में किया गया है। भूजल पुनर्भरण एक जलवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसमें वर्षा जल को सतह से गहराई में ले जाया जाता है। पुनर्भरण का कार्य बहुत सीमा तक प्राकृतिक रूप से भी होता है किन्तु आधुनिक समय में इसे कृत्रिम रूप से करने की महती आवश्यकता महसूस की जा रही है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत नदी नाले या छोटे जल संक्षरण वाले क्षेत्रों में चेक डैम (अवरोध बाँध) बनाये जाते हैं जिनमें वर्षा होने पर पानी इकट्ठा हो जाता है तथा धीरे-धीरे रिसकर भूमिगत जल में मिल जाता है। जिन क्षेत्रों में चेक डैम निर्मित किये गये हैं वहाँ भूमिगत जल स्तर में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है। भारत का गुजरात राज्य इसका प्रमुख उदाहरण है इसी प्रकार के प्रयास मध्यप्रदेश एवं तमिलनाडु राज्य में किये गये हैं और सफलता मिली है ।

10.6.2 जल पुनर्चक्रण के लाभ - जल पुनर्चक्रण द्वारा प्राप्त जल यदि पर्याप्त मात्रा में जल गुणवत्ता को ध्यान में रखते हुए शोधित हो तो हमारी जल संबंधी कई आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता है। जिस जल के मानव के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने की सम्भावना होती है, उसे अधिक शोधन करना आवश्यक होता है। जिस जल का पर्याप्त प्रक्रिया द्वारा शोधन नहीं किया गया है और यदि उसमें रोगाणु एवं अन्य संदूषक उपस्थित हो तो बीमारी की सम्भावना हो सकती है ।

वैसे तो पुनर्चक्रित जल का प्रयोग अधिकांशतः पेयजल के अतिरिक्त अन्य कार्यों जैसे कृषि, सिंचाई, बागवानी या फूलवारी सिंचाई, उद्यानों इत्यादि में उपयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त ऐसे जल का प्रयोग ताप विद्युत गृहों के शीतलन, तेल शोधशालाओं (रिफायनरीज़), विनिर्माण उद्योग में कंक्रीट के निर्माण तथा कृत्रिम झीलों एवं तालाबों हेतु किया जा सकता है। तथा बड़ी मात्रा में शुद्ध पेय जल बचाया जा सकता है। ग्रेवाटर का प्रयोग बिना किसी शोधन के सीधे टॉयलेट फ्लश में तथा कीचन गार्डन में सिंचाई हेतु किया जा सकता है। जिससे एक तरफ तो शुद्ध जल की इन कार्यों हेतु प्रयोग से

बचत होती है दूसरी तरफ कीचन कार्डन में उर्वरकों की जरुरत नहीं होती क्योंकि ग्रेजल में कई तरह के पोषणीय पदार्थ के अवशिष्ट होते हैं। इसके साथ ही इन ग्रेजल का प्रयोग कर लिए जाने से व्यर्थ जल की मात्रा अथवा शोधन हेतु जरुरी जल की मात्रा में भी कमी आती है ।

10.6.3 जल पुनर्चक्रण के पर्यावरणीय लाभ - पुनर्चक्रित जल, जल के पूरक श्रोत के रूप में है अतः इसके प्रयोग करने से बड़ी मात्रा में शुद्ध जल की बचत होती है। इन जलों का विभिन्न कार्यों हेतु उपयोग में लाने से व्यर्थ अथवा प्रदूषित जल कम मात्रा में जनित होता है और इस प्रकार प्रदूषण रोकने में सहायता होती है। पुनर्चक्रित जल का प्रयोग वेट लैण्ड सृजित एवं विकसित करने में किया जा सकता है जिनकी पर्यावरणीय दृष्टि से अत्यधिक महत्ता है। वनस्पतियाँ वन्य जीव एवं मछलियों का जीवन एवं पुनरुत्पादन इस बात पर निर्भर करता है इसके निवास्य स्थान में जल की पर्याप्त उपलब्धता हो । यदि इन क्षेत्रों के जल को कृषि, नगरीय एवं औद्योगिक प्रक्रम हेतु मोड़ा जाये तो जल गुणवत्ता एवं पारिस्थतिकीय तंत्र प्रभावित होगा परन्तु यदि इन कार्यों हेतु पुनर्चक्रित जल को प्रयोग में लाया जाये तो पर्यावरण एवं पारिस्थितिकीय तंत्र की गुणवत्ता बनी रहेगी ।

10.6.4 जल पुनर्चक्रण एवं ऊर्जा की बचत: जैसे -जैसे जल की माँग बढ़ती जायेगी अधिक से अधिक जल को नदियों से प्राप्त कर शोधन पश्चात् माँग वाले स्थानों पर पहुँचाने के प्रयास किये जायेंगे । यदि ये स्थान शोधन वाले स्थान से अधिक दूर होंगे तो पम्प की सहायता से पाइपों द्वारा भेजने में ऊर्जा का इस्तेमाल होगा । यदि जल का श्रोत स्थानीय अर्थात् भूमिगत जल हो तो भी विद्युत पम्पों की आवश्यकता होगी । घर के पुनर्प्रयुक्त जल को विभिन्न कार्यों हेतु प्रयोग करने से जल के साथ-साथ ऊर्जा की भी बचत होगी ।

10.7 जल संरक्षण एवं जल प्रबन्धन

अमेरिका की संस्था नासा की एक रिपोर्ट के अनुसार देश भर के 6041 जिलों में से 161 जिले सूखे की मार झेल रहे हैं । नासा की इस रिपोर्ट में यह भी कहा गया है कि भारत के कई राज्य क्षमता से ज्यादा जल दोहन कर रहे हैं । नासा ने यह अध्ययन 2002 से 2008 के बीच की स्थितियों के आधार पर किया है। इस रिपोर्ट में स्पष्ट किया गया है कि पंजाब, हरियाणा और राजस्थान हर साल औसतन 17.7 अरब क्यूबिक मीटर पानी जमीन के अन्दर से निकाल रहे हैं । अंधाधंुध जल दोहन और इसमें भूजल स्तर में आ रही गिरावट के बड़े भयानक परिणाम होंगे । अगर अंधाधुंध जल दोहन इसी तरह से जारी रहा तो आने वाले समय में भारत में अनाज और पेय जल का संकट उत्पन्न हो जायेगा । जाहिर है कि जब जल संकट बढ़ेगा वो खेती पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ेगा । अनाजों के उत्पादन में कमी आयेगी । इस वजह से अनाज संकट पैदा होगा । इसके अतिरिक्त पेय जल की उपलब्धता में कमी आयेगी । अभी भी देश के कई हिस्से ऐसे हैं जहाँ के लोगों को पीने के लिए साफ पानी नहीं मिल पा रहा है। कई क्षेत्र ऐसे हैं जहाँ गर्मी के दिनों में हैण्ड पम्प से पानी आना बन्द हो जाता है। यह समस्या भूजल स्तर में निम्नीकरण की वजह से पैदा हुई है। इस पूरी समस्या की जड़ में जल का सही प्रबन्धन नहीं होना जिम्मेवार है। यह समस्या केवल भारत के सन्दर्भ में ही लागू नहीं है वरन् सम्पूर्ण विश्व में जल संकट निरन्तर बढ़ता जा रहा है। विश्व की लगभग आधी से अधिक जनसंख्या प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से जल की कमी का सामना कर रही है ।

प्रादेशिक तथा वैश्विक स्तर पर सभी देशों को स्वच्छ जल की मात्रा को संरक्षित करने के प्रयास करने चाहिए । लोगों को जल संरक्षण तथा जल पुनर्चक्रण हेतु जागरुक किया जाना अति आवश्यक है क्योंकि बिना जन सहभागिता के यह प्रयास पूरी तरह सफल नहीं हो पायेंगे । जलीय समस्या से

निपटने के लिए वैयक्तिक से लेकर वैश्विक स्तर पर प्रयास की आवश्यकता है। भारत में जल संरक्षण की महत्ता के मद्देनजर वर्ष 2007 को जल वर्ष घोषित किया गया तथा ग्यारवीं पंचवर्षीय योजना में जल संसाधन विकास को प्राथमिकता दी है। जल संरक्षण हेतु निम्न रूप में प्रयास किये जाने की आवश्यकता है ।

1 सिंचाई की उन्नत विधियों का प्रयोग - भारत में भूजल का सर्वाधिक दोहन कृषि में सिंचाई के लिए किया जा रहा है। वैश्विक स्तर पर भी शुद्ध जल का लगभग 70 प्रतिशत कृषि कार्यों में प्रयुक्त होता है तथा शेष 23 प्रतिशत उद्योगों व 8 प्रतिशत घरेलु उपयोग में किया जाता है। विगत चार दशकों में कृषि में आये क्रान्तिकारी परिवर्तनों में जल की माँग बढ़ी है तथा इस माँग की पूर्ति शुद्ध भू-जल के द्वारा की गयी । जिससे इन श्रोतों में भूजल काफी गहराई तक चला गया ।

नहरों तालाबों तथा कुँओं एवं नलकूपों द्वारा पारम्परिक सिंचाई की विधियों द्वारा आवश्यकता से अधिक जल नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार सिंचाई करने से जल का समुचित वितरण नहीं हो पाता है। सिंचाई की उन्नत विधियाँ अपनाकर अच्छी पैदावार के साथ बड़े पैमाने पर जल को संरक्षित किया जा सकता है। फव्वारा (स्प्रिन्कलर) तथा बूँद-बूँद सिंचाई (ड्रिप इरीगेशन) विधियों में जल की 50 प्रतिशत बचत होती है। बूँद-बूँद या टपक सिंचाई पद्धति में सतह पर छिद्रदार पाइप का जाल फैलाया जाता है जिससे फसल को प्रत्यक्ष रूप से पानी मिल जाता है। इस पद्धति में वाष्पीकरण से हानि नहीं होती है तथा सम्पूर्ण जल का उपयोग हो जाता है। इसी प्रकार की नवीन सिंचाई तकनीक फर्टीगेशन है जिसमें उर्वरकों को सिंचाई वाले जल में घोलकर फिर बूँद-बूँद सिंचाई विधि द्वारा सिंचाई की जाती है ।

2 जलवायु के अनुरूप फसलों का चुनाव - फसलों का चुनाव इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि कम वर्षा वाले क्षेत्रों में ऐसी फसलें बोयी जाये जिनमें सिंचाई की आवश्यकता कम होती है तथा जलाधिक्य क्षेत्रों में ही अधिक सिंचाई वाली फसलें उगायी जायें । कृषि जलवायु दशाओं के अनुरूप फसल बोने पर अतिरिक्त जल की आवश्यकता नहीं होती है। परन्तु वर्तमान समय अत्यधिक लाभार्जन हेतु कई बार कृषक व्यापारिक फसलों को प्राथमिकता देते हैं । इन व्यापारिक फसलों को अधिक जल की आवश्यकता होती है। जल की कमी वाले क्षेत्रों में मुख्य रूप से ज्वार, बाजरा अथवा कृषि वानिकी को प्राथमिकता देनी चाहिए ।

3 उद्योगों में जल की बचत - विश्व स्तर पर वार्षिक जल के उपयोग का लगभग 23 प्रतिशत औद्योगिक क्षेत्र में उपयोग होता है। कुछ उद्योगों जैसे चर्म उद्योग, रंगाई उद्योग में जल की अधिक मात्रा की आवश्यकता होती है तथा निःसृत जल प्रदूषित जल के रूप में होता है। इन उद्योगों में यह अनिवार्यता होनी चाहिए कि निःसृत जल का शोधन कर पुनः उपयोग का चक्र विकसित किया जाना चाहिए । जिसमें बड़ी मात्रा में जल का संरक्षण सम्भव हो सकेगा एवं प्रदूषण में कमी में भी सहायता मिलेगी ।

4 नगरीय क्षेत्रों में अपषिष्ट जल का पुनःउपयोग - भारत जैसे विकासशील देशों में नगरीय क्षेत्रों की जनसंख्या तीव्र गति से बढ़ रही है। बढ़ती जनसंख्या के चलते इन क्षेत्रों में जल की माँग में भी तीव्र गति से वृद्धि हुई है। विश्व के अनेक विकसित देशों में शहरी जल को उपचारित करके शहर के निकटवर्ती खेतों में सब्जियों तथा फल उगाने में किया जाता है। परन्तु भारत में नगरीय क्षेत्रों में बड़ी मात्रा में जल पुनःउपयोग में आने के स्थान पर दूसरे जल श्रोतों को भी प्रदूषित करता है।

यमुना नदी के किनारे स्थित दिल्ली, आगरा, मथुरा आदि शहरों में यही स्थति है। शहरों में इस अपशिष्ट जल को पुनः उपयोग में लाने से जल संरक्षण के साथ ही विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति भी हो सकती है ।

5 नगर निकायों द्वारा जल संरक्षण एवं जल प्रबन्धन - नगर निकायों द्वारा जल संरक्षण हेतु प्रचार प्रसार किया जाना चाहिए तथा अखबार, टी0वी0 इत्यादि के माध्यम से लोगों को जल संरक्षण हेतु जागरुक एवं प्रोत्साहित किया जाना चाहिए । क्योंकि बिना जन सहभागिता के बड़े पैमाने पर जल संरक्षण संभव नहीं है। शहरों में वर्षा जल को मकानों की छतों से एकत्रित करने की व्यवस्था को नियमबद्ध रुप में लागू किया जाना चाहिये । शहरों में प्रायः इमारतें ऊँची होती है वहाँ छत का क्षेत्रफल काफी ज्यादा होता है। इन जगहों पर छत के पानी को जमा करने और पाइप के जरिये जमीन में उतारकर भू-जल श्रोतों को री-चार्ज करने की व्यवस्था की जानी चाहिए ।

जल संरक्षण में व्यक्गित चेतना महत्वपूर्ण कारक है। शहरों में घरों में प्रायः सुबह के समय लोग दाँतों को ब्रश करते समय या शेविंग करते समय नल खुला छोड़ देते हैं । जिससे बड़ी मात्रा में जल व्यर्थ ही नष्ट होता है। प्रत्येक व्यक्ति को हर परिस्थिति में जल बचाने का प्रयास करना चाहिए ।

6 वृक्षारोपण - विगत वर्षों में मुख्य रूप से सड़क निर्माण हेतु बड़े पैमाने पर वनोन्मुलन किया गया व नगरीय क्षेत्रों में हरित पेटी अथवा वृक्षों का अभाव है। इसलिए नगरीय क्षेत्र कंक्रीट जंगल के रूप में परिवर्तित हो गये हैं और इसी कारण नगरीय क्षेत्र के ऊपरी वायुमण्डीय वातावरण का तापमान चतुर्दिक स्थित क्षेत्रों के तापमान से काफी अधिक होता है। इस कारण नगरीय क्षेत्रों को उष्मा द्वीप की संज्ञा दी जाती है। वनोन्मुलन के कारण वर्षा जल का अधिकांश भाग बिना भूमिगत हुए बह जाता है। विश्व में सर्वाधिक वर्षा वाले स्थान चेरापूँजी में विगत दशक में जल संकट उत्पन्न हो गया क्योंकि यहाँ चूना पत्थर के खनन हेतु वनों को नष्ट कर दिया गया । फलस्वरूप वर्षा जल तीव्रता से प्रवाहित होकर नदियों में मिल जाता है। ऐसा ही उत्तराखण्ड के देहरादून क्षेत्र में हो रहा है। अतः नगरीय क्षेत्रों एंव अन्य क्षेत्रों सड़कों के किनारे इत्यादि भागों में वृक्षारोपण किया जाना चाहिए ।

7 भूमिगत जल का विवेकपूर्ण उपयोग - भूमिगत जल का अंधाधुंध दोहन के कारण कई क्षेत्रों में जल स्तर काफी नीचे चला गया है। भूजल का एक बार दोहन कर लेने के पश्चात् पुनः रि-चार्ज होने में काफी समय लगता है। अतः भूजल का पुनः पूर्ति के अनुपात में ही दोहन किया जाना चाहिए । तथा भू-जल की पुनः पूर्ति के प्रयास भी साथ में किये जाने पर जोर देना चाहिए । भूजल का विवेकपूर्ण विदोहन करके ही जल की मात्रा को आनुपातिक रूप से संरक्षित रखा जा सकता है ।

8 जल का पुनर्वितरण - धरातल पर जल समान रूप से वितरित नहीं है। भारत के ही विभिन्न क्षेत्रों में वर्षा का वितरण भिन्न रूप में होता है। एक तरफ तो भारत के दक्षिण पश्चिम तटीय क्षेत्रों में एवं पूर्वोत्तर क्षेत्रों में 250 सेमी0 से अधिक वर्षा होती है तो पश्चिम राजस्थान में वर्षा 50 सेमी0 से भी कम होती है तथा नदियाँ वर्ष के अधिकांश समय में शुष्क रहती है। अतः जलाधिक्य क्षेत्रों से जल अल्पता वाले क्षेत्रों में जलापूर्ति करके जल संकट को कम किया जा सकता है। यह कार्य जलाशय तथा नहरी जाल विकसित करके सम्पन्न किया जा सकता है। वर्षा से प्राप्त वह जल जो नदियों द्वारा बिना उपयोग के ही बह जाता है जलाशयों का निर्माण करके ऐसे जल को संग्रहित

किया जाता है। जिससे कृषि, उद्योगों, नगरों आदि को जल की आपूर्ति की जाती है। जलाशयों के एकत्रित जल में परिवहन तथा मत्स्यन की सुविधायें भी रहती हैं । नदियों में बाढ़ों के प्रकोप से बचने के लिए भी ये जलाशय बनाये जाते हैं ।

जल का पुनर्वितरण नहरी तन्त्र के विकास द्वारा भी सम्भव है। नहरों द्वारा जल को अधिक वर्षा वाले क्षेत्रों से कम वर्षा वाले क्षेत्रों में स्थानान्तरित किया जाता है। इन्दिरा गाँधी नहर इसी दिशा में प्रयास था । जिसके द्वारा हिमालय का पानी पश्चिमी राजस्थान में लाकर सिंचाई की सुविधा उपलब्ध करायी गयी । सन् 1975 में प्रो0 के0 एल0 राव ने ऐसी ही योजना का प्रारुप तैयार किया था जिसे गंगा कावेरी ग्रिड के नाम से जाना जाता है। इस योजना के तहत भारत की गंगा नदी को दक्षिण भारत की कावेरी, कृष्णा तथा पेरियार नदी से नहरों के माध्यम से जोड़ना प्रस्तावित था । सन् 2003 में भारत के राष्ट्रपति डॉ0 ए0पी0 जे0 अब्दूल कलाम ने पहल की तथा इसे आधुनिक रूप देकर कार्य हेतु प्रयास करने पर बल दिया । इस सम्बन्ध में अध्ययन एवं पर्यावरण प्रभाव मूल्यांकन किय जा रहे हैं ।

9 कुशलता में सुधार और नुकसान को कम करना - भारत में जल संसाधनों के लिए एक अभिशाप है प्रणाली का अकुशल होना तथा घाटे में रहना । यह विशेषता कृषि, उद्योग, घरेलु या अन्य जरुरतों के लिए सभी जल प्रणालियों के मामलें में दिखाई देती है। मोटे अनुमान के अनुसार कुशलता में सुधार होने से वर्तमान घाटे को 40 प्रतिशत तक कम किया जा सकता है ।

इस प्रकार अब तक के विवरण से स्पष्ट है कि जल प्रबन्धन के लिए दो बातें प्रमुख रूप से महत्वपूर्ण हैं - जल संरक्षण एवं जल स्वच्छता । यही कारण है कि जल प्रबन्धन को सुरक्षित करना और इसे प्रदूषण से बचाना हम सबका उत्तरदायित्व है। अतः सफल प्रबन्धन हेतु निम्न प्रयास वैयक्तिक से लेकर वैश्विक स्तर पर किये जाने चाहिए ।

- हर सम्भव प्रयास कर जल को प्रदूषित होने से बचाना चाहिए ।
- सरकारी स्तर पर निर्भरता के बजाय सामाजिक स्तर पर इसे बढ़ावा दिया जाये।
- अत्यधिक जल दोहन पर अंकुश लगाने पर बल दिया जाये।
- पानी के अविवेकपूर्ण उपभोग पर रोक लगाई जाये।
- एक ओर पेय जल को संरक्षित रखा जाये तथा दूसरी ओर नये श्रोतों का भी पता लगाया जाये।
- जल की गुणवत्ता को बनाये रखने के लिए समन्वित प्रयास जरुरी हैं ।
- रेनवाटर हार्वेस्टिंग तकनीक को बढ़ावा दिया जाये।
- कृषि में छिड़काव अथवा टपक सिंचाई विधियों का प्रयोग किया जाये।
- जलोपलिब्धयों के अनुसार ही कृषि में फसलों का चयन किया जाये।
- पुनर्चक्रित जल का प्रयोग करने वाले उद्योगों को प्रोत्साहित करने हेतु प्रयास किये जाये एवं जल प्रदूषित करने वाले उद्योगों पर जुर्माना लगाया जाये।

10.8 सारांश

जल सुरक्षा भारत के साथ-साथ अन्य सभी देशों में महत्वपूर्ण एवं जोरदार मुद्दे के रूप में उभर रहा है। भारत के लगभग सभी शहरों में कृषि विकास, औद्योगिकरण और शहरीकरण के सतत् प्रभावों के कारण जल की कमी का सामना करना पड़ रहा है इसके लिए उपलब्ध जलीय संसाधनों के संरक्षण की आवश्यकता है तथा इनके विवेकपूर्ण उपयोग की जरुरत है। यह संरक्षण, विवेकपूर्ण उपयोग एवं जल का पुनर्चक्रण हेतु लोगों की सहभागिता अति आवश्यक है। बिना जन सहभागिता के यह प्रयास

सफल नहीं हो पायेंगे । जल अमूल्य है एवं इस अमूल्य संसाधन का संरक्षण एवं प्रबंधन वैयक्तिक, सामुदायिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर किया जाना चाहिए। संसाधनों का न्यायिक तथा सर्वाधिक प्रयोग इस ढंग से होना चाहिए कि आर्थिक संवृद्धि की गति को अन्तर-पीढ़ी की समानता के साथ बनाये रखा जा सके।

10.9 शब्दावली

- **ड्रिप इरीगेशन (टपक सिंचाई) -** छिद्र वाले पाइपों के जाल द्वारा इस प्रकार की सिंचाई किया जाना कि जल बूँद-बूँद कर फसलों की जड़ों तक पहुँचे ।
- **फर्टीगेशन -** उर्वरकों को सिंचाई के जल में घोलकर छिड़काव अथवा टपक विधि द्वारा सिंचाई का किया जाना ।
- **वैष्वीक उष्णता -** वैश्विक तापमान में वातावरण प्रदूषण के कारण वृद्धि होना।
- **वॉटर ब्लूम -** जब जल में पोषणीय पदार्थों की उपलब्धता बढ़ जाती है तो अल्गी बहुत तेजी से बढ़ती है तथा अल्गी की अधिकता के कारण जल हरे रंग में तब्दील हो जाता है। इसके ही वाटर ब्लूम कहते हैं ।
- **ग्रेवाटर -** घरों में स्नानागार, रसोई में बर्तन आदि साफ करने अथवा बाथ टब के व्यर्थ जल को ग्रेवाटर कहते हैं ।
- **तापीय प्रदूषण -** ताप विद्युत ग्रहों एवं उद्योग धंधों से निःसृत उष्ण जल को तालाबों अथवा नदियों में छोड़े जाने से इनके जल के तापमान में वृद्धि हो जाती है इसे ही तापीय प्रदूषण कहते हैं ।
- **PH मान -** जल की अम्लीयता अथवा क्षारीयता का मापक है इसका प्रसार 0 से 14 तक होता है। उदासीन जल का मान 7 अम्लीय जल का 7 से कम तथा क्षारीय जल का 7 से अधिक होता है ।

10.10 लघु उत्तरीय प्रश्न

(1) जैव रसायन आक्सीजन माँग क्या है ?

उत्तर - जैविक आक्सीजन माँग जल में सूक्ष्म जीवाणुओं द्वारा जैविक अपशिष्टों के विघटन के दौरान उपयोग की गयी ऑक्सीजन की मात्रा को प्रदर्शित करता है। यह जल प्रदूषण का मापक है। कम प्रदूषित जल की जैव रसायन ऑकसीजन माँग कम होती है ।

(2) जल असुरक्षा दूर करने के उपाय कौन-कौन से हैं ?

उत्तर - जल असुरक्षा दूर करने के उपाय निम्न हैं - (1) दक्षता सुधार और नुकसान को न्यूनतम करना । (2) भू-जल स्तर को रिचार्ज करना । (3) प्रदूषण में कमी लाना और इसका उपचार करना । (4) अवशिष्ट जल का पुर्नउपयोग एवं पुनर्चक्रण ।

10.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. जल गुणवत्ता के मुद्दों पर प्रकाश डालिए ।
2. जल पुनर्चक्रण एवं जल संरक्षण पर विस्तृत निबन्ध लिखिये ।
3. जल प्रबन्धन पर विस्तार से लेख लिखिए ।

10.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- जैन टी0 आर0, वी0 के0 आहेरी, वी0 डी0 मांझी, "भारत में आर्थिक विकास एवं नीति ।"

- जैन टी0 आर0, ओ0 पी0 खन्नर, विजय वत्रा तथा एस0 के0 भाटिया, ''विकास एवं पर्यावरण संबंधी अर्थशास्त्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार।''
- सिन्हा मेघा, 2002, ''पर्यावरण और पारिस्थितिकीय तंत्र'' वन्दना पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली-02।
- त्रिपाठी, रेनू तथा डॉ0 अर्पणा त्रिपाठी, 2011 ''पर्यावरण भूगोल,'' ओमेगा पब्लिकेशन दिल्ली-02।
- वर्मा जी0 एस0, 2005 ''पर्यावरण अध्ययन'' इण्टरनेशनल पब्लिशिंग हाउस, मेरठ।

इकाई – 11 आर्थिक संवृद्धि की पर्यावरणीय लागत
Environmental Cost of Economic Growth

11.1 प्रस्तावना (Introduction)

11.2 उद्देश्य (Objectives)

11.3 आर्थिक संवृद्धि की पर्यावरणीय लागत (Environmental Costs of Economic Growth)

11.4 आर्थिक संवृद्धि एवं पर्यावरण संबंध के सैद्धान्तिक पहलू (Theoretical Aspects of the Relationship Between Economic Growth and the Environment)

11.5 निष्कर्ष (Conclusion)

11.6 शब्दावली (Glossary)

11.7 लघुउत्तरीय प्रश्न (Short-Answer Questions)

11.8 निबन्धात्मक प्रश्न (Essay-Type Questions)

11.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची (Bibliography)

11.1 प्रस्तावना (Introduction)

पृथ्वी पर अनगिनत संसाधन पाये जाते हैं परन्तु ये संसाधन अनन्त एवं असीमित नहीं है। दूसरे शब्दों में पृथ्वी की एक निश्चित वहन क्षमता है , परन्तु वर्तमान समय में तीव्र जनसंख्या वृद्धि एवं इनकी बढ़ती माँग की पूर्ति हेतु मनुष्य संसाधनों का अंधाधुंध दोहन कर रहा है। टिकाऊ विकास हेतु संसाधनों का विवेकपूर्ण प्रयोग एवं प्रबन्धन अति आवश्यक है तथा समय-समय पर विभिन्न पहलुओं को ध्यान में रखते हुए प्रबन्धन मूल्यांकन किया जाना आवश्यक है। इस संबंध में विस्तार से चर्चा पिछली इकाई में की जा चुकी है ।

मनुष्य की आवश्यकताएं दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। अतः आर्थिक संवृद्धि अति आवश्यक है परन्तु यह संवृद्धि पर्यावरण की लागत अर्थात पर्यावरण को नुकसान पहुँचाकर नहीं की जानी चाहिए । इस संबंध में विस्तृत चर्चा इस इकाई में की जायेगी ।

11.2 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के निम्न उद्देश्य हैं -

- आर्थिक संवृद्धि क्या है जान सकेंगे ।
- आर्थिक संवृद्धि की पर्यावरणीय लागत की अवधारणा को जान सकेंगे ।
- पर्यावरण प्रभाव मूल्यांकन किस प्रकार किया जाता है समझ सकेंगे ।

11.3 आर्थिक संवृद्धि की पर्यावरणीय लागत (Environmental Costs of Economic Growth)

आर्थिक संवृद्धि का तात्पर्य किसी राष्ट्र के वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन में होने वाली वृद्धि से हैं। अन्य शब्दों में आर्थिक संवृद्धि एक परिमाणात्मक अवधारणा है तथा इसका सम्बन्ध उत्पादन की अथवा राष्ट्रीय आय की वृद्धि पर से है। इसका मापन मुख्यतः सकल घरेलू उत्पाद में होने वाली वृद्धि के रूप में किया जाता है। पर्यावरण तथा आर्थिक संवृद्धि एक दूसरे से संबंधित हैं। प्राकृतिक पर्यावरण से जीवाश्म ईंधन, खनिज (धात्विक एवं अधात्विक) तथा कई प्रकार के कच्चा माल प्राप्त होते हैं। इन अनव्यकरणीय संसाधनों के अतिरिक्त प्राकृतिक पर्यावरण हमें कई प्रकार के नव्यकरणीय संसाधन उपलब्ध कराता है। जिसका उत्पादन प्रक्रिया अथवा अर्थव्यवस्था में उपयोग किया जाता है और यदि इन संसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग किया जाये तो चिरकाल बने रहने की क्षमता रखते हैं। अर्थव्यवस्था तथा पर्यावरण के इस प्रत्यक्ष संबंध के अतिरिक्त यह अप्रत्यक्ष रूप से भी अर्थव्यवस्था में योगदान देता है। पर्यावरण के विभिन्न रासायनिक, भौतिक तथा भूजैव रासायनिक चक्र संपादित होते हैं तथा यह धरातल निवास योग्य बना रहता है। पर्यावरण सिंक के रूप में भी कार्य करता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि पर्यावरण, मानवीय समाज तथा अर्थव्यवस्था में निम्न तीन प्रकार का संबंध पाया जाता है ।

(1) पर्यावरण अर्थव्यवस्था को कच्चा माल उपलब्ध कराता है, उत्पादन प्रक्रिया द्वारा जिसका उत्पाद पदार्थों के रुपान्तरण किया जाता है ।

(2) पर्यावरण सेवायें भी उपलब्ध कराता है जिसका उपभोक्ताओं द्वारा प्रयोग किया जाता है। ये महत्वपूर्ण जीवन सुरक्षा सेवायें हो सकती हैं। जैसे हवा में उपस्थित ऑक्सीजन जिसके द्वारा हम

साँस लेते हैं अथवा जल जिसे हम पीते हैं। अथवा प्राकृतिक सौन्दर्य वाले स्थल जिनसे हम आनन्द व सुख प्राप्त करते हैं ।

(3) उत्पादन तथा उपभोग प्रक्रिया के फलस्वरूप जो व्यर्थ पदार्थ पैदा होते हैं। पर्यावरण उन सभी के लिए सिंक का कार्य करता है। पर्यावरण एक निष्क्रिय सिंक नहीं है। बल्कि इन व्यर्थ पदार्थों को नष्ट करके पर्यावरण शुद्ध एवं साफ-सुथरा बनाता है और व्यर्थ पदार्थों का पुनः चक्रण करके वह आकर देता है ।

मानव समाज और राष्ट्रों के विकास के लिए पर्यावरण एवं आर्थिक संवृद्धि दोनों ही आवश्यक हैं। परन्तु पिछले कुछ वर्षों में आर्थिक संवृद्धि का पर्यावरण पर पड़ने वाला प्रतिकूल प्रभाव चर्चा का मुख्य मुद्दा बन गया है। औपनिवेशिक काल से ही विकसित राष्ट्रों ने प्राकृतिक साधनों का अंधाधुंध दोहन किया है। बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियाँ, संयन्त्र आदि स्थापित हुए । यूरोप, अमेरिका आदि के देशों में जीवाश्म ईंधन की खपत बढ़ती चली गई। प्राकृतिक संसाधनों के धनी देश जैसे भारत, अफ्रीका आदि बड़े और विकसित देशों की जरुरत को पूरा करने के लिए शोषित होने लगें । एक ओर जहाँ औद्योगिकरण के तीव्र विकास के कारण अर्थव्यवस्था विकसित होने लगी वहीं पृथ्वी की हवा में जहर घुलना प्रारम्भ हो गया । इसकी परिणति पर्यावरणीय असंतुलन के रूप में सामने आई । पर्यावरणीय अवनयन एवं शोषण के कारण आर्थिक संवृद्धि की लागत में वृद्धि होती है तथा उसकी प्रगति में बाधा उत्पन्न होती है। संतुलित पर्यावरण केवल संपोषित विकास के लिए ही आवश्यक नहीं है बल्कि जीवन की गुणवत्ता को बनाये रखने के लिए भी आवश्यक है। अब यह माना जाने लगा है कि पर्यावरण तथा आर्थिक संवृद्धि एक दूसरे के पूरक हैं ।

आर्थिक संवृद्धि की पर्यावरणीय लागत से अभिप्राय उन खर्चों से है जो एक तो आर्थिक संवृद्धि के परिणामस्वरूप होने वाले प्रदूषण से बचाव करने के लिए किये जाते हैं और दूसरी ओर उन खर्चों से है जो प्राकृतिक साधनों जैसे भूमि, नदियों, वनों आदि के संरक्षण के लिए किये जाते हैं। इन्हें प्रतिकूल बाह्यताओं के कारण होने वाली लागत या बाहरी हानियाँ भी कहा जाता है। डॉ0 आर0 के पचौरी के अनुसार आर्थिक संवृद्धि की पर्यावरणीय लागत को सामान्यतः दो भार्गों में रखा जा सकता है। पहला वायु और जल आदि के प्रदूषण से लोगों के स्वास्थ्य पर हानिकारक प्रभाव और दूसरा जलपूर्ति की लागत करने, भूमि के बिगड़ने और वनों के विनाश के कारण उत्पादकता पर पड़ने वाला प्रभाव है ।

पर्यावरण से प्राप्त संसाधनों के प्रयोग से हमने उत्पादन में वृद्धि अवश्य कर ली है और इसे आर्थिक विकास का प्रतीक भी माना जा सकता है परन्तु वायुमण्डल, जलमण्डल इत्यादि को प्रदूषित कर दिया है। वनों के विनाश के कारण मृदा अपरदन बढ़ गया है तथा बाढ़ों की बारम्बारता में वृद्धि होने लगी है। विकास की वर्तमान रणनीति ने पर्यावरण में असंतुलन की स्थिति उत्पन्न कर दी है तथा संवृद्धि की पर्यावरणी लागत बढ़ा दी है। इस पर अब हम विस्तार चर्चा करेंगे ।

वायु प्रदूषण की लागत - वाहनों, औद्योगिक चिमनियों एवं जीवाश्म ईंधन के बड़ी मात्रा में दहन से वायुमण्डल में जहरीली गैसों की मात्रा में वृद्धि हो रही है तथा वायुमण्डल प्रदूषित हो रहा है। वायुमण्डल में प्रतिवर्ष 230 अरब टन कार्बन डॉई ऑक्साइड उत्सर्जित हो रही है। आई0 पी0 सी0 सी0 की रिपोर्ट के अनुसार 1882 से पूर्व वायुमण्डल में कार्बन डाई ऑक्साइड की मात्रा 280 चचउ थी जो अब बढ़कर 379 चचउ हो गई है। इसीप्रकार अन्य ग्रीन हाऊस गैसे क्लोरो फ्लोरो कार्बन भी वातावरण को तेजी से प्रदूषित कर रही हो तथा भू-ताप वृद्धि की समस्या उत्पन्न हो रही है। भू-ताप वृद्धि के कारण हिमालय के ग्लेशियर संकुचित होते जा रहे हैं तथा समुद्र का जल स्तर बढ़ रहा है।

संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (यू0एन0ई0पी0) ने हाल ही में अपनी एक रिपोर्ट में बताया है कि दक्षिण एशिया में प्रदूषण के कारण आसमान ब्राउनहेज से आच्छादित हो गया है ।

इसके अतिरिक्त वायुमण्डल में क्लोरो फ्लोरो कार्बन के बढ़ने के कारण ओजोन छिद्र का आकार प्रतिवर्ष बढ़ता जा रहा है। ओजोन परत हमारे लिए सुरक्षा कवच का कार्य करती है और इसके नष्ट होने पर मनुष्यों में त्वचा कैंसर जैसी भयावह बीमारी के बढ़ने के आसार अधिक हो जाते हैं। वायु प्रदूषण से स्वास्थ्य तथा उत्पादकता पर पड़ने वाले हानिकारक प्रभाव की लागत बहुत अधिक है। इसके फलस्वरूप प्रतिवर्ष 30 लाख लोगों की मृत्यु हो जाती है ।

वायुमण्डल में उपस्थित विषैली गैसें वर्षा जल के साथ मिलकर अम्लीय वर्षा के रूप में धरातल पर गिरती है। इनका वनों तथा फसलों पर बुरा प्रभाव पड़ता है ।

ध्वनि प्रदूषण - संसार के लगभग 100 करोड़ के आस-पास वाहन हो गये हैं। यातायात के साधनों एवं कल कारखानों से भयंकर ध्वनि प्रदूषण हो रहा है। जिससे मनुष्य की श्रवण शक्ति पर ही प्रभाव नहीं पड़ता वरन् उसे मानसिक विकारों का भी सामना करना पड़ रहा है। शोर के कारण श्वसन गति, रक्तचाप और नाड़ी गति में परिवर्तन आ जाने से स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है ।

जल प्रदूषण की लागत - प्रतिवर्ष समुद्र में करोड़ों टन कूड़े कचरे के पहुँचने से विश्व की लगभग एक चौथाई कोरल रीफ नष्ट हो चुकी है। जिससे समुद्र खाद्य प्रणाली प्रभावित होने से पारिस्थितिकी तंत्र संकट में पड़ गया है। अनियन्त्रित औद्योगिक विकास के परिणामस्वरूप विशाक्त कचरे को नदियों में बहाते रहने से विश्व में स्वच्छ जल का संकट उत्पन्न हो गया है। जल प्रदूषण के कारण प्रतिवर्ष लगभग 20 लाख लोगों की मृत्यु हो जाती है तथा लाखों लोगों को कई प्रकार की बीमारियाँ जैसे हैजा, दस्त, आदि का सामना करना पड़ता है। प्रदूषित जल से पेय जल के योग्य बनाने हेतु सरकार को करोड़ों रुपये खर्च करने पड़ते हैं। इसके बावजूद कई क्षेत्रों में घरों में आपूर्ति किये जाने वाला जल पेय योग्य नहीं होता अतः लोगों को हजारों रुपये के वाटर फिल्टर लगाने पड़ते हैं तथा जल प्रदूषण से होने वाले रोगों के इलाज में रुपये खर्च करने पड़ते हैं ।

बड़े बाँधों का निर्माण - बड़ी नदियों पर बहुउद्देशीय परियोजनाओं के अन्तर्गत बड़े बाँधों का निर्माण किया जाता है। जिसका उद्देश्य मुख्यतः विद्युत शक्ति का उत्पादन बाढ़ पर, नियन्त्रण तथा नहरों द्वारा जल अल्पता वाले क्षेत्रों में जल पहुँचाना होता है। बड़े बाँधों के निर्माण से बाँधों के पीछे बड़े जलाशय वन जाने के कारण वनों का विशाल क्षेत्र जल मग्न हो जाता है। इसके अतिरिक्त इन क्षेत्रों में बसे लोगों का विस्थापित होना पड़ता है एवं जमीन एवं वनों पर अपने अधिकार को खोना पड़ता है इसके अतिरिक्त इन क्षेत्रों के भूकम्प के खतरे बढ़ जाते हैं। ये सभी पर्यावरणीय लागत ही है ।

निर्वनीकरण - बढ़ती जनसंख्या के लिए लकड़ी की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए, सड़कों तथा रेलों, बांधों, बढ़ते उद्योगों, आवास की बढ़ती माँग आदि के कारण वनों का बड़े पैमाने पर विनाश किया जा रहा है। वनों के कटान का जलवायु, भूमि कटाव पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। बाढ़ों की बारम्बारता एवं भयावहता बढ़ गयी है। वनों के कटाव के कारण आर्थिक संवृद्धि के भविष्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। उत्तराखण्ड में 16 जून, 2013 को आने वाली त्रासदी में कहीं न कहीं मनुष्य की भूमिका भी है ।

ई-वेस्ट - विश्व में प्लास्टिक एवं पॉलीथिन की पहले से ही स्वीकृति बढ़ने से पर्यावरण संकट में था । अब साइबर क्रान्ति के कारण एक नई समस्या जनित हो रही है जो निकट भविष्य में भयावह रूप् ले लेगी । आज के कम्प्यूटरीकरण के युग प्रत्येक हाथ में लैपटॉप, पॉमटॉप, टेबलैट, मोबाइल नजर आते हैं

और यह आवश्यकता से अधिक प्रतिष्ठा के सूचक बन गये हैं। इस साइबर क्रान्ति के कारण ई-वेस्ट यानि इलेक्ट्रानिक कचरा एवं सांस्कृतिक प्रदूषण नई समस्याओं के रूप में मूँह बाये खड़े हैं। ई-वेस्ट से फास्फोरस, कैडमियम व मरकरी जैसी खतरनाक धातुओं को असावधानीपूर्वक निकालने से एवं इनके विकिरण से नयूरोसिस एवं कैंसर के रोगियों की संख्या में तीव्रतर वृद्धि हो रही है ।

कृषि प्रदूषण - कृषि में अधिक उत्पादन की प्राप्ति हेतु रासायनिक उर्वरकों का बड़े पैमाने पर प्रयोग किया जा रहा है। जिससे भूमि की प्राकृतिक उर्वरता धीरे-धीरे नष्ट होती जा रही है। भारत के उत्तर पश्चिमी क्षेत्र जो हरित क्रान्ति के गढ़ थे आज भूमि प्रदूषण की नयी समस्या का सामना कर रहें हैं। कुछ क्षेत्रों में रासायनिक खादों का इस कदर प्रयोग किया गया कि भूमिगत जल तक प्रदूषित हो गया है। पंजाब राज्य का भटिंडा जिला आज इसी कारण कैंसर जिले के रूप में जाना जाता है। इसी प्रकार जिन क्षेत्रों में बहुत अधिक सिंचाई की जाती है वहाँ की भूमि पर कोशिका क्रिया के कारण नमक की परत फैल गयी है। नहरीय क्षेत्रों के निकटवर्ती भूमि इस प्रकार धीरे-धीरे बंजर और बेकार होती जा रही है ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आर्थिक संवृद्धि की पर्यावरणीय लागत बहुत अधिक है। मानव विकास हेतु आर्थिक संवृद्धि की आवश्यक है तथा पर्यावरण की गुणवत्ता थी । अतः वर्तमान समय में प्रश्न उठने लग गया है कि आर्थिक संवृद्धि की सीमा क्या है ?

11.4 आर्थिक संवृद्धि एवं पर्यावरण संबंध के सैद्धान्तिक पहलू (Theoretical Aspects of the Relationship Between Economic Growth and the Environment)

विकास और पर्यावरण एक दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि पूरक हैं। एक संतुलित एवं स्वच्छ पर्यावरण के माध्यम से ही विकास जारी रह सकते हैं और मानव जीवन उच्च स्तर पर पहुँच सकता है । नोवेल पुरस्कार विजेता अर्थशास्त्री कुजनेट्स ने विभिन्न देशों में पर्यावरण प्रदूषण के आँकड़ों तथा प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय के मध्य संबंध स्थापित किया । यह संबंध उल्टे ष्न्ष् आकार के रूप में प्रदर्शित किया जाता है। इसे पर्यावरण कुजनेट्स वक्र भी कहते हैं ।

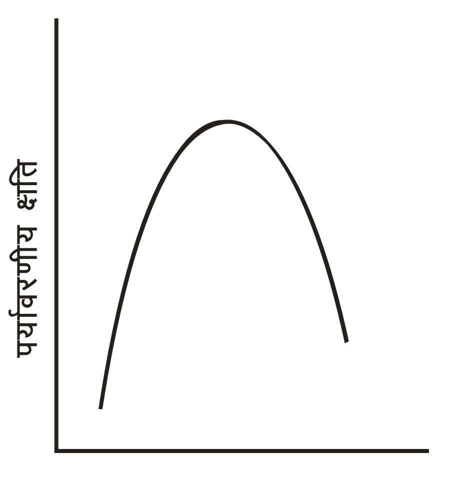

चित्र 11.1 पर्यावरण कुजनेट्स वक्र

उपर्युक्त चित्र प्रदर्शित करता है कि जैसे-जैसे प्रति व्यक्ति सकल घरेलु उत्पाद बढ़ता है पर्यावरणीय क्षति में भी वृद्धि होती है। परन्तु एक निश्चित बिन्दू के उपरान्त प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद बढ़ता है पर्यावरणीय क्षति में भी वृद्धि होती है परन्तु एक निश्चित बिन्दू के उपरान्त प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद के होने वाली वृद्धि के साथ पर्यावरणीय क्षति में कमी आने लगती है। आय के अति निम्न स्तर पर प्रदूषण का कम होना उतना महत्वपूर्ण नहीं होता तथा प्रदूषण का स्तर भी निम्न होता है लोग अपनी सीमित आय द्वारा मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति में लगे रहते हैं। आय के एक निश्चित स्तर प्राप्त कर लेने के पश्चात् लोग की ओर प्रभावित और आकर्षित होते हैं तथा पर्यावरणीय क्षति बढ़ने लगती है। एक निश्चित बिन्दू के पश्चात् प्रदूषण नियन्त्रण पर ध्यान दिया जाने लगता है क्योंकि लोग उच्च गुणवत्ता वाला जीवन चाहते हैं तथा इस तरह पर्यावरण की गुणवत्ता सुधरने लगती है ।

कुजनेट्स वक्र से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विकास के आरम्भिक क्षेत्र में पर्यावरण प्रदूषण स्वाभाविक है और एक निश्चित स्तर प्राप्त कर लेने के पश्चात् ही पर्यावरण का संरक्षण और सुधार संभव है। अतः पर्यावरण एवं आर्थिक विकास नीतियों का आधार यह होना चाहिए कि ये एक दूसरे के पूरक बने रहें ।

11.5 निष्कर्ष (Conclusion)

जल सुरक्षा भारत के साथ-साथ अन्य सभी देशों में महत्वपूर्ण एवं जोरदार मुद्दे के रूप में उभर रहा है। भारत के लगभग सभी शहरों में कृषि विकास, औद्योगिकरण और शहरीकरण के सतत् प्रभावों के कारण जल की कमी का सामना करना पड़ रहा है इसके लिए उपलब्ध जलीय संसाधनों के संरक्षण की आवश्यकता है तथा इनके विवेकपूर्ण उपयोग की जरुरत है। यह संरक्षण, विवेकपूर्ण उपयोग एवं जल का पुनर्चक्रण हेतु लोगों की सहभागिता अति आवश्यक है। बिना जन सहभागिता के यह प्रयास सफल नहीं हो पायेंगे । जल अमूल्य है एवं इस अमूल्य संसाधन का संरक्षण एवं प्रबंधन वैयक्तिक, सामुदायिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर किया जाना चाहिए । संसाधनों का न्यायिक तथा सर्वाधिक प्रयोग इस ढंग से होना चाहिए कि आर्थिक संवृद्धि की गति को अन्तर-पीढ़ी की समानता के साथ बनाये रखा जा सके । आर्थिक विकास संविकास अथवा धारणीय विकास के रूप में होना चाहिए । धारणीय विकास आर्थिक विकास की उस प्रक्रिया की ओर संकेत करता है जिसका लक्ष्य वर्तमान तथा भविष्य की पीढ़ियों की जीवन की गुणवत्ता को बनाये रखना है। इसमें पर्यावरण को हानि पहुँचाये बिना विकास पर बल दिया जाता है ।

11.6 शब्दावली (Glossary)

- ड्रिप इरीगेशन (टपक सिंचाई) - छिद्र वाले पाइपों के जाल द्वारा इस प्रकार की सिंचाई किया जाना कि जल बूँद-बूँद कर फसलों की जड़ों तक पहुँचे ।
- फर्टीगेशन - उर्वरकों को सिंचाई के जल में घोलकर छिड़काव अथवा टपक विधि द्वारा सिंचाई का किया जाना ।
- वैष्वीक उष्णता - वैश्विक तापमान में वातावरण प्रदूषण के कारण वृद्धि होना।
- वॉटर ब्लूम - जब जल में पोषणीय पदार्थों की उपलब्धता बढ़ जाती है तो अल्गी बहुत तेजी से बढ़ती है तथा अल्गी की अधिकता के कारण जल हरे रंग में तब्दील हो जाता है। इसके ही वाटर ब्लूम कहते हैं ।
- ग्रेवाटर - घरों में स्नानागार, रसोई में बर्तन आदि साफ करने अथवा बाथ टब के व्यर्थ जल को ग्रेवाटर कहते हैं।

- तापीय प्रदूषण - ताप विद्युत ग्रहों एवं उद्योग धंधों से निःसृत उष्ण जल को तालाबों अथवा नदियों में छोड़े जाने से इनके जल के तापमान में वृद्धि हो जाती है इसे ही तापीय प्रदूषण कहते हैं।
- PH मान - जल की अम्लीयता अथवा क्षारीयता का मापक है इसका प्रसार 0 से 14 तक होता है। उदासीन जल का मान 7 अम्लीय जल का 7 से कम तथा क्षारीय जल का 7 से अधिक होता है ।

11.7 लघुउत्तरीय प्रश्न (Short-Answer Questions)

धारणीय विकास से आप क्या समझते हैं?

उत्तर - धारणीय विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके परिणामस्वरूप प्रति व्यक्ति वास्तविक आय तथा आर्थिक कल्याण दोनों में इस ढंग से वृद्धि होने की प्रवृत्ति होती है कि जिससे भावी पीढ़ियों की अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने की अपनी क्षमता में कमी न होने पाये ।

आर्थिक संवृद्धि से आप क्या समझते हैं ?

उत्तर - आर्थिक संवृद्धि एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा दीर्घकाल में प्रति व्यक्ति वास्तविक आय में वृद्धि होती है ।

11.8 निबन्धात्मक प्रश्न (Essay-Type Questions)

1) आर्थिक संवृद्धि की पर्यावरणीय लागत से आप क्या समझते हैं? इसके प्रमुख आयामों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2) आर्थिक संवृद्धि और पर्यावरण के बीच संबंध के सैद्धान्तिक पहलुओं की व्याख्या कीजिए। विभिन्न सिद्धांतों के आधार पर स्पष्ट कीजिए।
3) Thomas Robert Malthus के जनसंख्या सिद्धांत के आलोक में संसाधनों की सीमितता एवं पर्यावरणीय संकट का विश्लेषण कीजिए।
4) पर्यावरणीय कुज़नेट्स वक्र (Environmental Kuznets Curve) की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए तथा आर्थिक विकास के विभिन्न चरणों में पर्यावरण की स्थिति का विश्लेषण कीजिए।
5) सतत विकास (Sustainable Development) की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए बताइए कि किस प्रकार आर्थिक संवृद्धि और पर्यावरण संरक्षण में संतुलन स्थापित किया जा सकता है।

11.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची (Bibliography)

- जैन टी0 आर0, वी0 के0 आहेरी, वी0 डी0 मांझी, ‘‘भारत में आर्थिक विकास एवं नीति ।’’
- जैन टी0 आर0, ओ0 पी0 खन्नर, विजय वत्रा तथा एस0 के0 भाटिया, ‘‘विकास एवं पर्यावरण संबंधी अर्थशास्त्र तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ।’’
- सिन्हा मेघा, 2002, ‘‘पर्यावरण और पारिस्थितिकीय तंत्र’’ वन्दना पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली-02 ।
- त्रिपाठी, रेनू तथा डॉ0 अर्पणा त्रिपाठी, 2011 ‘‘पर्यावरण भूगोल,’’ ओमेगा पब्लिकेशन दिल्ली-02।
- वर्मा जी0 एस0, 2005 ‘‘पर्यावरण अध्ययन’’ इण्टरनेशनल पब्लिशिंग हाउस, मेरठ ।

इकाई – 12 पारिस्थितिकी तंत्र एवं अध्ययन के आर्थिक निहितार्थ
Ecosystem and economic implications of the study

12.1 प्रस्तावना
12.2 उद्देश्य
12.3 पारिस्थितिकी का अर्थ एवं तात्पर्य
12.4 पारिस्थितिकी तंत्र की अवधारणा
12.5 पारिस्थितिकी तंत्र अध्ययन एवं आर्थिक निहितार्थ
12.6 सारांश
12.7 पारिभाषिक शब्दावली
12.8 लघु उत्तरीय प्रश्न
12.9 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
12.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

12.1 प्रस्तावना

यह अध्याय **पारिस्थितिकी (Ecology)**, **पारिस्थितिकी तंत्र (Ecosystem)** तथा **संविकास (Evolution)** जैसी महत्वपूर्ण अवधारणाओं को समझने के लिए समर्पित है। पारिस्थितिकी का वैज्ञानिक अध्ययन सर्वप्रथम जर्मन वैज्ञानिक Ernst Haeckel ने 1866 में प्रस्तुत किया, जिसमें जीवों और उनके पर्यावरण के पारस्परिक संबंधों का विश्लेषण किया गया।

इस अध्याय में हम समझेंगे कि पारिस्थितिकी क्या है और यह किस प्रकार जीवों तथा उनके पर्यावरण के बीच संतुलन को स्पष्ट करती है। साथ ही, पारिस्थितिकी तंत्र की अवधारणा को विस्तार से पढ़ेंगे, जिसमें जैविक (Biotic) और अजैविक (Abiotic) घटकों की भूमिका को समझाया जाएगा।

इसके अतिरिक्त, पारिस्थितिकी तंत्र के मुख्य प्रकार—स्थलीय (Terrestrial), जलीय (Aquatic) तथा कृत्रिम (Artificial) पारिस्थितिकी तंत्र—का अध्ययन किया जाएगा, जिससे यह स्पष्ट होगा कि विभिन्न पर्यावरणीय परिस्थितियों में जीवन किस प्रकार संगठित और संचालित होता है।
अध्याय का एक महत्वपूर्ण भाग पारिस्थितिकी का आर्थिक महत्व है, जिसमें प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण, कृषि, उद्योग, जल प्रबंधन तथा सतत विकास में इसकी भूमिका को समझाया जाएगा।

अंततः, हम संविकास (Evolution) की अवधारणा का अध्ययन करेंगे, जो यह बताती है कि समय के साथ जीवों में किस प्रकार परिवर्तन होते हैं और वे अपने पर्यावरण के अनुरूप कैसे ढलते हैं। इस संदर्भ में Charles Darwin द्वारा प्रतिपादित प्राकृतिक चयन का सिद्धांत विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

इस प्रकार, यह अध्याय विद्यार्थियों को पर्यावरण, जीव-जगत और विकास की प्रक्रियाओं के बीच गहरे संबंधों को समझने में सक्षम बनाएगा तथा वर्तमान पर्यावरणीय चुनौतियों के प्रति जागरूक दृष्टिकोण विकसित करेगा।

12.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के निम्न उद्देश्य हैं -

- पारिस्थितिकी एवं पारिस्थितिकी तंत्र की अवधारणा क्या है ?
- पारिस्थितिकी तंत्र के मुख्य प्रकार क्या हैं ?
- पारिस्थितिकी का आर्थिक महत्व क्या है ?
- संविकास की अवधारणा क्या है ?

12.3 पारिस्थितिकी का अर्थ एवं तात्पर्य

पारिस्थितिकी एक विशिष्ट विज्ञान है जिसके अन्तर्गत जीवों का उसके चतुर्दिक स्थित पर्यावरण में अन्तर्सम्बन्धों एवं क्रिया प्रतिक्रिया का अध्ययन किया जाता है । जर्मन वैज्ञानिक अन्र्स्ट हैकेल ने सर्वप्रथम सन् 1869 में श्म्बवसवहलश् शब्द का प्रयोग किया था। श्म्बवसवहलश् शब्दावली की उत्पत्ति ग्रीक भाषा के दो शब्दों श्पावेश् (इकोस) तथा श्स्वहवेश् (लोगस) शब्द से हुई है। श्पावेश् का अर्थ है आवास या निवास या घर तथा श्स्वहवेश् का अर्थ है अध्ययन । हैकेल ने जीवों और उसके चारों तरफ के पर्यावरण के साथ अन्तर्सम्बन्धों के अध्ययन को पारिस्थितिकी बताया था । ई0 पी0 ओडम महोदय ने पारिस्थितिकी की विस्तृत परिभाषा प्रस्तुत की थी । उनके अनुसार “पारिस्थितिकी, पारिस्थतिकी तंत्र की संरचना तथा कार्य का अध्ययन है।”

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि पारिस्थितिकी में दो बातों का अध्ययन किया जाता है । एक किसी क्षेत्र विशेष के भौतिक पर्यावरण के सन्दर्भ में जीवों का अध्ययन तथा दूसरा एक समुदाय के विभिन्न जीवों के मध्य आपसी अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन । इस रूप में पारिस्थितिकी के दो प्रकार बताये जा सकते हैं।

(1) स्वपारिस्थितिकी तथा

(2) समुदाय पारिस्थितिकी

स्वपारिस्थितिकी के अन्तर्गत एकाकी जाति के पारिस्थितिकी संबंधों का अध्ययन किया जाता है । जबकि समुदाय पारिस्थितिकी के अन्तर्गत किसी पारिस्थितिक तंत्र में सम्पूर्ण समुदाय का उनके आवास के सन्दर्भ में अध्ययन किया जाता है।

इसी प्रकार जैविक तत्वों के स्वरूप के आधार पर पारिस्थितिकी के तीन प्रकार हो सकते हैं - पादप पारिस्थितिकी, जन्तु पारिस्थितिकी एवं मानव पारिस्थितिकी। आवास के आधार पर भी पारिस्थितिकी के कई प्रकार हो सकते हैं यथा स्वच्छ जल पारिस्थितिकी, सागरीय जल पारिस्थितिकी, पार्थिव पारिस्थितिकी इत्यादि । इन पारिस्थितिकी को मध्यम एवं सुक्ष्म स्तर पर कई प्रकार में बाँटा जा सकता है। जैसे पार्थिव पारिस्थितिकी को वन पारिस्थितिकी, क्षेत्र पारिस्थितिकी, नगरीय पारिस्थितिकी इत्यादि भागों में बाँटा जा सकता है।

बीसवीं शताब्दी में तीव्र जनसंख्या वृद्धि, औद्योगीकरण, नगरीकरण, मानव द्वारा संसाधनों का अंधाधुंध दोहन एवं उससे उत्पन्न पर्यावरण असंतुलन एवं पर्यावरण प्रदूषण के बढ़ते स्तर के चलते पारिस्थितिकी के विषय क्षेत्र में काफी विस्तार हुआ है । यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि पारिस्थितिकी अब जीव विज्ञान की एक शाखा न रहकर एक दृष्टिकोण बन गया है।

12.4 पारिस्थितिकी तंत्र की अवधारणा

किसी पर्यावरण में जैविक एवं अजैविक तत्वों की पारस्परिक अन्तक्रिया एवं उनके समाकलन से उत्पन्न तंत्र को पारिस्थितिकी तंत्र कहते हैं। पारिस्थितिकी तंत्र शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग जर्मन वनस्पतिशास्त्री ए0 जी0 टांसले ने सन् 1935 में किया था । टांसले के अनुसार, ‘‘पारिस्थितिकी तंत्र भौतिक तंत्रों का एक विशिष्ट प्रकार है और इसकी रचना जैविक तथा अजैविक घटकों से होती है । यह अपेक्षाकृत स्थिर, समस्थिति में होता है । यह खुला तंत्र है तथा विभिन्न आकार एवं किस्मों का होता है।

आर0 एल0 लिण्डमैन के अनुसार, ‘‘पारिस्थितिकी तंत्र शब्द का प्रयोग किसी भी परिमाण में किसी स्थान समय इकाई के अन्तर्गत भौतिक, रासायनिक, जैविक प्रक्रमों से निर्मित तंत्र के लिए किया जाता है ।’’

सन् 1971 में ई0 पी0 ओडम ने पारितंत्र के सन्दर्भ में लिखा है, ‘‘जीवित जीव तथा उनके अजीवित पर्यावरण एक दूसरे से अविभाज्य रूप से सम्बन्धित हैं तथा ये एक दूसरे के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं। कोई भी इकाई, जो किसी निश्चित क्षेत्र के समस्त जीवों के समुदाय को सम्मिलित करती है तथा भौतिक पर्यावरण के साथ इस तरह पारस्परिक क्रिया करती है कि तंत्र के भीतर ऊर्जा प्रवाह द्वारा सुनिश्चित पोषण संरचना, जैविक विविधता तथा खनिज चक्र का अविर्भाव होता है, पारितंत्र कहलाती है।

ऊपर दी गयी परिभाषाओं से स्पष्ट है कि परितंत्र के घटकों में जैविक तत्व तथा निवास स्थान महत्वपूर्ण होते हैं। इन दोनों के मध्य निरन्तर क्रिया प्रतिक्रिया चलती रहती है । ये क्रिया प्रतिक्रिया, ऊर्जा प्रवाह तथा पोषक पदार्थों के चक्रण तथा पुनर्चक्रण के रूप में होती है। परितंत्र में प्रत्येक जीव की अपनी एक विशिष्ट भूमिका होती है तथा प्रत्येक जैव समुदाय पदार्थों के विनियम तथा ऊर्जा प्रवाह द्वारा संतुलन बनाये रखने में एक विशिष्ट भूमिका होती है, जिसे निश कहते हैं।

12.4.1 पारिस्थितिकी तंत्र की विशेषतायें - पारिस्थितिकी तंत्र की निम्नलिखित विषेषतायें होती हैं ।

- पारिस्थितिकी तंत्र सभी जैविक तत्वों एवं उसके भौतिक परिवेश का सकल योग होता है।

- पारितंत्र की सरंचना जैविक, अजैविक तथा ऊर्जा घटकों द्वारा होती है।
- पारिस्थितिक तंत्र एक खुला तंत्र होता है जिसमें ऊर्जा तथा पोषक तत्वों का सतत आगम तथा निर्गम होता रहता है।
- पारिस्थितिकी तंत्र विभिन्न प्रकार की ऊर्जा द्वारा चलित होता है परन्तु सौर्यिक ऊर्जा सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है।
- पारिस्थितिकी तंत्र एक कार्यशील इकाई होती है जिसके अन्तर्गत जैविक तथा अजैविक संघटक श्रृंखलाबद्ध चक्रीय क्रिया विधियों के माध्यम से घनिष्ट रूप से एक दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं।
- पारिस्थितिकी तंत्र की उत्पादकता ऊर्जा की मात्रा की सुलभता पर निर्भर करती है। यह किसी क्षेत्र में प्रति समय इकाई में जैविक पदार्थों की वृद्धि दर की द्योतक होती है।
- पारितंत्र स्वनिर्मित तथा स्वनियंत्रित होता है यह संरचित तथा सुसंगठित तंत्र होता है।
- पारिस्थितिकीय तंत्र के विकास के विभिन्न अनुक्रम होते हैं। अनुक्रमों की संक्रमणीय अवस्थाओं को सेरे कहते हैं।
- पारिस्थितिकी तंत्र इतना जटिल है कि इसका ब्लैक बाक्स मॉडल के सन्दर्भ में अध्ययन किया जाता है । ब्लैक बॉक्स मॉडल का तात्पर्य है जिसके अन्तर्गत आन्तरिक जटिलताओं को अपारदर्शक मान लिया जाता है।
- पारिस्थितिकी तंत्र किसी भी आकार का हो सकता है । इसका आकार जल की एक बूंद से लेकर सम्पूर्ण पृथ्वी तक हो सकता है।

12.4.2 पारिस्थितिकी तंत्र के प्रकार - उपर्युक्त विवरण एवं विशेषताओं से यह तो स्पष्ट हो गया कि पारिस्थितिकी तंत्र में एक भौतिक परिवेश में जैविक एवं अजैविक तत्वों के अन्तर्सम्बन्ध एवं क्रिया प्रतिक्रिया को सम्मिलित किया जाता है । पारिस्थितिकी तंत्र को अध्ययन की सुविधा हेतु निवास्य क्षेत्र, क्षेत्रीय विस्तार, ऊर्जा के स्रोत एवं स्तर, स्थिरता, उपयोग एवं विकास की अवस्था के आधार पर कई प्रकारों में बाँटा जा सकता है।

निवास्य क्षेत्र के आधार पर वर्गीकरण, निवास्य क्षेत्र की भौतिक दशायें, उस क्षेत्र में पाये जाने वाले जैविक समुदाय की प्रकृति एवं विशेषतायें निर्धारित करती हैं। जो कि अन्य क्षेत्र में पाये जाने वाले जैविक समुदाय से भिन्न होती हैं। ये विशेषतायें जैविक समुदाय की स्थानीय विशेषतायें होती हैं। इस आधार पर पारिस्थितिकी तंत्र को दो प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

(1) स्थलीय पारिस्थितिकी तंत्र,

(2) जलीय पारिस्थितिकी तंत्र ।

स्थलीय पारिस्थितिकी तंत्र तथा जलीय पारिस्थितिकी तंत्र को पुनः अन्य भौतिक, विषेषताओं के आधार पर कई प्रकारों में बाँटा जा सकता है । जैसे स्थलीय पारिस्थितिकी तंत्र को, वन पारिस्थितिकी तंत्र, घास प्रदेश पारिस्थितिकी तंत्र, पर्वत पार्थिव पारिस्थितिकी को वन पारिस्थितिकी, क्षेत्र पारिस्थितिकी, नगरीय पारिस्थितिकी इत्यादि भागों में बाँटा जा सकता है।

बीसवीं शताब्दी में तीव्र जनसंख्या वृद्धि, औद्योगीकरण, नगरीकरण, मानव द्वारा संसाधनों का अंधाधुंध दोहन एवं उससे उत्पन्न पर्यावरण असंतुलन एवं पर्यावरण प्रदूषण के बढ़ते स्तर के चलते पारिस्थितिकी के विषय क्षेत्र में काफी विस्तार हुआ है । यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि पारिस्थितिकी अब जीव विज्ञान की एक शाखा न रहकर एक दृष्टिकोण बन गया है।

12.4 पारिस्थितिकी तंत्र की अवधारणा

किसी पर्यावरण में जैविक एवं अजैविक तत्वों की पारस्परिक अन्तक्रिया एवं उनके समाकलन से उत्पन्न तंत्र को पारिस्थितिकी तंत्र कहते हैं। पारिस्थितिकी तंत्र शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग जर्मन वनस्पतिशास्त्री ए0 जी0 टांसले ने सन् 1935 में किया था । टांसले के अनुसार, ‘‘पारिस्थितिकी तंत्र भौतिक तंत्रों का एक विशिष्ट

प्रकार है और इसकी रचना जैविक तथा अजैविक घटकों से होती है । यह अपेक्षाकृत स्थिर, समस्थिति में होता है । यह खुला तंत्र है तथा विभिन्न आकार एवं किस्मों का होता है।

आर0 एल0 लिण्डमैन के अनुसार, ‘‘पारिस्थितिकी तंत्र शब्द का प्रयोग किसी भी परिमाण में किसी स्थान समय इकाई के अन्तर्गत भौतिक, रासायनिक, जैविक प्रक्रमों से निर्मित तंत्र के लिए किया जाता है ।’’

सन् 1971 में ई0 पी0 ओडम ने पारितंत्र के सन्दर्भ में लिखा है, ‘‘जीवित जीव तथा उनके अजीवित पर्यावरण एक दूसरे से अविभाज्य रूप से सम्बन्धित हैं तथा ये एक दूसरे के साथ क्रिया-प्रतिक्रिया करते हैं। कोई भी इकाई, जो किसी निश्चित क्षेत्र के समस्त जीवों के समुदाय को सम्मिलित करती है तथा भौतिक पर्यावरण के साथ इस तरह पारस्परिक क्रिया करती है कि तंत्र के भीतर ऊर्जा प्रवाह द्वारा सुनिश्चित पोषण संरचना, जैविक विविधता तथा खनिज चक्र का अविर्भाव होता है, पारितंत्र कहलाती है।

ऊपर दी गयी परिभाषाओं से स्पष्ट है कि परितंत्र के घटकों में जैविक तत्व तथा निवास स्थान महत्वपूर्ण होते हैं। इन दोनों के मध्य निरन्तर क्रिया प्रतिक्रिया चलती रहती है । ये क्रिया प्रतिक्रिया, ऊर्जा प्रवाह तथा पोषक पदार्थों के चक्रण तथा पुनर्चक्रण के रूप में होती है। परितंत्र में प्रत्येक जीव की अपनी एक विशिष्ट भूमिका होती है तथा प्रत्येक जैव समुदाय पदार्थों के विनियम तथा ऊर्जा प्रवाह द्वारा संतुलन बनाये रखने में एक विशिष्ट भूमिका होती है, जिसे निश कहते हैं।

12.4.1 पारिस्थितिकी तंत्र की विशेषतायें - पारिस्थितिकी तंत्र की निम्नलिखित विषेषतायें होती हैं ।

- पारिस्थितिकी तंत्र सभी जैविक तत्वों एवं उसके भौतिक परिवेश का सकल योग होता है।
- पारितंत्र की सरंचना जैविक, अजैविक तथा ऊर्जा घटकों द्वारा होती है।
- पारिस्थितिक तंत्र एक खुला तंत्र होता है जिसमें ऊर्जा तथा पोषक तत्वों का सतत आगम तथा निर्गम होता रहता है।
- पारिस्थितिकी तंत्र विभिन्न प्रकार की ऊर्जा द्वारा चलित होता है परन्तु सौर्यिक ऊर्जा सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है।
- पारिस्थितिकी तंत्र एक कार्यशील इकाई होती है जिसके अन्तर्गत जैविक तथा अजैविक संघटक श्रृंखलाबद्ध चक्रीय क्रिया विधियों के माध्यम से घनिष्ट रूप से एक दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं।
- पारिस्थितिकी तंत्र की उत्पादकता ऊर्जा की मात्रा की सुलभता पर निर्भर करती है। यह किसी क्षेत्र में प्रति समय इकाई में जैविक पदार्थों की वृद्धि दर की द्योतक होती है।
- पारितंत्र स्वनिर्मित तथा स्वनियंत्रित होता है यह संरचित तथा सुसंगठित तंत्र होता है।
- पारिस्थितिकीय तंत्र के विकास के विभिन्न अनुक्रम होते हैं। अनुक्रमों की संक्रमणीय अवस्थाओं को सेरे कहते हैं।
- पारिस्थितिकी तंत्र इतना जटिल है कि इसका ब्लैक बाक्स मॉडल के सन्दर्भ में अध्ययन किया जाता है । ब्लैक बॉक्स मॉडल का तात्पर्य है जिसके अन्तर्गत आन्तरिक जटिलताओं को अपारदर्शक मान लिया जाता है।
- पारिस्थितिकी तंत्र किसी भी आकार का हो सकता है । इसका आकार जल की एक बूंद से लेकर सम्पूर्ण पृथ्वी तक हो सकता है।

12.4.2 पारिस्थितिकी तंत्र के प्रकार - उपर्युक्त विवरण एवं विशेषताओं से यह तो स्पष्ट हो गया कि पारिस्थितिकी तंत्र में एक भौतिक परिवेश में जैविक एवं अजैविक तत्वों के अन्तर्सम्बन्ध एवं क्रिया प्रतिक्रिया को सम्मिलित किया जाता है । पारिस्थितिकी तंत्र को अध्ययन की सुविधा हेतु निवास्य क्षेत्र, क्षेत्रीय विस्तार, ऊर्जा के स्रोत एवं स्तर, स्थिरता, उपयोग एवं विकास की अवस्था के आधार पर कई प्रकारों में बाँटा जा सकता है।

निवास्य क्षेत्र के आधार पर वर्गीकरण, निवास्य क्षेत्र की भौतिक दशायें, उस क्षेत्र में पाये जाने वाले जैविक समुदाय की प्रकृति एवं विशेषतायें निर्धारित करती हैं। जो कि अन्य क्षेत्र में पाये जाने वाले जैविक समुदाय से भिन्न होती हैं। ये विशेषतायें जैविक समुदाय की स्थानीय विशेषतायें होती हैं। इस आधार पर पारिस्थितिकी तंत्र को दो प्रमुख श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

(1) स्थलीय पारिस्थितिकी तंत्र,

(2) जलीय पारिस्थितिकी तंत्र ।

स्थलीय पारिस्थितिकी तंत्र तथा जलीय पारिस्थितिकी तंत्र को पुनः अन्य भौतिक, विषेषताओं के आधार पर कई प्रकारों में बाँटा जा सकता है । जैसे स्थलीय पारिस्थितिकी तंत्र को, वन पारिस्थितिकी तंत्र, घास प्रदेश पारिस्थितिकी तंत्र, पर्वत पारिस्थितिकी तंत्र, मरुस्थल पारिस्थितिकी तंत्र इत्यादि भागों में बाँटा जा सकता है। अन्य सुक्ष्म विशेषताओं के आधार पर इन उप प्रकारों को पुनः कई लघु प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। इसी प्रकार जलीय पारिस्थितिकी तंत्र को स्वच्छ जल पारस्थितिकी तंत्र, समुद्री जल पारिस्थितिकी तंत्र में विभाजित किया जा सकता है । स्वच्छ जल पारिस्थितिकी तंत्र को नदी पारिस्थितिकी तंत्र, तालाब पारिस्थितिकी तंत्र, झील पारिस्थितिकी तंत्र, दलदल पारिस्थितिकीय तंत्र आदि भागों में बाँटा जा सकता है।

स्थिरता के आधार पर वर्गीकरण - स्थिरता के आधार पर पारिस्थितिकीय तंत्र को दो भागों में बाँटा जा सकता है - स्थायी पारिस्थितिकी तंत्र, अस्थायी पारिस्थितिकीय तंत्र ।

1-स्थायी पारिस्थितिकी तंत्र - इस प्रकार के पारिस्थितिकी तंत्र में ऊर्जा तथा पदार्थों के निवेश और निर्गम में संतुलन पाया जाता है । वन पारिस्थितिकी तंत्र, समुद्री पारिस्थितिकी तंत्र आदि इसके अन्तर्गत आते हैं।

2-अस्थायी पारिस्थितिकी तंत्र - ऐसे पारिस्थितिकी तंत्र में पूर्ण स्थिरता नहीं पायी जाती है तथा यह समय के साथ घटती बढ़ती रहती है। तालाब या नदी को स्वच्छ जल पारिस्थितिकी तंत्र, कृषि पारिस्थतिकी तंत्र इसके उदाहरण कहे जा सकते हैं।

12.4.3 पारिस्थितिकी तंत्र के संघटक - पारिस्थितिकी तंत्र की संरचना दो संघटकों से होती है - अजैविक अथवा भौतिक संघटक, जैविक संघटक ।

अजैविक संघटक- भौतिक या अजैविक संघटक के अन्तर्गत स्थल, मृदा, जल, वायु तथा उनके विभिन्न पक्षों को सम्मिलित करते हैं। अजैविक संघटकों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है - अकार्बनिक तत्व, कार्बनिक तत्व तथा जलवायविक तत्व। अकार्बनिक तत्वों के अन्तर्गत सल्फर, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन, फासफोरस आदि तत्वों को सम्मिलित किया जाता है । इन सब पोषक तत्वों का परितन्त्र में चक्रण होता रहता है जिस कारण ये सभी तंत्र को उपलब्ध रहते हैं । मुख्य कार्बनिक पदार्थ कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन तथा लिपिड है । जीवों की मृत्यु के पश्चात् ये कार्बनिक पदार्थ पर्यावरण में मिल जाते हैं। इनका अपघटन होने से ये अकार्बनिक पदार्थों में तब्दील हो जाते हैं । इस प्रकार पारितंत्र के अजैविक और जैविक तत्व एक दूसरे से सम्बन्धित एवं जूड़े हुए रहते हैं। जलवायविक तत्वों के अन्तर्गत प्रकाश, जल, वर्षा, आर्द्रता, तापमान आदि सम्मिलित किये जाते हैं। जलवायु पौधों तथा प्राणियों के वितरण को नियन्त्रित करती है।

जैविक संघटक - जैविक संघटक के अन्तर्गत वनस्पतियों, जन्तुओं तथा सूक्ष्म जीवों को शामिल किया जाता है । पारिस्थितिकी तंत्र के जैविक तत्व आपस में संबंधित होते हैं और एक दूसरे से जरुरी पोषण प्राप्त करते हैं। सभी जैविक घटकों को निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

(1) स्वपोषी - इनको उत्पादक भी कहते हैं । इसके अन्तर्गत पौधों एवं वनस्पति जगत को सम्मिलित किया जाता है जो सूर्य प्रकाश तथा अकार्बनिक पदार्थों का उपयोग करके प्रकाश संश्लेषण क्रिया द्वारा अपना आहार

स्वयं निर्मित करते हैं। प्रकाश संश्लेषण में सुक्ष्म हरे पौधे, नीले हरे शैवाल, प्रकाश संश्लेषी जीवाणु, कीमोसिन्थेटिक सूक्ष्मजीव आदि सभी पारितंत्र के स्वपोषी घटक हैं।

(2) परपोषी - यह अपना भोजन स्वयं नहीं बना पाते तथा भोजन के लिए दूसरों पर निर्भर रहते हैं। अतः इनको उपभोक्ता कहते हैं। इनके दो वर्ग होते हैं । सूक्ष्म उपभोक्ता तथा बृहत उपभोक्ता ।

सूक्ष्म उपभोक्ता - ये मुख्य रूप से वे जीव हैं जो मृत पौधों तथा जीवों से प्राप्त जैविक जटिल यौगिकों का अपघटन करते हैं। इनको अपघटक भी कहते हैं। इनमें मुख्य रूप से जीवाणु, कवक तथा एक्टिनोमाइटीज को सम्मिलित किया जाता हैं।

बृहत उपभोक्ता - इसमें वे उपभोक्ता आते हैं जो दूसरे जीवों का अपने आहार के रूप में उपयोग करते हैं। ये तीन प्रकार के होते हैं - शाकाहारी, मांसाहारी तथा सर्वाहारी । इन्हें क्रमशः प्राथमिक उपभोक्ता, द्वितीयक उपभोक्ता तथा तृतीयक उपभोक्ता कहते हैं। शाकाहारी भोजन के लिए हरे पौधे का उपयोग करते हैं जैसे - बकरी, गाय, खरगोश आदि । मांसाहारी अपने भोजन शाकाहारी तथा अन्य मांसाहारियों को मार कर प्राप्त करते हैं। जैसे शेर, चीता, सर्प इत्यादि । सर्वाहारी अपने भोजन के लिए हरे पौधों, शाकाहारियों, मांसाहारियों आदि का उपयोग करते हैं। जैसे कुत्ते, बिल्ली, मनुष्य आदि।

12.4.4 पारिस्थितिकी तंत्र की कार्यप्रणाली - पारिस्थितिकी तंत्र की कार्यप्रणाली ऊर्जा प्रवाह पर निर्भर करती है और पारिस्थितिकी तंत्र के सभी जीवित संघटक ऊर्जा प्रवाह पर ही निर्भर होते हैं। पारिस्थितिकी तंत्र में जैविक तथा अजैविक तत्वों के संचरण और वितरण में भी ऊर्जा प्रवाह का ही योगदान रहता है।

पारिस्थितिकीय तंत्र में प्रवेश करने वाला सौर्यिक प्रकाश ऊर्जा का मूल निवेश होता है। हरे पौधे द्वारा प्राप्त किये गये सौर्यिक विकिरण का अधिकांश भाग उष्मा ऊर्जा के रूप में परिवर्तित हो जाता है। जो वनस्पतियों के श्वसन प्रक्रिया के दौरान वायुमण्डल में क्षयित हो जाता है । पादप समुदाय द्वारा प्राप्त सौर्यिक विकिरण का अल्पांश ही प्रकाश संश्लेषण की प्रक्रिया में उपयोग होता है । पौधे सूर्य प्रकाश वायुमण्डल में उपस्थित कार्बन डाय आक्साइड भूमि से प्राप्त खनिज पदार्थ एवं पत्तियों में पाये जाने वाले हरित लवक के द्वारा ऊष्मा ऊर्जा को रासायनिक ऊर्जा में परिवर्तित कर देते हैं और यह मात्रा पौधों में संचित हो जाती है । इसलिए पौधों को उत्पादक कहा जाता है और ये पोषण स्तर के प्रथम स्तर पर आते हैं।

इस तरह पोषण स्तर एक में संचित रासायनिक ऊर्जा आहार श्रृंखला के पोषण स्तर दो के शाकाहारी जन्तुओं के लिए ऊर्जा का स्रोत बन जाती है । परन्तु पोषण स्तर एक अर्थात् वनस्पतियाँ उत्पन्न ऊर्जा का 10 प्रतिशत भाग ही उनमें संचित होता है और शेष भाग श्वसन प्रक्रिया के दौरान नियुक्त होकर वायुमण्डल में चला जाता है। अर्थात् शाकाहारी जन्तुओं को रासायनिक ऊर्जा का यह 10 प्रतिशत भाग ही खाद्य के रूप में प्राप्त होता है। इसी प्रकार खाद्य के रूप में प्राप्त ऊर्जा के ज्यादातर भाग को शाकाहारी जन्तु अपनी जैविक क्रियाओं में खर्च कर देते हैं और लगभग 10 प्रतिशत अपने शरीर में एकत्रित करते हैं। जब पोषण स्तर तीन के मांसाहारी जन्तु शाकाहारी जन्तुओं को मार कर खाते हैं तब एकत्रित ऊर्जा मांसाहारी प्राणियों को ऊर्जा के स्रोत के रूप में प्राप्त होती है । मांसाहारी जन्तुओं द्वारा प्राप्त की गयी रासायनिक ऊर्जा का एक बड़ा अंश उनके द्वारा श्वसन से निर्मुक्त हो जाता है क्योंकि पोषण स्तर तीन के जन्तुओं को कार्य करने के लिए (ऊतकों तथा तंतुओं का निर्माण, उनके संवर्धन, अपने शिकार को पकड़ने के लिए गतिशील होने आदि) ऊर्जा की आवश्यकता होती है। इस प्रकार हरे पौधों द्वारा उत्पन्न ऊर्जा का प्रवाह पारिस्थितिकी तंत्र के एक पोषण स्तर से अन्य क्रमिक पोषण स्तरों तक होता रहता है । ऊर्जा का प्रवाह एक दिशी होता है और प्रत्येक क्रमिक पोषण स्तर पर एकत्रित ऊर्जा की मात्रा कम होती जाती है।

इसके अतिरिक्त पारिस्थितिकी तंत्र में रासायनिक तत्वों का चक्रीय प्रवाह चलता रहता है, जिसका संचरण स्थल मंडल, जलमण्डल और वायुमंडल से होता हुआ पूरा होता है, भूजैव रसायन चक्र कहलाता है। यह एक ऐसी चक्रीय अवस्था में होता है और ये तत्व बदलकर पुनः अजैविक अवस्था में लौट आते हैं। परन्तु भूजैवरसायन चक्र एक अत्यन्त ही जटिल प्रक्रिया है।

12.4.5 पारिस्थितिकी तंत्र की उत्पादकता - पारिस्थितिकी तंत्र की उत्पादकता का तात्पर्य है एक इकाई क्षेत्र एवं समय में प्राथमिक उत्पादकों (वनस्पतियों) द्वारा उत्पन्न जैविक पदार्थों की मात्रा । दूसरे शब्दों में स्वपोषी पौधों द्वारा प्रति इकाई समयावधि में संचित ऊर्जा पारिस्थितिकी तंत्र की उत्पादकता होती है । पारिस्थितिकी तंत्र की उत्पादकता दो कारकों पर निर्भर करती है - सौर्यिक ऊर्जा की उपलब्धता एवं स्वपोषित पौधों की सौर्यिक ऊर्जा को रासायनिक ऊर्जा में बदलने की क्षमता ।

पारिस्थितिकीय तंत्र की उत्पादकता पारिस्थितिकी तंत्र की सुदृढ़ता एवं पारिस्थितिकी तंत्र के संतुलन का परिचायक हैं । पारिस्थितिकी संतुलन की उत्पादकता निम्न प्रकार की होती है -

(1) प्राथमिक उत्पादकता - स्वयंपोषी उत्पादकों द्वारा प्रकाश संष्लेषण द्वारा कार्बनिक पदार्थों का उत्पादन प्राथमिक उत्पादकता कहलाता है । अन्य शब्दों में कार्बनिक जैव भार में वृद्धि या ऊर्जा परिवर्तन की दर प्राथमिक उत्पादकता कहलाती है। यह दो प्रकार की होती है ।

सकल प्राथमिक उत्पादकता - इकाई समय में प्रकाष संष्लेषण द्वारा कुल जैविक पदार्थों के उत्पादन को सकल प्राथमिक उत्पादकता कहते हैं।

शुद्ध प्राथमिक उत्पादकता - स्मरणीय है कि स्वपोषित पौधों द्वारा श्वसन के समय प्राथमिक उत्पादन का कुछ भाग नष्ट हो जाता है । इस नष्ट भाग को शुद्ध प्राथमिक उत्पादकता में सम्मिलित नहीं करते हैं । इस प्रकार स्वपोषित पौधों द्वारा निश्चित समय में प्रकाश संश्लेषण द्वारा निर्मित कार्बनिक भोज्य पदार्थों का श्वसन प्रक्रिया के पश्चात् संचय शुद्ध प्राथमिक उत्पादकता कहलाती है ।

(2) द्वितीयक उत्पादकता - शाकाहारी जीव पौधों में संचित ऊर्जा का ही उपयोग करते हैं। इस संचित ऊर्जा के सूक्ष्म भाग को ही वे उत्पादकता में बदल पाते हैं। इस प्रकार उपभोक्ता स्तर पर संचित ऊर्जा द्वितीयक उत्पादकता कहलाती है।

(3) शुद्ध उत्पादकता - इकाई समय में शुद्ध प्राथमिक उत्पादन में से उपभोक्ताओं द्वारा प्रयुक्त कार्बनिक पदार्थों को घटाकर शेष बचे कार्बनिक पदार्थ को शुद्ध उत्पादकता कहते हैं । इसकी गणना महीनों या वर्षों के आधार पर की जाती है।

प्रति इकाई क्षेत्र में जीवित पदार्थों (पौधे, जन्तु तथा सूक्ष्म जीव) के सकल भार को जैव भार या बायोमास कहते हैं। तथा इसे शुष्क भार के रूप में प्रदर्शित करते हैं । वनस्पति तथा जन्तु जगत के जैव भार की अलग अलग गणना की जा सकती है । सबसे अधिक शुद्ध प्राथमिक उत्पादकता भूमध्य रेखीय वनों ;2000 हउध्उ2ध्लमंतद्ध में पायी जाती है। इसी प्रकार सबसे कम शुद्ध प्राथमिक उत्पादकता रेगिस्तानी, हिमाच्छादित एवं चट्टानी क्षेत्रों में (3 ग्रा0/मी2/वर्ग) पायी जाती है । समस्त पृथ्वी की औसत शुद्ध प्राथमिक उत्पादकता 320 ग्राम प्रति वर्ग मीटर प्रति वर्ष है।

12.5 पारिस्थितिकी तंत्र अध्ययन एवं आर्थिक निहितार्थ

अब तक के विवरण से स्पष्ट है पर्यावरण के सभी तत्व अर्थात् जैविक एवं अजैविक तत्व आपस में एक दिशी ऊर्जा प्रवाह एवं चक्रीय पोषक तत्वों के प्रवाह के माध्यम से एक दूसरे से सम्बद्ध रहते हैं और इसमें एक संतुलन बना रहता है । इसी प्रकार पारिस्थितिकी तंत्र में उत्पादन एवं उपभोग में संतुलन बना रहता है । इस तंत्र की जीवंतता गतिक संतुलन पर ही निर्भर करती है । प्रकृति की यह व्यवस्था अत्यन्त जटिल है तथा यह संतुलन स्व-नियामक प्रक्रिया के रूप में होता है तो एक सीमा तक तो प्रकृति द्वारा यह विचलन क्षीण हो जाता है । परन्तु एक सीमा से अधिक विचलन प्रकृति के संचालन, स्वसम्बर्धन की क्रिया में बाधक बन सकता है एवं विनाष का कारण बन सकता है।

वर्तमान समयक में मानव की बढ़ती जनसंख्या और उनकी बढ़ती आवश्यकतायें, तीव्र औद्योगीकरण, सांस्कृतिक भूदृश्य का तीव्र विस्तार, संसाधनों का अंधाधुंध दोहन, प्राकृतिक नियमों की अवहेलना इत्यादि के कारण असंतुलन की स्थिति उत्पन्न होती जा रही है तथा इसके भयावह परिणाम हमारे सामने परिलक्षित होना प्रारम्भ भी हो गये हैं। यदि समय रहते मानव नहीं चेता तो भविष्य की भयावह तस्वीर जल्द ही प्रकट हो जायेगी । वन विनाश इसी प्रकार के मानवीय हस्तक्षेप है जिसके कारण अनेक पर्यावरणीय कठिनाइयाँ

प्रकट हो रही है । पर्यावरण में बढ़ता प्रदूषण भी मानवीय हस्तक्षेप का ही परिणाम् है । आधुनिकता, विकास एवं सभ्यता की अंधी दौड़ में दौड़ रहे वर्तमान सभ्य समाज ने कुछ ऐसे कार्य किये हैं जो उसकी नजर में आर्थिक विकास एवं संवृद्धि के परिचायक हैं परन्तु इसमें लिए गये निर्णय आत्मघाती सिद्ध हुए हैं। यह आधुनिकता और पर्यावरण में प्रदूषण तथा पारिस्थितिकीय असंतुलन की समस्या उत्पन्न कर रहा है, वहीं दूसरी ओर निर्धन व्यक्तियों की संख्या बढ़ा रहा है । पाश्चात्य प्रेरित विकास नीति एवं उपभोक्ता वादी संस्कृति में आर्थिक विषमता इस कदर बढ़ गयी है कि जनसंख्या का एक छोटा अमीर तबका अधिकांश संसाधनों का उपभोग कर रहा है वहीं विकासशील राष्ट्रों की अधिकांश जनसंख्या को दो वक्त की रोटी भी नसीब नहीं हो रही है।

आज विश्व के किसी भी राष्ट्र के लिए आर्थिक विकास की प्रक्रिया को बंद कर देना सम्भव नहीं है क्योंकि आर्थिक विकास से ही देश की प्रगति सम्भव है। परन्तु आवश्यकता है कि औद्योगीकरण, शहरीकरण, विकासात्मक योजनायें, बहुउद्देश्यीय परियोजनाओं का क्रियान्वयन पर्यावरणीय दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए । विकास प्रगति के लिए आवश्यक है परन्तु यह विकास टिकाऊ होना चाहिए सतत होना चाहिए और यह तभी होगा जब पर्यावरण को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे ।

टिकाऊ विकास की अवधारणा के फलस्वरूप विकास तथा प्रकृति के मध्य अन्तर्सम्बन्धों का एक नया आयाम मिला है । टिकाऊ विकास का तात्पर्य है कि वर्तमान में आर्थिक सामाजिक विकास हेतु प्राकृतिक संसाधनों का इस प्रकार से उपभोग अथवा उपयोग किया जाये कि भावी पीढ़ी को किसी प्रकार की संसाधनहीनता या वंचना से गुजरना ना पड़े ।

पारिस्थितिकी तंत्र से हमें प्राकृतिक संसाधन प्राप्त होते हैं जिनकी किसी भी देश के आर्थिक विकास में अहम भूमिका होती है । आर्थिक विकास की प्रक्रिया में इन संसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग किया जाना चाहिए जिससे पर्यावरण मेंें इनकी उपलब्धता शीघ्र समाप्ति के कगार पर न पहुँचे तथा उपयोग इस प्रकार होना चाहिए जिससे अधिक से अधिक मात्रा में अधिकांश लोगों को लाभ प्राप्त हो सके तथा पारिस्थितिकी संतुलन भी बना रहे ।

12.5.1 पारिस्थितिकी तंत्र संसाधन के स्रोत के रूप में एवं आर्थिक निहितार्थ - पारिस्थितिकी तंत्र में जैविक एवं अजैविक घटक एक दूसरे से अन्तर्संबंधित होते हैं। मनुष्य को अपने सामाजिक एवं आर्थिक प्रगति एवं विकास हेतु संसाधनों की आवष्यकता पड़ती है। ये संसाधन पर्यावरण में पाये जाते हैं। विभिन्न प्रकार के खनिज (धात्विक एवं अधात्विक) अयस्कों के रूप में चट्टानों में पाये जाते हैं। शक्ति संसाधन के रूप में कोयला पैट्रोलियम एवं खनिज तत्व प्राप्त किया जाता है । वनों से हमें विविध प्रकार की जड़ी बूटियाँ एवं इमारती लकड़ी प्राप्त होती है । तंत्र में चलने वाले ऊर्जा प्रवाह, पोषण तत्वों के चक्रीय प्रवाह एवं अवसादी चक्र के कारण सभी जीव जन्तुओं का भरण पोषण चलता रहता है एवं मरने के पश्चात ये सभी वनस्पति एवं जीवजन्तु विघटक जीवाणुओं द्वारा पुनः अकार्बनिक तत्वों में बदल दिये जाते हैं। कहने का तात्पर्य है कि हमें सभी संसाधन पर्यावरण से ही प्राप्त होते हैं और दिन प्रतिदिन हमारा जीवन चलता रहता है तथा हमारी आर्थिक प्रगति संभव हो पाती है । कुछ संसाधन प्रकृति में सीमित है और इन संसाधनों का यदि अंधाधुंध दोहन होता रहा तो ये निकट भविष्य में समाप्त हो जायेंगे । अतः हमें संसाधनों का विवेकपूर्ण उपयोग करना चाहिए । जिससे विकास एवं आर्थिक प्रगति सतत बनी रहे ।

12.5.2 पारिस्थितिकी की वहन क्षमता एवं आर्थिक निहितार्थ - यह सत्य है कि पर्यावरण अथवा प्रकृति सभी आर्थिक संसाधनों का स्रोत है । परन्तु पर्यावरण की एक निष्चित वहन क्षमता है । यदि उस वहन क्षमता से अधिक संसाधनों का दोहन किया गया तो संसाधन समाप्त हो जायेंगे एवं विकास की गति रूक जायेगी अथवा ऋणात्मक हो जायेगी । उदाहरण स्वरूप यदि अंधाधंुध वनों का कटाव किया जाये एवं नये वृक्ष न लगाये जाये तो एक समय ऐसा आयेगा कि वन समाप्त हो जायेंगे चूँकि प्रकृति के सभी तत्व आपस में अन्तर्संबंधित है अतः इसका प्रभाव अन्य तत्वों पर पड़ेगा एवं पूरी श्रंृखला वांछित अथवा खण्डित हो जायेगी ।

वर्तमान समय में जनंसख्या की विस्फोटकीय वृद्धि एवं बढ़ती आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अत्यधिक उत्पादन, उच्च जीवन शैली एवं उपभोक्तावादी प्रवृति के कारण मनुष्य संसाधनों का अंधाधुंध दोहन करता जा रहा है तथा प्रकृति की वहन क्षमता की तरफ उसका ध्यान कम ही आकर्षित हो पा रहा है । वास्तव में विकसित एवं विकासशील राष्ट्रों की उपभोग प्रवृत्ति भिन्न है । विकासशील राष्ट्र जहाँ अपनी विशाल जनसंख्या की न्यूनतम मूलभूत आवष्यकताओं की पूर्ति हेतु संसाधनों का दोहन कर रहे हैं वहीं विकसित राष्ट्र विलासितापूर्ण जीवन शैली के कारण संसाधनों का दोहन कर रहे हैं । इस दिशा में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास की आवश्यकता है ।

12.5.3 पारिस्थितिकी तंत्र, वैश्वीकरण तथा आर्थिक निहितार्थ - विश्व में विकसित एवं विकासशील देशों के बीच विचारों की भिन्नता है। एक ओर तो अधिक विकसित देश जिनके पास सब कुछ है तथा दूसरी ओर कम विकसित प्रदेश जिनमें संसाधनों की प्रति व्यक्ति उपलब्धता निम्न है । अधिक विकसित देशों में विश्व की आबादी का केवल 22 प्रतिशत भाग है जबकि ये क्षेत्र विश्व की 88 प्रतिशत प्राकृतिक सम्पदाओं का इस्तेमाल करते हैं, 73 प्रतिशत खर्च करते हैं तथा 85 प्रतिशत धन पर अधिकार रखते हैं। इसके विपरीत कम विकसित देशों में विश्व की आबादी का 78 प्रतिशत हिस्सा निवास करता है । ये प्राकृतिक सम्पदाओं का केवल 12 प्रतिशत तथा ऊर्जा 27 प्रतिशत भाग ही इस्तेमाल करते हैं।

इस प्रकार के असमान वितरण का नतीजा यह है कि विकसित राष्ट्र सर्वाधिक पर्यावरण प्रदूषण हेतु जिम्मेदार है परन्तु इन समस्याओं से विकासषील राष्ट्रों को अधिक जूझना पड़ रहा है । अल्पविकसित राष्ट्रों से यह आशा करना कि वे प्रदूषण की रोकथाम के लिए अपना विकास रोक दें, सर्वथा अनुचित है । 1992 के पृथ्वी सम्मेलन, 1997 के क्योटो समझौते एवं अन्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के प्रयासों के कार्बन व्यापार या विकसित राष्ट्रों द्वारा विकासषील राष्ट्रों को स्वच्छ विकास तकनीकि का हस्तांतरण जैसे प्रयास किये जा रहे हैं। परन्तु ये सभी प्रयास नाकाफी साबित हो रहे हैं।

12.9 पारिभाषिक शब्दावली

स्वपारिस्थितिकी - जीवों की एकाकी जाति एवं उसके पर्यावरण के मध्य अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन स्वपारिस्थितिकी कहलाता है।

खाद्य श्रंृखला - पौधों द्वारा भोजन को ऊर्जा के रूप् में संचित करना तथा फिर पौधों से क्रमषः विभिन्न पोषी स्तरों के जीवों में भोजन के साथ इस ऊर्जा के स्थानान्तरण को खाद्य श्रंृखला कहते हैं।

निश - पारितन्त्र में प्रत्येक जैव समुदाय की पदार्थों के विनिमय अथवा ऊर्जा प्रवाह द्वारा संतुलन बनाये रखने में एक विषिष्ट भूमिका होती है जिसे निष कहते हैं।

पोषी स्तर - उपभोक्ता उत्पादकों से अपना भोजन प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार उत्पादक उपभोक्ता अपघटक भोजन से संबंधित श्रंृखला बनाते हैं। जीवीय घटक के प्रत्येक स्तर को पोषी स्तर कहते हैं।

हॉट स्पॉट - ये धरातल पर स्थित वे क्षेत्र हैं जिनमें जैव विविधता स्पष्ट रूप से मिलती है । ये स्थान धरोहर के रूप में रखे जाने चाहिए । क्रायोप्रिजर्वेषन - इस तकनीकि के अन्तर्गत दुर्लभ तथा संकटग्रस्त पौधों के जर्मप्लाज्म को बहुत कम ताप पर ;.196°ब्द्ध पर संग्रहित एवं संरक्षित किया जाता है।

विलुप्त प्रजाति - वह प्रजाति जिसका अंतिम जीव भी मर चुका हो एवं जिसका कोई भी जीव वर्तमान समय में नहीं मिलता हो, विलुल्प मानी जाती है।

संकटग्रस्त प्रजाति - एक प्रजाति संकटग्रस्त तब मानी जाती है । जब उसके जीव लगभग समाप्ति के कगार पर हों ।

12.10 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. इकोलॉजी शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किसने किया ?
2. पारिस्थितिकी तंत्र में उत्पादक किसे कहा जाता है ?
3. पृथ्वी की औसत शुद्ध प्राथमिक उत्पादकता कितनी है ?

4. प्रथम पृथ्वी सम्मेलन कब और कहाँ सम्पन्न हुआ ?
5. सबसे अधिक जैव विविधता किस क्षेत्र में पायी जाती है ?
6. हॉट स्पॉट की संकल्पना किसने दी ?
7. भारत में वन्य जैव संरक्षण अधिनियम किस वर्ष पारित हुआ ?
8. रेड डाटा बूक कौन प्रकाषित करता है ?
9. वर्तमान में भारत में कितने जैव मण्डल रिजर्व हैं ?
10. भारत में प्रथम राष्ट्रीय उद्यान कौन सा स्थापित किया गया था ?

उत्तर - (1) अर्नस्ट हैकल (2) वनस्पतियाँ (3) 320 ग्राम प्रति वर्गमीटर प्रतिवर्ष (4) 1992 में रियो-डे-जैनरियो (5) उष्ण कटिबंधीय क्षेत्र (6) नार्मन मेयर (7) 1972 (8) प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण का अन्तर्राष्ट्रीय संघ (9) 14 (10) हैली नेषनल पार्क (वर्तमान नाम जिम कार्बेट राष्ट्रीय उद्यान)

12.11 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

(1) पारिस्थितिकी तंत्र की अवधारणा, प्रकार महत्व पर विस्तार से वर्णन कीजिए।

(2) पारिस्थितिकी तंत्र अध्ययन एवं आर्थिक निहितार्थ में संबंध का विस्तार से वर्णन कीजिए।

(3) जैव विविधता से आप क्या समझते है इसका संरक्षण किस प्रकार किया जा सकता है ?

(4) जैव विविधता के संरक्षण के लिए राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर क्या प्रयास किये जा रहे हैं? विस्तार से चर्चा कीजिए।

12.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- वर्मा, जी0 एस0 (2005) पर्यावरण अध्ययन, वसुधा प्रिन्टर्स, मेरठ।
- सिन्हा, मेघा (2007) पर्यावरण और पारिस्थितिकीय तंत्र, वन्दना पब्लिकेषन्स, नई दिल्ली।
- तिवारी, वी0 के0 (1998), पर्यावरण और पारिस्थितिकी, गायत्री ऑफसेट प्रेस, नोएडा।
- श्रीवास्तव, वी0 के0 एवं बी0 पी0 राव (1995) पर्यावरण और पारिस्थितिकी वसुन्धरा प्रकाष, गोरखपुर

इकाई – 13 जैव विविधता एवं संरक्षण
(Biodiversity and Conservation)

13.1 प्रस्तावना
13.2 उद्देश्य
13.3 जैव विविधता की अवधारणा
13.4 जैव विविधता का वर्गीकरण
13.5 जैव विविधता का परिमाण
13.6 जैव विविधता के क्षरण या विलोपन के कारण
13.7 जैव विविधता का संरक्षण
13.8 जैव विविधता संरक्षण के अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास
13.9 जैव विविधता संरक्षण के लिए राष्ट्रीय प्रयास
13.10 सारांश
13.11 पारिभाषिक शब्दावली
13.12 लघु उत्तरीय प्रश्न
13.13 दीर्घ उत्तरीय प्रश्न
13.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

13.1 प्रस्तावना

।

13.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के निम्न उद्देश्य हैं -

- जैव विविधता के क्षरण के कारण क्या हैं ?
- जैव विविधता का संरक्षण किस प्रकार किया जा सकता है ?
- जैव विविधता के संरक्षण के लिए भारत में क्या प्रयास किये जा रहे हैं ?

13.3 जैव विविधता की अवधारणा

जैव विविधता शब्द का प्रयोग कुछ वर्षो से ही प्रारम्भ हुआ है । विभिन्न क्षेत्रों में जीव जन्तुओं एवं वनस्पतियों की प्रजातियों, समुदाय और पारिस्थितिकी तंत्र में भिन्नतायें पायी जाती हैं। इन भिन्नताओं को ही जैव विविधता कहा जाता है । जैव- विविधता एक समूहवाची शब्द है । जिसमें पृथ्वी के सभी तरह के सजीव पौधे-प्राणी, सूक्ष्म जीव जन्तु सभी समाहित हैं वस्तुतः जैव विविधता के अन्तर्गत प्रजातियों के अन्दर प्रजातियों के मध्य तथा पारितंत्र की विविधतायें शामिल हैं। जैव विविधताओं को बदला नहीं जा सकता है क्योंकि एक जाति, विशेष आवास में रहते हुए उनकी अभ्यस्त हो चुकी होती है।

वास्तव में जैव विविधता शब्द सर्वप्रथम 1985 में रचा गया था। 1992 में रिओ शिखर सम्मेलन के बाद यह शब्द अधिक प्रचलन में आया । किसी भी क्षेत्र में जैव विविधता का आकलन वहाँ उपस्थित जीव जन्तुओं की संख्या से अवगत कराता है । जीव जन्तुओं की विभिन्न प्रजातियाँ एवं इनकी अधिक मात्रा उस क्षेत्र में जैव विविधता की समृद्धता की द्योतक है। दूसरे शब्दों में जैव विविधता का आकलन पृथ्वी के स्वास्थ्य का परिचायक है।

05 जून, 1992 को ब्राजील महत्वपूर्ण शहर रियो-डी-जैनेरियो में आयोजित पृथ्वी शिखर सम्म्ेलन में भाग लेने वाले राष्ट्रों के मध्य एक अनुबंध पारित किया गया। इस अनुबंध पर विश्व के 156 राष्ट्रों तथा यूरोपीय समुदाय ने हस्ताक्षर किये । इस सहमति पर भारत द्वारा भी हस्ताक्षर किये गये । इस अधिवेशन में जैव विविधता को इस प्रकार परिभाषित किया गया - "धरातलीय, महासागरीय एवं अन्य जलीय पारिस्थितिकी तंत्रों में उपस्थित अथवा उससे संबंधित तंत्रों में पाये जाने वाले जीवों के बीच विभिन्नता जैव विविधता है।"

जैव विविधता के अध्ययन का महत्व इसलिए भी बढ़ गया है क्योंकि मनुष्य के बढ़ते हस्तक्षेप जैसे वनों का विनाश, बाँध एवं बैराजों का निर्माण, बहुउद्देशीय परियोजनाओं का निर्माण इत्यादि के कारण एवं पारिस्थितिकी तंत्र अथवा पर्यावरण प्रदूषण के कारण जैविक समुदाय पर खतरा मंडराने लगा है। यहाँ

तक कि कई जातियाँ विलुप्त प्राय हो चुकी हैं। अतः शीघ्रातिष्श्ीघ्र जैव विविधता के संरक्षण हेतु प्रयास अति आवश्यक हो गये हैं।

13.4 जैव विविधता का वर्गीकरण

जैव विविधता को तीन स्तरों पर वर्गीकृत किया जा सकता है - (1) आनुवांशिक जैव विविधता (2) प्रजाति विविधता (3) पारिस्थितिकी तंत्र विविधता।

जैव विविधता के ये तीनों स्तर आपस में अन्तर्सम्बन्धित हैं। अब इन पर हम विस्तार से चर्चा करेंगे -

(1) आनुवांशिक विविधता - यह जैविक विविधता का प्रमुख आधार है। एक ही जाति के सदस्यों में कई विभिन्नतायें पायी जाती हैं। ये विभिन्नतायें जीवों की मूलभूत इकाई अर्थात् कोशिका में पाये जाने वाले 'जीन' की भिन्नता के कारण होती है। ये ऋ.'जीन' जीवों के रंग, रूप एवं अन्य विशेषताओं के लिए जिम्मेदार होते हैं तथा इन विशेषताओं को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में स्थानान्तरण करने में अहम भूमिका अदा करते हैं। इनके कारण ही एक जाति के जीवों में भिन्नतायें पायी जाती हैं। उदाहरण के लिए सभी मनुष्य मानव जाति के हैं परन्तु कोई भी दो व्यक्ति एक समान नहीं होते हैं। यह भिन्नतायें जीन के कारण होती हैं।

आनुवांशिक विविधता के कारण ही जनसंख्या पर्यावरण के अनुरूप ढल पाती है। जिस प्रजाति में जितनी अधिक आनुवांशिक विविधता मिलती है वह पर्यावरण परिवर्तन में समायोजन के लिए उतनी ही अधिक अनुकूल होती है।

(2) प्रजाति विविधता - यह किसी समुदाय अथवा जनसंख्या में पाये जाने वाले जीवों के बीच की विविधता है। वनस्पति एवं जन्तु जगत की प्रत्येक प्रजाति पारिस्थितिकी तंत्र में महत्वपूर्ण है। अतः किसी भी जाति की विलुप्तता पूरे पारिस्थितिकी तंत्र पर प्रभाव डालती है।

(3) पारिस्थितिकी तंत्र विविधता - एक पारिस्थितिकी तंत्र दूसरे पारिस्थितिकी तंत्र से पूर्णतया भिन्न होता है। यह भिन्नता पारिस्थितिकी तंत्र की जटिलता के कारण होती है। एक पारिस्थितिकी तंत्र के सभी जैव समुदाय खाद्य श्रंृखला, खाद्य जाल एवं पदार्थ चक्रण द्वारा आपस में संबंधित होते हैं। इसके अतिरिक्त तंत्र के भौतिक घटकों जैसे तापमान, आर्द्रता, समुद्र तल से ऊँचाई इत्यादि के कारण भी भिन्नता पायी जाती है जो उस क्षेत्र में पाये जाने वाले पादप एवं जन्तु समुदाय को निर्धारित करती है। इसी प्रकार ये विभिन्न समुदाय अपने अपने विशिष्ट पारिस्थितिकी तंत्र विकसित कर लेते हैं।

13.5 जैव विविधता का परिमाण

एक अनुमान के अनुसार विश्व में कुल वनस्पति एवं जीव जन्तुओं की संख्या 40 लाख से लेकर 8 करोड़ तक अनुमानित की गयी है। जिनमें से अब तक केवल 14 लाख प्रजातियों का निर्धारण किया जा चुका है। इस प्रकार यदि कुल संख्या 8 करोड़ मानी जाये तो केवल 2 प्रतिशत प्रजाति का एवं यदि कुल संख्या 40 लाख मानी जाये तो केवल 31 प्रतिशत प्रजाति का अभिनिर्धारण किया जा सकता है। विश्व में लगभग 17 राष्ट्र बृहत जैव विविध राष्ट्र माने जाते हैं जो कि कुल जैव विविध प्रजातियों का लगभग 70 प्रतिशत हिस्सा समाहित करते हैं। उनमें से भारत भी एक राष्ट्र है। अन्य 16 बृहत जैव विविध राष्ट्र बोलिबिया, ब्राजील, चीन, कोलम्बिया, कोस्टारिका, कांगों गणराज्य, इक्वेडोर,

इण्डोनेषिया, किनिया, मालागासी, मलेषिया, मैक्सिकों, पेरू, फिलीपीन्स, द0 अफ्रिका तथा वेनेजुएला है। यद्यपि जिन प्रजातियों की पहचान की जा चुकी है उनकी संख्या निम्न है -

कीट **751000**

पादप **248000**

अन्य प्राणी **281000**

कवक **69000**

प्रोटिस्ट **30000**

शैवाल **26000**

ज्ीवाणु **4800**

विषाणु **1000**

13.6 जैव विविधता के क्षरण या विलोपन के कारण

प्रति वर्ष जीव व वनस्पतियों की कई प्रजातियाँ विलुप्त होती जा रही हैं। विशेषकर पिछले **150** वर्षों में विलुप्त होने की दर काफी बढ़ गयी है । इनमें पृथ्वी के उष्ण कटिबन्धीय क्षेत्र मुख्य हैं। क्योंकि जैव विविधता का **90** प्रतिशत भाग इसी हिस्से में पाया जाता है । जैव विविधता के क्षरण या विलोपन के कारणों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है - **(1)** प्राकृतिक कारण

(2) मानवी कारण

प्राकृतिक कारक - धरातल पर प्रत्येक प्रजाति का एक जीवन काल होता है । यह औसत रूप में एक करोड़ वर्ष माना जाता है। इसके अनुसार प्रत्येक वर्ष कुछ प्रजातियाँ विलुप्त होती रहती हैं । इसे प्रजातियों के विलोपन की प्राकृतिक दर कहते हैं। इसके अतिरिक्त यदा-कदा प्राकृतिक आपदायें भी इनके विलोपन के कारण बन जाती हैं। पृथ्वी इतिहास के पिछले **57** करोड़ वर्षों में **5** ऐसी प्राकृतिक घटनायें घट चुकी हैं जिनमें कई प्रजातियाँ विलुप्त हो गयीं । इनमें सबसे हाल की घटना क्रिटैशियस काल में घटी जिसके कारण धरातल से डायनासोर का नामो निशान मिट गया। यह माना जा रहा है कि सामुहिक प्रजाति विलोपन की छटवीं घटना वर्तमान में जारी है। इसका मुख्य कारण मानव का बढ़ता हस्तक्षेप है।

मानवीय कारण - वर्तमान समय में विश्व की जनसंख्या जिस तेजी से बढ़ रही है और उनकी आवश्यकतायें जिस कदर बढ़ रही हैं उसकी पुर्ति हेतु वन विनाश जारी है । इसके कारण जीवों के आवास समाप्त होते जा रहे हैं। पर्यावरण में प्रदूषण बढ़ता जा रहा है और इन सबका परिणाम जलवायु परिवर्तन एवं भू ताप वृद्धि के रूप में सामने आ रहा है । मानव जाति किस प्रकार प्रजातियों के विलोपन में अहम भूमिका निभा रही है इसकी विस्तृत चर्चा की जायेगी ।

(1) कृषि भूमि हेतु वनों का विनाश - विश्व की जनसंख्या इस समय लगभग **7** अरब है। अनुमान है कि **2050** तक यह जनसंख्या **9** अरब हो जायेगी । इतनी बड़ी जनसंख्या के भरण पोषण हेतु भोजन की विशाल मात्रा की आवश्यकता होगी । इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में ही आधार भूत संरचनाओं, सड़कें, उद्योग एवं आवास के विस्तार हेतु इतनी बड़ी संख्या में वनों का विनाश हो रहा है जिसका अनुमान लगाना कठिन कार्य है।

(2) आवास का संकुचन - वन विनाश तो जीव जन्तुओं के आवास के संकुचन के कारण है ही, इसके अलावा मनुष्य ने नदियों पर जगह-जगह बांध बना दिये हैं जिसके कारण उनके पीछे नदी का जल विशाल झील के रूप में एकत्रित हो गया है । जिसमें असंख्य पेड़ पौधे, उपजाऊ भूमि, मानव बस्तियाँ जलमग्न हो गयी हैं और उस क्षेत्र की पारिस्थितिकी ही बदल गयी है। जिसके भयावह परिणाम निकट भविष्य में परिलक्षित होंगे । टिहरी बांध परियोजना इसका एक उदाहरण है।

(3) आखेट एवं अत्यधिक मतस्य उत्पादन - समुद्री क्षेत्रों से अधिकाधिक व्यापारिक स्तर पर मछलियों के पकड़ने के कारण सामुद्रिक पारिस्थितिकी भी प्रभावित हो रही है। समुद्र के व्हेल को पकड़ने पर प्रतिबन्ध के बावजूद कुछ राष्ट्र अवैध रूप से इस क्रिया में लिप्त हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोग दुर्लभ प्रजातियों के जानवरों का शिकार करते हैं। जिसके कारण इनकी संख्या में निरन्तर ह्रास हो रहा है। इस तरह की घटनाओं की जानकारी हमें आये दिन समाचार पत्रों में प्राप्त होती रहती है। इसके अतिरिक्त दुर्लभ प्रजाति के जीवों के अवशेष की विदेश बाजार में अच्छी कीमत मिलती है । जिस कारण भी इनका शिकार कर स्मगलिंग की जाती है।

(4) विदेशी प्रजातियों का पुनःस्थापन - वनस्पतियों की प्रजातियाँ जो कि यहाँ की मूल प्रजाति नहीं है किसी कारण बस स्थापित हो गयी है। जिससे अब निजात पाना मुश्किल होता जा रहा है तथा ये विदेशी प्रजातियाँ मूल प्रजातियों को समाप्त करती जा रही है। भारत के विभिन्न भागों में काँग्रेस घास अथवा गाजर घास (पार्थेनियम) तथा जलकुंभी इसके उदाहरण हैं।

(5) आनुवांशिक संवर्धित फसलों से जैव विविधता को खतरा - 1996 के पश्चात् फसलों से अत्यधिक उत्पादन हेतु जैनेटिक इंजीनियरिंग द्वारा संकर बीजों की किस्में विकसित की गयीं । लंबे समय तक इन बीजों के इस्तेमाल से जैव विविधता में कमी आ सकती है। इसके अतिरिक्त इन संकर बीजों के पराग कण अन्य संबंधित प्रजातियों एवं खर पतवार में पहुँचकर खर पतवार को जन्म दे सकते हैं जिन्हें समाप्त करना कठिन होगा । इसके अतिरिक्त कीड़ों व रोगाणुओं के ट्रांसजीन प्रतिरोध में नये और अधिक विषैले रोगाणुओं की उत्पत्ति की संभावना है।

(6) भूताप वृद्धि एवं जलवायु परिवर्तन - वर्तमान समय में मानव जनित कारणों से भू-ताप वृद्धि जारी है। अनुमान है कि 2050 तक पृथ्वी धरातल का औसत तापमान 2°ब् अधिक हो जायेगा । ऐसा हुआ तो पृथ्वी के कुछ भाग बहुत अधिक गर्म तथा कुछ भाग ठण्डे और आर्द्र हो जायेंगे और कई प्रजातियाँ विलुप्त हो जायेंगी ।

यदि प्रजाति विलोपन के ज्ञात कारणों का उल्लेख किया जाये यतो सन् 1600 ई0 से लेकर आज तक जितनी प्रजातियों का विलोपन हुआ है उनमें 39 प्रतिशत विदेशी प्रजाति के पुनःस्थापन के कारण, 36 प्रतिषत आवास की समाप्ति के कारण 23 प्रतिशत शिकार के कारण तथा 2 प्रतिशत प्रजातियाँ अन्य कारणों से विलुप्त हई हैं।

13.7 जैव विविधता का संरक्षण

बीसवीं शताब्दी में जनसंख्या की विस्फोटक वृद्धि, बढ़ती आवश्यकतायें, औद्योगिक एवं तकनीकि विकास इत्यादि के कारण जैव विविधता पर खतरा बना हुआ है । वनस्पति एवं जन्तुओं की कई प्रजातियाँ विलुप्ता प्रायः हो चुकी हैं तथा कई अन्य प्रजातियाँ दुर्लभ तथा संकटग्रस्त हो गयी हैं । अतः समय रहते इनके संरक्षण के प्रयास नहीं किये गये तो इसके परिणाम अत्यन्त गंभीर और दूरगामी होंगे । वर्तमान समय में कई राष्ट्र के वैज्ञानिकों ने इस क्षेत्र में जागरुकता दिखाई है। परिणामस्वरूप जैव

विविधता के संरक्षण हेतु राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक प्रयास किये जा रहे हैं। इसके पूर्व आइये हम इस विषय पर चर्चा कर लें कि जैव विविधता के संरक्षण के क्या उपागम हैं अथवा जैव विविधता का संरक्षण किस प्रकार किया जा सकता है ?

जैव विविधता संरक्षण के दो उपागम हैं - (1) स्वस्थान संरक्षण (प्द.ेपजन बवदेमतअंजपवद) तथा (2) स्वस्थानेत्तर संरक्षण (म्गे.ेपजन बवदेमतअंजपवद)।

स्वथाने संरक्षण के अन्तर्गत जन्तुओं तथा पौधों का संरक्षण उनके प्राकृतिक आवासों में किया जाता है। जैव विविधता को उसके तीनों स्तरों पर अर्थात आनुवांशिक प्रजाति एवं पारिस्थितिकी तंत्र, संरक्षित करने का सर्वोत्तम तरीका है वन्य क्षेत्र के पर्याप्त भाग सुरक्षित इलाके के रूप में बचाये रखना। इनमें राष्ट्रीय उद्यान, वन्यजीव अभ्यारण्य, जैव आरक्षित क्षेत्र इत्यादि हो सकते हैं। जैव संवेदी क्षेत्र अथवा हॉट स्पॉट का चिन्हीकरण भी स्वस्थाने संरक्षण के अन्तर्गत आता है। जैव संबंधी क्षेत्र वे क्षेत्र हैं जिनमें जैव विविधता स्पष्ट रूप से मिलती है। ये अत्यन्त संवेदी क्षेत्र होते हैं। इस स्थान को मानव द्वारा अधिक हानि नहीं पहुँचनी चाहिए, ये स्थान धरोहर के रूप में रखे जाने चाहिए जिससे दुर्लभ प्रजातियों को भी बचाकर रखा जा सके तथा प्राकृतिक पर्यावरण में उन्हें उगाया जा सके। नार्मन मैयर ने 1988 में हॉट स्पॉट संकल्पना विकसित की जिससे उन स्थानों का पता लगाया जा सके जहाँ स्वस्थाने संरक्षण दिया जा सके। संसार के 25 हॉट स्पॉट क्षेत्रों में से 2 भारत में मिलते हैं। ये पश्चिमी घाट क्षेत्र एवं पूर्वी हिमालय क्षेत्र हैं।

जैव मण्डल रिजर्व - इसी प्रकार जैव मण्डल रिजर्व वह संरक्षित क्षेत्र है जहाँ के जैविक समुदाय विशिष्ट होते हैं। ये प्राकृतिक जीवोम होते हैं। संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक संघ के मानव व जैवमण्डल कार्यक्रम ;डाठ.डंद ंदक ठपवेचीमतम च्तवहतंउउमद्ध में 1975 ई0 में जैवमण्डल रिजर्व के सिद्धान्त को रखा गया जिसके अन्तर्गत परितंत्र का संरक्षण आनुवांशिक स्रोतों के संरक्षण से किया जाना सुझाया गया। जैव मण्डल रिजर्व के अन्तर्गत क्रोड़, बफर तथा संक्रमण क्षेत्र आते हैं। कोर जैवमण्डल रिजर्व का केन्द्रीय भाग होता है। यह भाग कानूनी रूप से संरक्षित होता है। बफर क्षेत्र कोर क्षेत्र के चतुर्दिक घेरे होता है। इस भाग में बहुत से ऐसी वनस्पतियाँ व जीव मिलते हैं जिन पर शैक्षिक तथा शोध गतिविधियाँ चलती रहती हैं। संक्रमण क्षेत्र, जैव मण्डल रिजर्व का सबसे बाहरी क्षेत्र होता है। यहाँ पर स्थानीय लोगों द्वारा बहुत सी क्रियायें जैसे - रहन, सहन, खेती, प्राकृतिक, संपदा का आर्थिक उपयोग आदि होता रहता है। वर्तमान में भारत में कुल 18 जैवमण्डल रिजर्व हैं।

स्वस्थानेत्तर अथवा उत्स्थाने संरक्षण - इस प्रकार के संरक्षण के अन्तर्गत महत्वपूर्ण पौधों तथा जन्तुओं को उनके प्राकृतिक आवासों से हटाकर मानव निर्मित आवासों में सुरक्षित रखा जाता है। वनस्पति उद्यान शोधशालायें आदि के यही उद्देश्य हैं। जीन बैंक अथवा जर्म प्लाज्म बैंक भी उत्स्थाने संरक्षण के अन्तर्गत आता है पौधों तथा जीवों की जो जातियाँ संकटग्रस्त हैं अथवा विलुप्त होने के कगार पर उन्हें बचाने के लिए जीन बैंक अथवा जर्मप्लाज्म बैंक की स्थापना की गई है। ये बैंक आर्थिक, औषधि तथा पारिस्थितिकी रूप में महत्वपूर्ण पादप प्रजातियों के जीन पूल को संरक्षित कर रहे हैं।

13.8 जैव विविधता संरक्षण के अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास

जैव विविधता पारिस्थितिकी तंत्र के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है तथा इसके संरक्षण के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयास बीसवीं शताब्दी के मध्य में ही आरम्भ हो गये थे। वैश्विक स्तर पर कई संस्थाओं की

स्थापना की गयी जिनका मुख्य कार्य शोध, जीन बैंकों की स्थापना तथा अन्य राष्ट्रों को जैव विविधता संरक्षण हेतु सुझाव एवं सहायता देना है। निम्नलिखित संस्थायें इस दिशा में कार्यरत हैं।

International Union for Conservation of Nature (IUCN)- यह संस्था प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण का अन्तर्राष्ट्रीय संघ है। इसकी स्थापना 1948 ई0 में की गयी थी एवं इसका कार्यलय मोर्गेस (स्विट्जरलैण्ड) में है। यहाँ से प्रकाशित रेड डॉटा पुस्तक में विलुप्त हो रहे पौधे एवं जन्तुओं को तीन वर्गों में रखा गया है।

(1) संकटग्रस्त जातियाँ - ये पादप तथा जन्तुओं की वे जातियाँ हैं जिनकी संख्या कम हो गयी है या तेजी से कम हो रही है तथा इनके आवास इतने कम हो गये हैं कि इनके लुप्त होने का भय है। जैसे - एक सींग वाला गेंडा, काली गर्दन वाला बगूला एवं एशियाटिक शेर।

(2) सुमेद्य जातियाँ - इसमें जीवों की वे जातियाँ सम्मिलित है जिनकी संख्या वर्तमान में तो ठीक है परन्तु यदि भविष्य में इनके वातावरण में प्रतिकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं तो इनका निकट भविष्य में विलुप्त होने को भय है।

(3) दूर्लभ जातियाँ - इन जातियों की संख्या बहुत कम है। इनके आवास विष्व में सीमित संख्या में हैं। इनके विलुप्त होने का भय सदैव बना रहता है।

वर्ड वाइड फण्ड फॉर नेचर ;ॅॅथ्द्ध - इस संस्था का प्रारम्भ सन् 1961 में हुआ। इसका कार्यालय क्लेन्ड, स्विट्जरलैण्ड में है। यह संस्था अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर वन्य जीवों के रख रखाव, देखभाल सम्बन्धी मापदण्डों तथा इनकी पूर्ति हेतु राष्ट्रों एवं संबंधित संस्थाओं को वित्तीय सहायता भी सुलभ कराती है। 'प्रोजेक्ट टाइगर' इसी संस्था की विष्व को देय है।

संयुक्त राष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक एवं सांस्कृतिक संगठन ;न्छम्ैब्व्द्ध - इस संस्था का प्रारम्भ सन् 1945 ई0 में किया गया। इस संस्था का मुख्य कार्य विभिन्न देशों में शैक्षिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में सहयोग करना है तथा राष्ट्रहित में बनाई गई योजनाओं में आर्थिक व तकनीकि पक्ष में सहायता देना है। इसका मुख्यालय पेरिस, फ्रांस में है।

दुर्लभ प्रजातियों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर रोकथाम से संबंधित समझौता - यह विश्व का सबसे बड़ा वन्य जीव संरक्षण समझौता है तथा सन् 1976 में प्रभावी हुआ। यह विभिन्न देशों को प्रेरित करता है कि वे अपने अपने देश में दुर्लभ प्रजाति के जीवों के व्यापार को नियन्त्रित करें एवं स्वयं इनकी तस्करी पर पूर्ण प्रतिबंध लगाये।

वन्य जीवों के व्यापार पर कड़ी नजर रखने के लिए - ;ज्त्।थ्थ्प्ब्द्ध यह समझौता हस्ताक्षरकृत देशों के मध्य कार्यरत है। वास्तव में सर्प, गैंडे, कछुए, हिरन आदि जानवरों के अंगों की कामोत्तेजक दवायें बनाने एवं प्रसाधन तथा सौन्दर्य सामग्री हेतु विदेशी बाजार में अधिक माँग है और इन जीवों की छूपे रूप में तस्करी की जाती है। यह समझौता इस तरह की तस्करी पर कड़े प्रतिबंध लगाता है एवं इसके अन्तर्गत कड़े प्राविधान हैं।

1992 में रिओ में पृथ्वी सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें जैव विविधता के सरंक्षण के लिए प्रस्ताव पारित किया गया। ये प्रस्ताव 29 दिसम्बर, 1993 ई0 में अमल में लाया गया। इसे प्रस्ताव के मुख्य विषय निम्न प्रकार हैं -

(1) जैव विविधता का संरक्षण

(2) जैव विविधता का उद्योग

(3) आनुवांषिक स्रोतों के उपयोग से उत्पन्न लाभ का सही बँटवारा।

13.9 जैव विविधता संरक्षण के लिए राष्ट्रीय प्रयास

भारत में जैव विविधता के सरंक्षण की महत्त्ता इसी बात से झलकती है कि भारतीय संविधान के अनुच्छेदों **48**(अ) के तहत राज्यों को निर्देषित किया गया है किवे पर्यावरण के उन्नति एवं वन तथा वन्य जीवों के संरक्षण हेतु नीतियाँ बनाये । यही नहीं संविधान के अनुच्छेद **51**अ(जी) प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह वन तथा वन्य जीवों के सरंक्षण हेतु प्रयास करे तथा प्राकृतिक पर्यावरण को विकसित करने में भूमिका निभाये । भारत में पर्यावरणीय कार्यक्रम के नियोजन प्रोत्साहन तथा समन्वयन के संबंध में **1980** में पहली बार केन्द्र स्तर पर एक पर्यावरण विभाग की स्थापना की गई थी । बाद में इस विभाग को मंत्रालय का दर्जा दिया गया।

इसी प्रकार वन्य जीवों की सुरक्षा के लिए वन्य जीव (सुरक्षा) अधिनियम **1972** पारित किया गया जिसमें वन्य जीवों के कल्याण से संबंधित अनेक बिन्दु अन्यन्त प्रभावी ढंग से सम्मिलित हैं। राष्ट्रीय स्तर पर जैव विविधता के संरक्षण हेतु कुछ संस्थाओं की स्थापना की गयी एवं कुछ वन्य जीवों से संबंधित विशेष प्रोजेक्ट चलाये गये । इनका विवरण इस प्रकार है -

(1) भारतीय वन्य जीव बोर्ड की स्थापना - इस वन्य जीव बोर्ड की स्थापना सन् **1952** में की गई थी । इस बोर्ड के कार्य वन्य जीवों की सुरक्षा और संरक्षण हेतु केन्द्र सरकार तथा राज्य सरकारों को सलाह देना, राष्ट्रीय उद्यान, वन अभ्यारण्य तथा प्राणी उद्यानों की देख-रेख संबंधी सलाह एवं सुझााव देना आदि हैं।

(2) राष्ट्रीय उद्यान और वन अभ्यारण्यों की स्थापना - वन्य जीवों के सरंक्षण हेतु देश भर में कई राष्ट्रीय उद्यानों एवं वन्य जीव अभ्यारण्यों की स्थापना की गयी । वर्तमान में देश में **94** राष्ट्रीय उद्यान तथा **502** वन्य जीव अभ्यारण्य हैं।

(3) विशिष्ट प्रजातियों के लिए विशेष संरक्षण योजनायें -

प्रोजेक्ट टाइगर योजना - देश में बाघों की महत्वपूर्ण संख्या के सरंक्षण को सुनिष्चित करने के लिए **1973** में बाद्य परियोजना प्रारम्भ की गयी ।

प्रोजेक्ट क्रोकोडाइल - इसी प्रकार मगर की संरक्षण एवं संवर्धन के लिए मगर परियोजना । **1974** में प्रारम्भ की गयी ।

प्रोजेक्ट हाथी - हाथियों की संख्या में वृद्धि हेतु प्रोजेक्ट एलिफेन्ट **1992** में प्रारम्भ किया गया।

(4) वन्य जीवन संस्थान भारत - इस संस्था की स्थापना **1982** में की गयी । इसका मुख्यालय देहरादून में है। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य राजकीय तथा अराजकीय व्यक्तियों को वन्य जीव सम्बन्धी षोध, षिक्षण देखरेख और उनकी बेहतर जीवन के बारे में सिखाना है।

13.7.3 जैव विविधता का महत्व - वाणिज्यिक उपयोग, पारिस्थितिकीय सेवाओं, सामाजिक, आर्थिक दृष्टि से जैव विविधता का विशेष महत्व है। हमें वनस्पतियों एवं जीवों से अनेक लाभ मिलते हैं। कई बार हम कुछ वनस्पतियों एवं जीवों का महत्व इनके विलुप्त के पष्चात् समझ पाते हैं। जैव विविधता के महत्व को निम्न बिन्दुओं के आधार पर समझा जा सकता है -

(1) भोज्य सामग्री की उपलब्धता - हम प्रतिदिन जिन भोज्य सामग्री का उपभोग करते हैं। वे सभी सामग्री प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से जैव विविधता के ही परिणामस्वरूप है। अन्न, दालें, सब्जियाँ, दूध-दही, अण्डे, मास, मछली इत्यादि जैव विविधिता के कारण ही हमें प्राप्त होती हैं और हम इनका उपयोग कर पाते हैं।

(2) औषधि के रूप में - संसार की लगभग 75 प्रतिषत जनसंख्या औषधियों के लिए पौधों से प्राप्त रसायन पर निर्भर है । मलेरिया के लिए कुनैन, सिनकोना वृक्ष से तथा हृदय-विकारों के लिए डिजिटैलीन डिजिटैलिस नामक पौधों से प्राप्त की जाती है । इसी प्रकार बहुत सारे एंटीबायोटीक जीवाणुओं एवं कवक से निर्मित किये जाते हैं।

(3) ईंधन के रूप में - वनों से ईंधन के रूप् में लकड़ी प्राप्त होती है। यह भी जैव विविधता के कारण है।

(4) उत्पादन हेतु सामग्री के रूप में - वाणिज्यिक दृष्टि से जैव विविधता का विशेष महत्व है। कई उद्योग जैसे कागज, कपड़ा, रेषम, चमड़ा उद्योग आदि वनस्पतियों एवं जीवों पर आधारित हैं । इसके अतिरिक्त हाथी दाँत, जानवरों की खाल, चमड़ा, रेशम, ऊन इत्यादि की राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में अच्छी माँग है।

(5) पर्यटन संबंधी महत्व - लोग जीवों, वनस्पतियों एवं प्राकृतिक सौंदर्य के कारण ही मीलों दूर पर्यटन की दृष्टि से घूमने जाते हैं। यह जैव विविधता के सौन्दर्य का ही परिणाम है।

(6) पारिस्थितिकी संतुलन बनाये रखने में - जैव विविधता पारिस्थितिकी तंत्र को स्थायित्व प्रदान करती है। किसी भी आबादी तथा प्रजाति का अस्तित्व तथा आवास विशेष में निर्जीव वस्तुओं से इनकी पारस्परिक संक्रिया से ही सम्भव है । जिससे उनके पारिस्थितिकी तंत्र की स्थिरता सुनिष्चित होती है।

13.10 सारांश

पारिस्थितिकी तंत्र में सजीव एवं निर्जीव तत्वों में क्रिया प्रतिक्रिया चलती रहती है। ऊर्जा के एवं पोषक तत्वों का प्रवाह चलता रहता है और तंत्र की संतुलित अवस्था बनी रहती है। वर्तमान समय में जनसंख्या की विस्फोटकीय वृद्धि एवं पर्यावरण की वहन क्षमता से अधिक संसाधनों के अंधाधुंध दोहन के कारण प्रकृति की स्वनियामक प्रक्रिया में विचलन हो रहा है और पर्यावरण का अवनयन हो रहा है । आज मनुष्य तेजी से वनों का विनाश करता जा रहा है जिसके कारण क्षेत्र की स्थानीय जलवायु, प्रभावित हो रही है । और वैश्विक स्तर पर हमें भूताप वृद्धि, जलवायु परिवर्तन पर्यावरण प्रदूषण जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। पर्यावरण में जैव विविधता की उपस्थिति संतुलित पर्यावरण का द्योतक है तथा संतुलित पर्यावरण एवं जैव विविधता के अपने आर्थिक निहितार्थ होते हैं । आज कई मानव जनित कारणों से अमूल्य पौधे एवं जीव जन्तु विलुप्त हो गये हैं। यदि समय रहते स्थानीय, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पर्यावरण अवनयन को रोकने एवं जैव विविधता के संरक्षण हेतु उपाय न किये गये तो वह दिन अधिक दूर नहीं जब विश्व समाप्ति की कगार पर होगा।

13.11 पारिभाषिक शब्दावली

स्वपारिस्थितिकी - जीवों की एकाकी जाति एवं उसके पर्यावरण के मध्य अन्तर्सम्बन्धों का अध्ययन स्वपारिस्थितिकी कहलाता है।

खाद्य श्रंृखला - पौधों द्वारा भोजन को ऊर्जा के रूप् में संचित करना तथा फिर पौधों से क्रमषः विभिन्न पोषी स्तरों के जीवों में भोजन के साथ इस ऊर्जा के स्थानान्तरण को खाद्य श्रंृखला कहते हैं।

निश - पारितन्त्र में प्रत्येक जैव समुदाय की पदार्थों के विनिमय अथवा ऊर्जा प्रवाह द्वारा संतुलन बनाये रखने में एक विषिष्ट भूमिका होती है जिसे निष कहते हैं।

पोषी स्तर - उपभोक्ता उत्पादकों से अपना भोजन प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार उत्पादक उपभोक्ता अपघटक भोजन से संबंधित श्रंृखला बनाते हैं। जीवीय घटक के प्रत्येक स्तर को पोषी स्तर कहते हैं।

हॉट स्पॉट - ये धरातल पर स्थित वे क्षेत्र हैं जिनमें जैव विविधता स्पष्ट रूप से मिलती है । ये स्थान धरोहर के रूप में रखे जाने चाहिए ।

क्रायोप्रिजर्वेषन - इस तकनीकि के अन्तर्गत दुर्लभ तथा संकटग्रस्त पौधों के जर्मप्लाज्म को बहुत कम ताप पर ;.196°ब्द्ध पर संग्रहित एवं संरक्षित किया जाता है।

विलुप्त प्रजाति - वह प्रजाति जिसका अंतिम जीव भी मर चुका हो एवं जिसका कोई भी जीव वर्तमान समय में नहीं मिलता हो, विलुल्प मानी जाती है।

संकटग्रस्त प्रजाति - एक प्रजाति संकटग्रस्त तब मानी जाती है । जब उसके जीव लगभग समाप्ति के कगार पर हों ।

13.12 लघु उत्तरीय प्रश्न

1. प्रथम पृथ्वी सम्मेलन कब और कहाँ सम्पन्न हुआ ?
2. सबसे अधिक जैव विविधता किस क्षेत्र में पायी जाती है ?
3. हॉट स्पॉट की संकल्पना किसने दी ?
4. भारत में वन्य जैव संरक्षण अधिनियम किस वर्ष पारित हुआ ?
5. रेड डाटा बूक कौन प्रकाशित करता है ?
6. वर्तमान में भारत में कितने जैव मण्डल रिजर्व हैं ?
7. भारत में प्रथम राष्ट्रीय उद्यान कौन सा स्थापित किया गया था ?

उत्तर 1.) 1992 में रियो-डे-जैनरियो 2.) उष्ण कटिबंधीय क्षेत्र 3.) नार्मन मेयर
4.) 1972 5.) प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण का अन्तर्राष्ट्रीय संघ 6.) 14
7.) हैली नेशनल पार्क (वर्तमान नाम जिम कार्बेट राष्ट्रीय उद्यान)

13.13दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. जैव विविधता से आप क्या समझते है इसका संरक्षण किस प्रकार किया जा सकता है?

2. जैव विविधता के संरक्षण के लिए राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर क्या प्रयास किये जा रहे हैं? विस्तार से चर्चा कीजिए।

13.14सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- वर्मा, जी0 एस0 ;2005द्ध पर्यावरण अध्ययनए वसुधा प्रन्टर्सए मेरठ ।
- सन्हा, मेघा (2007द्ध पर्यावरण और पारिस्थितिकीय तंत्रए वन्दना पब्लिकेषन्सए नई दिल्ली ।
- तिवारीए वी0 के0 (1998), पर्यावरण और पारिस्थितिकीए गायत्री ऑफसेट प्रेसए नोएडा

- श्रीवास्तवए वी0 के0 एवं बी0 पी0 राव (1995), पर्यावरण और पारिस्थितिकी वसुन्धरा प्रकाष गोरखपुर ।Sharma, P.D. (2001) Ecology and Environment, Rastogi Publication, Meerut.

इकाई 14 पर्यावरण नीति एवं नियमन

Environmental Policy and Regulation

इकाई संरचना

20.1 प्रस्तावना

20.2 उद्देश्य

20.3 पर्यावरण नीति की आवश्यकता

20.4 पर्यावरण नीति के उद्देश्य एवं सिद्धान्त

20.5 पर्यावरण नीति की रूप रेखा

20.6 पर्यावरण नीति के साधन एवं रणनीति

20.7 राष्ट्रीय वन नीति

20.8 राष्ट्रीय पुनर्वास नीति

20.9 मलिन बस्ती सुधार नीति

20.10 सारांश

20.11 महत्वपूर्ण शब्दावली

20.12 अभ्यास प्रश्न

20.13 निबन्धात्मक प्रश्न

20.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूत्र

20.1 प्रस्तावना

पर्यावरणीय तथा पारिस्थितिकीय आंदोलनों की पूरी धुरी पर्यावरणीय मूल्यों के चहुँ ओर ही घूमती रहती है एवं इन आंदोलनों का प्रमुख उद्देश्य में पर्यावरण से सम्बन्धित समस्याओं के प्रति जनमानस को जागरूक बनाकर उन्हें गतिशीलता प्रदान करना साथ ही उनके संरक्षण हेतु जनसहभागिता से प्रयास करना है। इन आंदोलनों के सन्दर्भ में हम पूर्व की इकाई में व्यापक चर्चा कर चुके हैं।

आधुनिक युग में औद्योगीकरण, नगरीयकरण, भौतिकतावादी जीवन शैली एवं बाजारवाद के चलते पर्यावरण पर संकट के बादल गहराये हैं। जनसंख्या में वृद्धि और तीव्र आर्थिक उन्नति के कारण पर्यावरण पर बोझ बढ़ता है। उन्नति पर्यावरण के लिए सौम्य और टिकाऊ होनी चाहिए। विकास के दौरान इस कार्य हेतु अधिक पर्यावरणीय जानकारी, उचित नीतियाँ और विनियामक तंत्र का होना आवष्यक है।

अतः पर्यावरण नीति के एवं इसके आयाम इस प्रकार से निर्धारित किये जाये कि वह पर्यावरण विभिन्न घटकों जैसे जल, भूमि, वन, जलवायु आदि को अपनी परिधि में समाहित कर सके। इसके लिये पर्यावरण नीति का व्यापक विश्लेषण करने की आवश्यकता है जिसका हम वर्तमान इकाई में व्यापक अध्ययन करेंगे ।

20.2 उद्देश्य

वर्तमान इकाई में हम निम्नवत् उद्देश्यों का अध्ययन करेंगे -

- पर्यावरण नीति की आवश्यकता तथा रूप रेखा क्या है ?
- पर्यावरण नीति के लक्ष्य तथा उद्देश्य कौन से हैं ?
- पर्यावरण नीति के मुख्य आयाम तथा सिद्धान्त क्या हैं ?
- वन नीति का अर्थ, आवश्यकता एवं लक्ष्य कौन से हैं ?
- पुर्नवास की समस्या क्या है तथा इसके सन्दर्भ सरकार की सरकार की क्या नीतियाँ हैं ?
- मलिन बस्तियों की मुख्य समस्या क्या है तथा इसके सन्दर्भ में सरकार की क्या नीतियाँ हैं ?

20.3 पर्यावरण नीति की आवश्यकता

आधुनिक युग में औद्योगीकरण, नगरीकरण, जनसंख्या के अपार बोझ, भौतिकतावादी जीवन शैली एवं बाजारवाद के चलते पर्यावरण पर संकट के बादल न सिर्फ गहराये हैं अपितु आवश्यकताओं के अत्याधिक दवाब के चलते धरती का परिवेश बढ़ा ही दमघोटू सा हो गया है। भारत में भी प्रदूषण जनित पर्यावरण संकट के कारण हमारे जल, भूमि, नदियाँ अपशिष्टों, रसायनों से परिपूर्ण होकर कूड़े-कचरे तथा गन्दे नालों का रूप ले चुकी हैं।

1970 के दशक से विश्वस्तर पर यह जागरुकता प्रसारित होने लगी कि उत्तरोत्तर तीव्र उत्पादन-उपभोग को प्रगति एवं संवृद्धि का पर्याय मानते हुए मानव प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधंुध पोषण कर अपने पर्यावरण एवं परिवेश को जहरीला तथा दमघोटू बना रहा है। अत्यधिक संवृद्धि हेतु संसाधनों के लिए प्रतिस्पर्धा होड़ से आर्थिक सामाजिक असमानता तथा राजनैतिक तनाव पैदा हो रहे हैं। कुल मिलाकर हमारी पृथ्वी पर मानवीय क्रियाकलापों का बोझ संकट स्तर तक पहुँच रहा है तथा

सम्पूर्ण पृथ्वी संतुलन अस्थिर हो गया है। यदि यह क्रम इसी प्रकार जारी रहा तो निकट भविष्य में संसाधन समापन की स्थिति आ जायेगी एवं मानव सभ्यता के अस्तित्व पर ही प्रश्न चिन्ह लग जायेगा। अतः आर्थिक संवृद्धि जनित विनाश के चक्रों से बचने के लिए तथा सम्पूर्ण विश्व स्तर पर पर्यावरणीय संतुलन को बनाये रखने हेतु 5 जून, 1972 से स्वीडन की राजधानी स्टॉकहोम में मानव एवं पर्यावरण पर एक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यक्रम संयुक्त राष्ट्र के तत्वाधान में आयोजित किया गया। इसी सम्मेलन से संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (यू0 एन0 ई0 पी0) का आरम्भ हुआ । इस सम्मेलन में भारत समेत सभी सदस्य देशों से यह अपील की गयी कि वह पर्यावरण संरक्षण हेतु नीतियाँ अधिनियम् तथा कार्यक्रमों को क्रियान्वित करे तथा आर्थिक संवृद्धि की प्रक्रिया में पर्यावरणीय मूल्यों का समावेश करें।

ब्राजील के रियो डि जेनेरो में हुए 1992 में आयोजित पृथ्वी सम्मेलन को आर्थिक संवृद्धि तथा पर्यावरणीय मूल्यों में सामजस्य स्थापित करने के दृष्टिकोण से बड़ा ऐतिहासिक तथा महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। जलवायु परिवर्तन पर क्योटो प्रोटोकॉल 1997 में तैयार किया गया तथा समस्त विकसित एवं विकासशील देशों की भागीदारी के साथ इसको 2005 में लागू किया गया। दक्षिण अफ्रीका के जोहांसबर्ग में आयोजित सतत् विकास पर सम्मेलन आयोजित किया गया एवं इस सम्मेलन में सतत् विकास के साथ पेयजल टिकाऊ कृषि एवं खाद्य सुरक्षा, स्वास्थ्य, ऊर्जा तथा जैव विविधता जैसे विषयों को आत्मसात् किया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक समझौते, सन्धियों, सम्मेलन तथा अभिसमय के पश्चात् आर्थिक संवृद्धि एवं आर्थिक विकास के सिद्धान्तों को पर्यावरण मूल्यों के अनुसार परिभाषित किया जाने लगा है। जिसके कारण सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक तौर पर आर्थिक विकास की प्रक्रिया में पर्यावरण संरक्षण की महत्ता स्थापित हो गयी है। उपरोक्त सभी का यह परिणाम् हुआ कि आर्थिक संवृद्धि तथा विकास के सिद्धान्तों व कार्यक्रमों को पर्यावरण मूल्यों के अनुसार परिभाषित किया जाने लगा। अतः पर्यावरण समस्याओं के साथ-साथ सामाजिक आर्थिक विषमता तथा उसके पर्यावरण पर पड़ने वाले नकारात्मक प्रभावों की रोकथाम् तथा उनके प्रभावी समाधान को भी पर्यावरण संरक्षण से जोड़ा जाना आवश्यक हो गया है । जिसके लिए प्राकृतिक संसाधनों का सम्यक् प्रयोग पर बल दिया जाने लगा है।

भारत में घटित विभिन्न पर्यावरणीय तथा पारिस्थितकीय आंदोलनों ने सिर्फ जनमानस को जागरुक कर पर्यावरणीय मूल्यों के प्रति संवेदनशील बनाया अपितु नीति निर्माताओं को भी इनके संरक्षण की दिशा में समुचित प्रयास करने हेतु बाध्य किया। पर्यावरणीय आंदोलन के कारण सरकारों को संवेदनशील पारिस्थितिकीय क्षेत्रों, निर्माण, खनन आदि गतिविधियों पर रोक लगानी पड़ी है तथा अनेकों छोटी बड़ी परियोजनाओं की समीक्षा करनी पड़ी है। मीडिया, गैर सरकारी संगठन (एन0 जी0 ओ0), पर्यावरण प्रेमियों एवं वैज्ञानिकों के निरन्तर प्रयासों के कारण भारत सरकार ने राष्ट्रीय उद्यानों बायोस्फेयर रिजर्वों, प्रोजेक्ट टाईगर की स्थपना कर दुर्लभ तथा संरक्षित जीव जन्तुओं की सुरक्षा हेतु ठोस प्रयास आरम्भ करने पड़े हैं। सरकार द्वारा वन एवं पर्यावरण मंत्रालय का गठन किया गया तथा आम जनता की भागीदारी वनों के प्रबन्धन में सुनिश्चित करने के उद्देष्य से संयुक्त वन प्रबन्धन, सामाजिक वानकी आदि को बढ़ावा दिया गया हैं।

अतः पर्यावरण प्रभाव मूल्यांकन, पर्यावरण पुनर्जनन, पर्यावरण और वानिकी अनुसंधान, शिक्षा और प्रशिक्षण, पर्यावरण की जानकारी, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और पर्यावरण के प्रति जागरुकता के सृजन को लागू करने के उद्देश्य से राष्ट्रीय पर्यावरण नीति 2006 निर्मित की गयी हैं ।

20.4 पर्यावरण नीति के उद्देश्य एवं सिद्धान्त

पर्यावरण नीति के उद्देश्य एवं सिद्धान्त को इस प्रकार निर्मित किया गया है जिससे पर्यावरण में निहित तत्वों एवं संसाधनों का स्रोत अक्षुण्ण बना रहे तथा उनका उपयोग सांतत्य सुनिश्चित हो सके अर्थात् संसाधनों का उसी सीमा तक प्रयोग किया जाये जहाँ तक उनके पुननिर्माण की प्रक्रिया अविछिन्न बनी रहे साथ ही समतापूर्ण आर्थिक सामाजिक विकास सुनिश्चित किया जा सके।

20.4.1 पर्यावरण नीति के उद्देश्य - इस नीति के उद्देश्य निम्नवत् हैं -

- महत्वपूर्ण पारिस्थितिकी प्रणालियों, पर्यावरणीय संसाधनों, प्राकृतिक तथा मानव निर्मित धरोहरों का संरक्षण।
- पर्यावरणीय संसाधनों की पहुँच तथा गुणवत्ता में इस प्रकार समता स्थापित करना कि निर्धन समुदाय समेत सभी को यह संसाधन सुलभ हों।
- वर्तमान तथा भावी पीढ़ियों की आवष्यकता हेतु पर्यावरणीय संसाधनों का न्यायोचित प्रयोग सुनिश्चित करना।
- आर्थिक सामाजिक विकास में पर्यावरणीय सरोकारों को सुनिश्चित करना।
- पर्यावरणीय संसाधनों के प्रयोग, प्रबन्धन एवं विनयमन में दक्षता, जबावदेही, सहभागिता और पारदर्शिता सुनिश्चित करना।
- पर्यावरण के संरक्षण हेतु जनजागरुकता तथा राष्ट्रीय, एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग विकसित करना।

20.4.2 पर्यावरण नीति के सिद्धान्त - यह नीति निम्न सिद्धान्तों पर आधारित हैं -

- मानव विकास का केन्द्र है एवं वर्तमान तथा भावी पीढ़ी की आवश्यकताओं की समान पूर्ति का अधिकार दिया जाना चाहिए।
- पर्यावरणीय सुरक्षा अविच्छिन्न विकास का अभिन्न अंग है ।
- पर्यावरण से सम्बन्धित विभिन्न सार्वजनिक कार्यों में आर्थिक क्षमता प्राप्त करने का प्रयास किया जाये ।
- इस नीति में प्रदूषणकर्त्ता द्वारा किये गये प्रदूषण का उत्तरदायित्व प्रदूषणकर्त्ता पर स्थापित करने का प्रयास किया गया है ।

ऽ इस नीति में समता के सिद्धान्त को महत्व दिया गया है, यह समता वर्तमान पीढ़ी में सभी के मध्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है साथ ही वर्तमान तथा भावी पीढ़ियों के मध्य भी समता स्थापित करने का प्रयास किया गया है। जिससे समाज में किसी को भी संसाधनों की कमी का सामना न करना पड़े ।

ऽ सार्वजनिक न्यास के सिद्धान्तों के अनुरूप राज्य को सभी प्राकृतिक संसाधनों का पूर्ण स्वामित्व प्राप्त नहीं है अपितु वह मात्र उन संसाधनों ट्रस्टी मात्र है ।

ऽ पर्यावरणीय मानक आर्थिक सामाजिक विकास की स्थिति को परिलक्षित करने में सक्षम होने चाहिए ।

20.5 पर्यावरण नीति की रूपरेखा

देश के प्राकृतिक संसाधनों जैसे झीलें और नदियाँ, इसकी जैव विविधता, वन और वन्य जीवन के संरक्षण और प्रदूषण से बचाव को सुनिश्चित करने से सम्बन्धित नीतियों व कार्यक्रमों का क्रियान्वयन करने हेतु पर्यावरण एवं वन मंत्रालय का गठन 1985 में किया गया। पर्यावरण संरक्षण उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अनेक कानून और विनियामक उपाय किए गए हैं। हमारे देश के संविधान में अनुच्छेद 48 (ए) में राज्य के नीति निर्देशक तत्वों तथा अनुच्छेद 51 ए (जी) में आम नागरिकों के मूल कर्तव्यों के अन्तर्गत पर्यावरण संरक्षण के दायित्व निर्धारित किये गये हैं । इसी सन्दर्भ में तीस से भी अधिक कानूनों को लागू किया गया है। जिनमें वन संरक्षण अधिनियम 1980, जल प्रदूषण एवं निवारण अधिनियम 1974, तथा वायु प्रदूषण एवं अधिनियम् 1981 आदि प्रमुख हैं। इन अधिनियमों को केन्द्रीय तथा राज्य प्रदूषण नियन्त्रण बोर्डों जैसे संगठनों के माध्यमों से लागू किया जाता है ।

कानूनों के अलावा राष्ट्रीय संरक्षण रणनीति तथा पर्यावरण और विकास पर नीतिगत वक्तव्य 1992, राष्ट्रीय वन नीति 1988, प्रदूषण नियन्त्रण वक्तव्य 1992, जनसंख्या नीति 2000 और राष्ट्रीय जल नीति 2002 भी गठित किये गये हैं। पर्यावरण प्रभाव मूल्यांकन, पर्यावरण पुनर्जनन, पर्यावरण और वानिकी अनुसंधान, शिक्षा और प्रशिक्षण, पर्यावरण की जानकारी, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और पर्यावरण के प्रति जागरुकता के सृजन को लागू करने के उद्देष्य से राष्ट्रीय पर्यावरण नीति 2006 निर्मित की गयी है ।

- पर्यावरण नीति में यह स्वीकार किया गया है कि स्वच्छ पर्यावरण बनाना मात्र सरकार की ही जिम्मेदारी नहीं है अपितु यह प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है अतः आम नागरिक की पर्यावरण संरक्षण में सहभागिता आवश्यक है पर्यावरण नीति के अन्तर्गत सभी विकासात्मक गतिविधियों में पर्यावरणीय विषयों को मुख्य धारा में शामिल करना है। इस नीति में ढंग के समक्ष मौजूदा तथा भविष्य में आने वाली प्रमुख पर्यावरणीय चुनौतियों, पर्यावरण नीति के उद्देश्यों, नीतिगत कार्यवाही को रेखांकित करने वाले मानक सिद्धान्तों, हस्तक्षेप सम्बन्धी कार्यनीतिक थीमों, को पूरा

करने के लिये जरूरी वैधानिक तथा संस्थागत विकास के सामान्य संकेतों तथा कार्यान्वयन और समीक्षा कार्यतंत्रों आदि को समाहित किया गया है ।

- राष्ट्रीय पर्यावरण नीति में नियामक सुधारों पर्यावरणीय संरक्षण से सम्बन्धित कार्यक्रमों तथा परियोजनाओं और केन्द्र, राज्य एवं स्थानीय सरकारों की ऐजेंसियों द्वारा कानून बनाने तथा उसकी पुनरीक्षा करने के कार्य में एक निर्देशिका के रूप में बनाने की व्यवस्था की गयी है। यानि विभिन्न निकायों के लिये यह दिशा निर्देश की तरह कार्य करें।
- इस नीति का प्रमुख थीम यह है कि पर्यावरणीय संरक्षण के साथ आजीविका की सुरक्षा आवश्यक है एवं संरक्षण का सबसे सुरक्षित आधार यह सुनिश्चित करना है कि लोग उन संसाधनों के अवक्रमण के बजाय उनके संरक्षण द्वारा बेहतर आजीविका प्राप्त कर सके एवं निरन्तर संसाधनों के संरक्षण में सहभागिता निभाते रहें।
- इस नीति का लक्ष्य विभिन्न स्टेक होल्डरों अर्थात् हित धारकों जैसे सार्वजनिक ऐजेन्सियों, स्थानीय समुदायों, शैक्षिक एवं वैज्ञानिक संस्थानों, निवेशकों तथा अन्तर्राष्ट्रीय विकास भागीदारों के मध्य पर्यावरणीय प्रबन्धन के लिये अपने अपने संसाधनों और क्षमताओं के नियन्त्रण व उपयोग के मामले में सहभागिता विकसित करना है।
- इस नीति में लक्ष्यों, साधनों सिद्धान्तों तथा उनके लिये आवश्यक रणनीतियों पर चर्चा की गयी है। पर्यावरणीय संसाधनों भूमि, वन, जल आदि के संरक्षण, प्रबन्धन एवं प्रदूषणों से रोकथाम हेतु नीतियों एवं कार्ययोजनाओं का विस्तार किया गया है साथ ही संवेदनशील क्षेत्रों एवं तंत्रों जैसे आर्द भूमियों, पर्वतों, झीलों, तटीय प्रदेशों आदि हेतु भी लक्षित कार्यक्रमों को तैयार किया गया है।

20.6 पर्यावरण नीति के साधन एवं रणनीति

पर्यावरण नीति के सिद्धान्तों, लक्ष्यों के अनुरूप साधनों तथा रणनीतियों की रचना की गयी है। जोकि निम्नवत् हैं –

- विकेन्द्रीयकृत उत्तरदायित्व - राज्य एवं स्थानीय निकायों को स्वयं की पर्यावरण नीतियों तथा कार्ययोजनाओं को बनाने हेतु प्रोत्साहित किया जायेगा।

- विनायमक एवं वैधानिक सुधार - पर्यावरण संरक्षण हेतु ठोस वैधानिक ढाँचा तथा मजबूत विनायमक तंत्र विकसित किया जायेगा। पर्यावरण व प्रदूषण सम्बन्धी विभिन्न कानूनों जैसे जैव विविधता अधिनियम, वन अधिनियम, जल प्रदूषण निवारण अधिनियम, वायु प्रदूषण निवारण अधिनियम आदि की समीक्षा की जायेगी।

- प्रक्रियात्मक सुधार - पर्यावरण सम्बन्धी स्वीकृतियों में अनावश्यक देरी को कम तीव्र किया जायेगा एवं पर्यावरणीय कार्यों में पारदर्शिता तथा विकेन्द्रीकरण सुनिश्चित किया जायेगा।

- पर्यावरणीय प्रबन्धन एवं अनुपालन (मॉनीटरिंग) - पर्यावरणीय संसाधनों के प्रबन्धन में बेहतर तथा एकीकृत रणनीति संस्थागत की जायेगी। पर्यावरण अनुपालन मॉनीटरिंग हेतु स्थानीय संस्थाओं के

साथ-साथ सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र की सहभागिता सुनिश्चित की जायेगी, सूचना एवं प्रौद्योगिकी तथा संचार साधनों के माध्यम से पर्यावरण प्रबन्धन सुनिश्चित करना।

- संवेदनशील क्षेत्रों की पहचान - देष में पर्यावरणीय दृष्टि से संवेदनशील ऐसे क्षेत्रों की पहचान करना एवं उन्हें वैद्यानिक रूप प्रदान करना जो अतुलनीय महत्व के साथ पर्यावरणीय रूप से अपना अलग स्थान रखते हैं और ऐसे क्षेत्रों के संरक्षणी हेतु स्थानीय समाज की सहभागिता तथा आधार पर विकास योजनायें बनाना।

- पर्यावरण सूचना तंत्र - दूर संचार एवं संवेदी उपग्रह प्रणालियों मीडिया, शिक्षण संस्थानों, उद्योग संगठनों आदि के माध्यम से पर्यावरणीय ज्ञान, अनुसंधान एवं व्यापक सूचना नेटवर्क विकसित करना। पर्यावरणीय तथा प्राकृतिक संसाधनों जैसे नदियों, भूजल, पर्वतों, वनों, आद्र भूमियों आदि के गुणवत्ता तथा विस्तार के सम्बन्ध में डाटा बैंक को अद्यतन रखना।

- पर्यावरण शिक्षा एवं जागरुकता - व्यापक पर्यावरण जागरुकता कार्यक्रमों तथा पाठ्यक्रमों के माध्यम से पर्यावरण शिक्षा को प्रोत्साहित करना तथा पर्यावरणीय जागरुकता हेतु औद्योगिक संस्थानों, मीडिया एवं सामाजिक संगठनों के प्रयास को विकसित करना।

- क्षमता निर्माण - पर्यावरणीय मामलों से सम्बन्द्ध संस्थानों, सार्वजनिक, निजी, स्वैच्छिक, शैक्षिक अनुसंधान और मीडिया में क्षमता निर्माण निरन्तर सुनिश्चित किया जाये ।

- अनुसंधान और विकास - पर्यावरणीय विषयों के बारे में वैज्ञानिक ज्ञान के तेजी से विकसित किया जाये तथा इस दिषा में सक्षम संस्थाओं द्वारा समुचित सकेन्द्रित अनुसंधान को प्रोत्साहित किया जाये ।

- स्वच्छ विकास तंत्र - इस प्रक्रिया में भाग लेने हेतु वित्तीयन के लिये स्वच्छ विकास परियोजनाओं की पहचान कर उन्हें तैयार करने हेतु भारतीय उद्योग को प्रोत्साहित किया जाये साथ ही स्वच्छ प्रौद्योगिकी परियोजनाओं के विकास को भी बढ़ावा दिया जाये।

- पर्यावरणीय प्रभावों का मूल्यांकन - पर्यावरणीय प्रभावों के मूल्यांकन में आर्थिक सामाजिक सरोकारों को समाहित किया जायेगा।

- पर्यावरणीय मानकों, प्रमाणीकरण एवं संकेतक - पर्यावरण के विभिन्न आयामों एवं प्रभावों के मूल्यांकन हेतु ठोस क्रिया तथा वस्तुपरक मानकों, प्रणालियों, प्रमाणीकरण तथा संकेतकों का विकास करना। इस दिशा में ईको लेवालिंग, आई0 एस0 ओ0 14,000 जैसी प्रमाणन प्रणाली के प्रयोग को विकसित करना।

- प्रभावी पुर्नवास तथा आजीविका सुरक्षा - विभिन्न व्यापक विकास परियोजनाओं की पर्यावरणीय समीक्षा के अन्तर्गत परियोजनाओं से प्रभावित स्थानीय समुदाय का प्रभावी पुर्नवास सुनिश्चित करते हुए उनके आजीविका के वैकल्पिक स्रोत को सुनिश्चित करना ।

- लागत-लाभ विश्लेषण - पर्यावरणीय तथा प्राकृतिक संसाधनों पर विकास कार्यों के प्रभाव का पारस्परिक मूल्यांकन हेतु समुचित लागत-लाभ विश्लेषण सुनिश्चित करना।

- अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग - पर्यावरण संरक्षण एवं प्रबन्धन हेतु विशेष तौर पर बहुपक्षीय अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों की वचन बद्धताओं के सन्दर्भ में द्विपक्षीय क्षेत्रीय तथा बहुपक्षीय सहयोग को विकसित किया जाये।

- अक्षय ऊर्जा - ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों के विकास हेतु प्रयास करना तथा अक्षय ऊर्जा के संसाधनों जैसे जल, सौर, पवन आदि के विकास को प्रोत्साहित करना।

- जलवायु परिवर्तन - जल संसाधनों, वनों, तटीय क्षेत्रों, कृषि तथा स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभावों के सन्दर्भ में भारत में प्रमुख जलवायु सम्बन्धी संवेदनशीलता की पहचान करना। जलवायु परिवर्तन के खतरों से निपटने हेतु हरित गैसों के उत्सर्जन में कटौती करना तथा इस सन्दर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों तथा प्रतिबद्धताओं को सुनिष्चित करना।

- यातायात कार्यनीति - अल्प प्रदूषण वाली व्यापक परिवहन प्रणाली में पर्याप्त सार्वजनिक तथा निजी निवेश सुनिश्चित करने हेतु शहरी यातायात के लिये राष्ट्रीय कार्यनीति तैयार करना।

- अपशिष्ट उपचार - कूड़े-कचरे तथा अपशिष्टों के लिये ठोस उपचारी एवं वैज्ञानिक प्रयास सुनिश्चित करना तथा अपशिष्टों के शोधन, पुनःप्रयोग तथा पुनः चक्रण हेतु सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र के सहभागिता के माध्यम से परियोजनाओं विकसित करना ।

- वैज्ञानिक दोहन - प्राकृतिक संसाधन जैसे वनों भूजल आदि को वैज्ञानिक दोहन सुनिश्चित करना, भूमिगत रिचार्ज को बढ़ाने हेतु वर्षा जल उपयोग, जल संचयन को बढ़ावा देना एवं शहरी क्षेत्रों में समस्त निर्माण कार्यों में कृत्रिम रिचार्ज की अवसंरचना को अनिवार्य बनाना।

- सहभागिता और हित धारक (स्टेक होल्डर) भागीदारी - पर्यावरण के सरंक्षण में सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र की संस्थाओं, उद्योग संघ, अनुसंधान संस्थान, सामुदायिक संगठन, मीडिया आदि के पर्यावरण संरक्षण हेतु सहभागिता सम्बन्धी प्रयास सुनिश्चित किये जायेगें।

20.7 राष्ट्रीय वन नीति

पारिस्थितिकीय संतुलन को बनाये रखने के लिए वनों का सही प्रबंधन अति आवश्यक हैं। वनों के प्रबंधन के सामान्य नियम राष्ट्रीय वन नीति के अनुसार निर्धारित होते हैं। भारत की प्रथम राष्ट्रीय वन नीति वर्ष **1894** में घोषित की गई थी। स्वतंत्रता के बाद भारत शासन के खाद्य एवं कृषि मंत्रालय

के द्वारा राष्ट्रीय वन नीति को वर्ष 1952 में पुनरीक्षित किया गया। इस वन नीति के मुख्य बिन्दु निम्नानुसार थे -

- निर्वनीकरण पर रोक लगाना व भू-क्षरण को रोकना ।
- सभी प्रकार की भूमि का उपयोग इस प्रकार किया जाए, जिससे उत्पादन अधिक से अधिक हो व भूमि को कम से कम क्षति पहुंचे ।
- ग्रामीणों को जलाऊ काष्ठ की सुविधा प्रदान करना, जिससे कि गोबर को ईंधन के रूप में उपयोग को रोका जा सके तथा इसे खाद के रूप में उपयोग में लाया जा सके ।
- कृषि औजारों के लिए छोटी लकड़ी की आवश्यक मात्रा में उपलब्धता सुनिश्चित् करना।
- रक्षा, संचार एवं उद्योगों के लिए आवश्यक इमारती काष्ठ एवं अन्य वनोपज प्रदान करना ।
- जलवायु की स्थिति सुधारने के लिए वृक्षों से आच्छादित भूमि जगह-जगह पर विकसित करना।
- वन्य प्राणियों का संरक्षण करना ।
- उपरोक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के पश्चात् वनों से अधिक से अधिक राजस्व प्राप्त करना।

20.7.1 राष्ट्रीय वन नीति **1988 -** भारत में कृषि तथा खाद्यान्न मंत्रालय ने वर्ष **1952** में वन नीति की घोषणा की जोकि भारत में समस्त राज्यों में लागू है। **1952** की राष्ट्रीय वन नीति के बाद देश में आर्थिक ,सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में अत्यधिक विकास हुआ है। स्वतन्त्रता के पश्चात् से व्यापक पैमाने पर वृक्षारोपण की योजनायें तथा क्रियान्वित किये गये हैं परन्तु बढ़ती वनोत्पादों जैसे ईंधन, चारा, टिम्बर, रेशा जड़ी बूटियों आदि की बढ़ती माँग के चलते वन संसाधनों का गम्भीर अवनयन हुआ है। वन सम्पदा के अन्धाधुंध दोहन को अपूर्ण संरक्षण प्रयासों, वनभूमि के अन्य उपयोग हेतु दोहन, व्यापक क्षतिपूरक तथा संरक्षणात्मक उपायों तथा वनों के प्रबन्धन में जन सहभागिता के अभाव के चलते वनों तथा वन भूमि का अवक्रमण निरन्तर जारी है। अतः वन, वन्य जीवन एवं वन संसाधनों के संरक्षण, प्रबन्धन संवृद्धि एवं विवेकपूर्ण, युक्ति संगत तथा धारणीय प्रयोग की संकल्पना ने भारत में वन नीति की समीक्षा कर नये सिरे से पुर्नगठन करने की आवश्यकता को जन्म दिया। अतः वर्ष **1988** में वन तथा पर्यावरण मंत्रालय द्वारा नयी पर्यावरण नीति को सारे देश में लागू किया। जिसके मूलभूत बिन्दु निम्नानुसार है -

20.7.2 राष्ट्रीय वन नीति **1988** के उद्देश्य - वन नीति के मूलभूत उद्देश्य निम्नानुसार है -

- राष्ट्रीय वन नीति **1988** का मुख्य उद्देश्य पर्यावरण स्थिरता तथा परिस्थितिकीय सन्तुलन को संतुलित करना हेै, क्योंकि यह समस्त जीव जन्तुआंे, मानव, पशुआंे, पक्षियांे, पौधों सभी के लिए आवश्यक है। उपरोक्त उद्देश्यांे की पूर्ति के उपरान्त ही आर्थिक लाभ की प्राप्ति के उद्देश्य को रखा गया है। इसके लिए देश की कुल भूमि का कम से कम एक तिहाई क्षेत्र वन या वृक्षाच्छादित क्षेत्र करने का राष्ट्रीय लक्ष्य पूरा होना चाहिए ।
- देश के वनों को गंभीर क्षरण से दुष्प्रभावित परिस्थितिकीय असंतुलन को पुनःस्थापित करना तथा पर्यावरणीय स्थायित्व का अनुरक्षण एवं रख रखाव करना।
- विशिष्ट जैविक भिन्नता तथा जीव स्रोतों से परिपूर्ण वनस्पति एवं जीव-जन्तु वाले शेष वनांे के अनुरक्षण द्वारा देश की प्राकृतिक विरासत का संरक्षण करना।

- बाढ़ तथा सूखा के प्रभाव को कम करने व जलाशयांे मे मिट्टी भरने की मात्रा कम करने के लिए मृदा व जल संरक्षण हेतु नदियों, नालों तथा जलाशयों के जल ग्रहण क्षेत्र मे भू-क्षरण तथा निर्वनीकरण को रोकना।
- राजस्थान के मरूस्थल व तटीय क्षेत्रों मे बढ़ते रेतीले टीलों की रोकथाम करना।
- समस्त देश में वनीकरण तथा सामाजिक वानिकी कार्यक्रमांे द्वारा वन/वृक्ष क्षेत्र की मात्रा मंे, विशेष तौर पर निरावृत्त; अवनत तथा अनुत्पादन भूमि पर पर्याप्त बढ़ोत्तरी करना।
- ग्रामीण व आदिवासी जनसंख्या की जलाऊ लकड़ी, चारा, लघु वनोपज तथा छोटी काष्ठ की आवश्कताओं को पूरा करना।

20.7.3 राष्ट्रीय वन नीति की रणनीति **1988**, राष्ट्रीय वन नीति के लक्ष्यों के अनुरूप साधनों तथा रणनीतियों की निम्नवत् रचना की गयी है -

- आवश्यक राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु वनो की उत्पादकता मंे वृद्धि करना।
- काष्ठ के विकल्पांे तथा वनोपज के दक्ष उपयोग को प्रोत्साहित करना।
- इन उद्देश्यों की पूर्ति तथा वर्तमान वनांे के दबाव को न्यूनतम करने हेतु महिलाओं की भागीदारी से प्रभावी आन्दोलन का निर्माण करना।
- बढ़ती हुई खाद्य की आवश्यकता को देखते हुए वानिकी के लिये अच्छे तथा उत्पादक कृषि भूमि के उपयोग को हतोत्साहित करना।
- जैविक विविधता के संरक्षण के लिये राष्ट्रीय उद्यानांे, अभ्यारण्यांे, जीव मंडल रिजर्व तथा अन्य संरक्षित क्षेत्रांे को मजबूत करना और इनका पर्याप्त रूप से विस्तार करना।
- वनों के क्षरण को रोकने के लिए विशेष रूप से वनों के समीपस्थ क्षेत्रों हेतु, समुचित चारा, ईंधन व घास की व्यवस्था आवश्यक है। चूँकि ग्रामीण क्षेत्रांे मंे ऊर्जा का मुख्य óोत जलाऊ लकड़ी है। अतः तेजी से बढ़ने वाले पौधों के वनरोपण मंे तेजी लाना जिससे ग्रामीणों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ईंधन की लकड़ी के उत्पादन मंे वृद्धि करने पर विशेष बल दिया जा सकें।
- लघु वनोपज, वनांे तथा आसपास रहने वाले जन समुदायांे एवं जन जातियों को पोषण प्रदान करते हैं। रोजगार के अवसर तथा आय मंे बढ़ोत्तरी का ध्यान रखते हुए ऐसे उत्पादांे की सुरक्षा एवं उत्पादन मंे वृद्धि तथा सुधार करना।
- समस्त निरावृत्त एवं अवनत भूमि पर आवश्यकता पर आधारित तथा समयबद्ध वनीकरण, विशेषतः जलाऊ रोपण तथा चारागाह विकास हेतु प्रभावी कार्यक्रम एक राष्ट्रीय आवश्यकता है । वन भूमि के निर्वनीकरण वाली योजनाओं तथा कार्यक्रमों पर कड़ाई से रोक लगाई जानी चाहिये ।
- वैज्ञानिक तथा तकनीकी प्रणाली का उपयोग कर वनाच्छादित क्षेत्र एवं इसकी उत्पादकता में बढ़ोत्तरी किया जाना चाहिए, जिसका उद्देश्य प्राकृतिक वनों को बिना नष्ट किए मांग तथा पूर्ति के अंतराल को कम करने का होना चाहिए । वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा स्थापित होने के पश्चात ही बाह्य प्रजातियों का रोपण किया जाना चाहिए तथा यथा सम्भव घरेलू प्रजातियों को प्राथमिकता दिया जाना चाहिये ।
- वन क्षेत्रों में चराई व अन्य अधिकार तथा सुविधाओं की मात्रा वनों की धारण या वहन क्षमता के अनुकूल निर्धारित की जानी चाहिए। शेष आवश्यकता की पूर्ति आरक्षित वनों से बाहर सामाजिक वन व सामुदायिक वनों का विकास कर की जानी चाहिए।

- वनों में तथा आसपास रहने वाले समुदायों, जन जातियों के वनोपज से सम्बद्ध अधिकार एवं सुविधाओं को प्राथमिकता दी जानी चाहिए तथा वनों के अनुरक्षण तथा विकास में उनकी भागीदारी विकसित की जानी चाहिए।
- लकड़ी की पूर्ति में कमी को देखते हुए उपयुक्त विकल्प विशेषतः ग्रामीण क्षेत्रों में लोकप्रिय बनाये जाने चाहिये।
- गैर वानिकी कार्यो हेतु वन भूमि के उपयोग वाली योजनाओं का सामाजिक तथा पर्यावरणीय मूल्य/लाभ विश्लेषण किया जाना चाहिए। ऐसे प्रकरणों में क्षतिपूर्ति वनीकरण हेतु उपयुक्त प्रावधान आवश्यक रूप से किया जाना चाहिये।
- वन प्रबन्ध योजनाओं में वन्य प्राणी संरक्षण तथा प्रबंधन हेतु प्रावधान सम्मिलित किये जाने चाहिये।
- उपयुक्त खनन प्रबंध योजना तैयार की जानी चाहिये जिसमें खनन के उपरांत वनीकरण का प्रावधान आवश्यक रूप से सम्मिलित हो। इसके बिना खनन की अनुमति नहीं प्रदान की जानी चाहिये।
- रोजगार तथा आय के समुचित अवसर उपलब्ध कराने के साथ-साथ वनों पुनरुत्पादन तथा विकास में जनजातियों की क्रियाशील भागीदारी सुनिश्चित की जानी चाहिये। ठेकेदारी प्रथा के स्थान पर सहकारी समितियों अथवा शासकीय निगमों द्वारा कार्य किया जाना चाहिए।
- लघु वनोपज के रक्षण, पुनरुत्पादन, संग्रहण एवं विपणन की संस्थागत व्यवस्था हेतु समुचित ध्यान दिया जाना चाहिये।
- राजस्व ग्रामों की तरह वन ग्रामों को भी विकसित किया जाना चाहिये।
- आदिवासी हितग्राहियों के जीवन स्तर सुधारने हेतु परिवार मूलक योजनाओं पर जोर दिया जाना चाहिये।
- वन क्षेत्रों में अतिक्रमण की रोकथाम हेतु प्रभावी कदम उठाये जाने चाहिये तथा ऐसे अतिक्रमण व्यवस्थापित नहीं किये जाने चाहिये।
- वनों में लगने वाली आग पर नियंत्रण करने के लिये आधुनिक एवं विकसित अग्निरोधक प्रणालियों का उपयोग किया जाना चाहिए।
- वन क्षेत्रों में चराई का समुचित नियमन किया जाना चाहिये। पुनरुत्पादन क्षेत्र, वृक्षारोपण क्षेत्र तथा विशेष संरक्षित क्षेत्रों को चराई से पूर्णरूपेण रक्षित किया जाना चाहिए।
- वनों को मात्रा राजस्व प्राप्ति का स्रोत नहीं माना जाना चाहिए। वन हमारी राष्ट्रीय विरासत हैं। वनों का संरक्षण जन कल्याण तथा राष्ट्र कल्याण के लिए अत्यंत आवश्यक है।
- पर्यावरणीय संतुलन, जैव विविधता के संरक्षण, जीवन पद्धति के पोषण के लिए वनों के बहुमुखी योगदान को देखते हुये वनों का प्रबंधन पुनरीक्षित वन नीति के उद्देश्यों को प्राप्त करने हेतु किया जाना चाहिये।

भारत सरकार द्वारा 1988 में राष्ट्रीय वन नीति की घोषणा की गई जो उत्तराखण्ड सहित सभी राज्यों में लागू है। इस आलोक में उत्तराखण्ड की वष 2001 में राज्य वन नीति प्रतिपादित की गई।

20.7.4 स्थानीय जनता की भागीदारी - भारत सरकार एवं राज्य सरकार ने जनता की भागीदारी को महत्व दिया है। भारत सरकार के पर्यावरण एवं वन मंत्रालय ने दिनांक 1 जून, 1990 को संयुक्त वन प्रबन्धन के सन्दर्भ में निर्देश प्रसारित किये हैं, कि वनों की सुरक्षा में समीपस्थ ग्रामवासियों की भागीदारी सुनिश्चित की जाये एवं इसके लिए वन सुरक्षा समितियों का गठन किया जाए तथा सक्रिय

सहयोग एवं सुरक्षा के एवज में वन क्षेत्रों से प्राप्त होने वाले राजस्व का कुछ हिस्सा प्रोत्साहन राशि के रूप में दिया जाए। इसी तरह बिगड़े वन क्षेत्रों में पुनर्वनीकरण हेतु जनता से सहयोग प्राप्त करने एवं उनकी भागीदारी के लिए ग्राम वन समिति गठित करने एवं सहयोग के एवज में प्रोत्साहन के लिए ग्रामवासियों को इन क्षेत्रों से उत्पादित वनोपज का कुछ अंश देने बाबत भी निर्देश जारी किये गये हैं।

शेष क्षेत्र में सुरक्षा की दृष्टि से एवं जैविक दबाव के कारण बिगड़े वन क्षेत्रों के पुर्ननिर्माण के प्रयास में ग्रामीणों का सहयोग प्राप्त करने के लिये पंचायतों के माध्यम से वनों के **5** किमी**0** की सीमा में आने वाले ग्रामों/ग्राम समूहों में ग्राम वन समिति का गठन किया जाये तथा पुनर्वनीकरण के फलस्वरूप उक्त क्षेत्र से मुख्य पातन के द्वारा होने वाली इमारती एवं जलाऊ लकड़ी से प्राप्त शुद्ध आय का अंश तथा विरलन सफाई आदि से प्राप्त अंतरिम उत्पादन की शुद्ध आय का शत प्रतिशत ग्राम वन समिति को दिया जाये । यदि समिति आय के बदले में विरलन सफाई आदि से प्राप्त उत्पाद चाहती है तो पूरा उत्पाद समिति को दिया जाये ।

20.7.5 सामाजिक वानकी - सामाजिक सहभागिता के माध्यम से वनों का संरक्षण, संवर्द्धन तथा विकास सुनिश्चित करने तथा वनों के माध्यम से ईंधन, लकड़ी, चारा, फल एवं रेशे की आपूर्ति तथा अतिरिक्त आय सुनिश्चित करने के उद्देश्य से भारत में सामाजिक वानकी **1976** में आरम्भ की गयी। कृषि वानकी, सामुदायिक वानकी तथा शहरी वानकी इसी सामाजिक वानकी की प्रक्रिया के ही विस्तार है।

20.7.6 वनाधिकार सम्बन्धी मान्यता अधिनियम **2006**, वनों के संरक्षण एवं संवर्द्धन के साथ स्थानीय निवासियों के अधिकारों तथा आजीविका की सुरक्षा को सुनिश्चित करने के उद्देष्य से भारत सरकार द्वारा अनुसूचित जनजाति और अन्य परम्परागत वनवासी (वन अधिकारों सम्बन्धी मान्यता) अधिनियम, **2006** को लागू किया गया है इसके अन्तर्गत भारत सरकार द्वारा वनों के भीतर तथा आस-पास रहने वालों को लघुवन इत्यादि का संग्रहण स्वामित्व, प्रोसेसिंग, व्यापार और विपणन सम्बन्धी अधिकार को सुरक्षा प्रदान की गयी। इससे वनों पर आश्रित लोगों की आर्थिक स्थिति में सुधार होगा तथा गरीबी निवारण, टिकाऊ विकास एवं पर्यावरण संरक्षण हेतु सह**ó**ाब्दी के विकास लक्ष्यों (डेवलपमेन्ट गोल्स) की प्राप्ति में सहायता प्राप्त होगी।

20.8 राष्ट्रीय पुनर्वास नीति

आर्थिक विकास की प्रक्रिया को तीव्र करने के उद्देश्य से भारत में आजादी के पश्चात् बड़े पैमाने पर जल, जल विद्युत, औद्योगिक, यातायात सिंचाई आदि परियोजनाओं को क्रियान्वित करना पड़ा, जिसमें भारी पैमाने पर परियोजना क्षेत्र में निवास करने वाली जन मानस को विस्थापन के संकट का सामना करना पड़ा ।

इस प्रकार की परियोजनाओं के विकास के लिए भूमि अधिग्रहण कानून, **1984** के अन्तर्गत भूमि का अनिवार्य अधिग्रहण किया जाता है । इस प्रकार के अनिवार्य अधिग्रहण के कारण जनता को अपना घर, परिसम्पत्तियाँ तथा आजीविका के साधन त्यागने पर मजबूर होना पड़ता है यानि भूमि के साथ-साथ अपनी आजीविका तथा संसाधनों के आधार से भी वंचित होना पड़ता है। इस विस्थापन के गंभीर मनोवैज्ञानिक, आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक परिणाम होते हैं। देश में अनेकों ऐसे उदाहरण हैं जबकि इस प्रकार की स्थिति में भयानक संघर्ष की स्थिति सामने आ गयी जिससे जान तथा माल की

काफी क्षति हुई है। ऐसे उदाहरण पश्चिमी बंगाल में नंदीग्राम से लेकर उत्तर प्रदेष के भट्टा पारसौल गाँवों के हाल के संघर्षों में परिलक्षित हुए हैं। अतः विस्थापन की समस्या को गंभीरता तथा दूरदृष्टि से सुलझाने की आवश्यकता होती है अतः इस दिशा में भूमि संसाधन विभाग, ग्रामीण विकास मंत्रालय द्वारा 2003 में राष्ट्रीय पुनः स्थापना तथा पुनर्वास नीति निम्न उद्देश्यों के साथ निर्धारित की।

- विस्थापन को न्यूनतम करना तथा गैर विस्थापन या न्यूनतम विस्थापन के विकल्पों को चुनना।
- जनजातीय तथा संवेदनशील वर्गों की विषेष आवष्यकताओं सहित परियोजना से प्रभावित परिवारों के पुनर्वास और पुनःस्थापना की योजना बनाना।
- परियोजना से प्रभावित परिवारों के जीवन स्तर को बेहतर बनाना।
- अधिग्रहण करने वाले निकाय और परियोजना से प्रभावित परिवारों के बीच आपसी सहयोग के माध्यम से सौहार्द पूर्ण सम्बन्ध विकसित करना।

20.8.1 संशोधित राष्ट्रीय पुनर्वास तथा पुनःस्थापना नीति- मंत्रालय द्वारा पुनः 2007 नयी तथा संशोधित राष्ट्रीय पुनर्वास तथा पुनःस्थापना नीति, 2007 निम्नवत् उद्देश्यों के साथ लागू की गयी -

- विस्थापन को न्यूनतम करना तथा जहाँ तक सम्भव हो गैर विस्थापन या न्यूनतम विस्थापन के विकल्पों को अपनाना।
- प्रभावित परिवारों की सक्रिय भागीदारी के साथ पुर्नवास की प्रक्रिया का शीघ्र क्रियान्वयन करना एवं पर्याप्त पुनर्वास पैकेज सुनिश्चित करना।
- इस बात को सुनिश्चित करना कि समाज के कमजोर वर्गों के अधिकारों की विशेष देखभाल की जाती है, विशेष रूप से अनुसूचित जाति और जनजाति के सदस्य और उनकी चिंता तथा संवेदनशीलता का ध्यान रखते हुए उनकी बाध्यताओं का सृजन करना।
- प्रभावित परिवारों को स्थायी आय प्रदान करने के संकेन्द्रित प्रयास करना तथा जीवन के बेहतर स्तर प्राप्त करना।
- विकास योजनाओं तथा क्रियान्वयन प्रक्रिया में पुनर्वास की चिंताओं को समेकित करना।
- जहाँ विस्थापन भूमि अधिग्रहण प्रक्रिया पर की जानी है, वहाँ आपसी सहयोग के माध्यम से भूमि की आवश्यकता वाले निकाय और परिवारों के मध्य सौहार्द पूर्ण सम्बन्ध विकसित करना।

20.8.2 राष्ट्रीय पुनर्वास तथा पुनःस्थापना नीति की मुख्य विशेषतायें - नीति की मुख्य विशेषतायें निम्नवत् हैं -

- अनैच्छिक विस्थापन के सभी मामलों को शामिल किया गया है। परियोजनाओं के विकास हेतु कृषि एवं बहुफसली भूमि का न्यूनतम प्रयोग किया जाये।
- इस नीति के अनुसार विकास की गतिविधियों तथा भूमि आवश्यकता हेतु संतुलन बनाये रखा जाये।
- मैदानी/जनजातीय पहाड़ी, अनुसूचित क्षेत्रों आदि में 400/200 यो इससे अधिक परिवारों के विस्थापन के लिए सामाजिक प्रभाव आकलन आरम्भ किया जाये।
- 200 से अधिक जनजातीय परिवारों के विस्थापन मामले में जनजातीय विकास योजना बनायी जाये ।
- भूमि के बदले भूमि प्रदान की जाये जहाँ तक पुनःस्थापना क्षेत्र में सरकारी भूमि उपलब्ध हो।
- ग्राम सभा के साथ परामर्श या सार्वजनिक सुनवायी अनिवार्य बनायी जाये तथा विस्थापन से पूर्व पुनर्वास किया जाये तथा यदि सम्भव हो तो मुआवजे के तौर पर भूमि प्रदान की जाये।

- ऽ भूमि/कार्य के बदले पुनर्वास तथा कौशल विकास सहायता और परियोजना कार्यों में वरीयता (केन्दीय परिवार में एक व्यक्ति) प्रदान की जाये तथा इस रोजगार कार्य हेतु उन्हें प्रशिक्षण दिया जाये।
- ऽ प्रभावित परिवारों को परियोजना कार्यान्वित करने वाले कम्पनियों में शेयर पाने के विकल्प।
- ऽ भूमिहीन व्यक्तियों सहित प्रभावित परिवारों को आवसीय लाभ पाने का विकल्प प्रदान हो। विकलांग, बेसहारा, अनाथ, विधवाओं तथा अविवाहित लड़कियों आदि संवेदन व्यक्तियों को मासिक वेतन प्रदान किया जाये।
- ऽ मौद्रिक लाभ को उपभोक्ता मूल्य सूचकांक से जोड़ा जाये जिन्हें आविधिक अन्तरालों पर संशोधित किया जाये।
- ऽ पुनःस्थापना क्षेत्रों में मूल संरचनात्मक अनिवार्य सुविधायें जैसे स्कूल, अस्पताल तथा सड़कों आदि का विकास किया जाये।
- ऽ शिकायत प्रक्रियाओं के निपटान हेतु लोकपाल तथा राष्ट्रीय पुनर्वास आयोग गठित किया जाये
- ऽ प्रभावित व्यक्तियों को स्वरोजगार हेतु प्रशिक्षण प्रदान किया जाये।
- ऽ प्रभावित परिवारों के पात्र व्यक्तियों को छात्रवृत्ति का आवंटन हो।
- ऽ संविदाओं के आवंटन में प्रभावित व्यक्तियों की सहकारिताओं के समूह में प्राथमिकतायें देना तथा परियोजना स्थल या आस-पास आर्थिक अवसर प्रदान करना।
- ऽ परियोजना में संविदात्मक कार्यों में इच्छुक प्रभावित व्यक्तियों के पारिश्रमिक रोजगार दिया जाये।
- ऽ ग्रामीण तथा शहरी दोनों ही क्षेत्रों में भूमिहीन परिवारों के घरों सहित आवासीय लाभ एवं अन्य लाभ प्रदान किये जाये।
- ऽ पारदर्शिता सुनिश्चित करने हेतु विस्थापन, पुनर्वास और पुनःस्थापना पर सूचना अनिवार्य प्रसार प्रावधान प्रभावित व्यक्तियों और पुनर्वास पैकेजों सहित बनाये जाये। यह सूचना इण्टरनेट पर सार्वजनिक डोमेन में उपलब्ध करायी जायेगी, साथ ही इसे परियोजना के प्राधिकारियों द्वारा संबंधित ग्राम सभाओं तथा पंचायतों के साथ बाँटा जायेगा।

नीति के अन्तर्गत यह लाभ सभी प्रभावित व्यक्तियों एवं परिवारों के लिये यह उपलब्ध है जिनकी भूमि, सम्पत्ति या आजीविका भूमि अधिग्रहण द्वारा प्रतिकूल रूप से प्रभावित है। यह नीति इसमें शामिल व्यक्तियों की संख्या को मध्य नजर न रखते हुए सभी मामलों पर लागू होगी।

20.9 मलिन बस्ती सुधार नीति

आजादी के पष्चात् भारत में औद्योगीकरण तथा आर्थिक विकास के साथ नगरीकरण में अत्यधिक तीव्र गति से वृद्धि हुई । जहाँ **1951** में मात्र **18.2** प्रतिशत जनसंख्या नगरीय क्षेत्रों में निवास करती थी वहीं **2011** देश की कुल आबादी का **31.2** प्रतिशत नगरीय क्षेत्रों में निवास करती है। नगरीकरण की इस आवश्यकता से अधिक तीव्र विस्तार ने अनेकानेक समस्याओं को जन्म दे दिया है। आज भारत के नगरों में आवास, आजीविका तथा नागरिक सुविधाओं जैसे - पेयजल, स्वास्थ्य, शिक्षा, साफ सफाई आदि का गंभीर संकट गहराता जा रहा है। आवश्यक सुविधाओं के अभाव तथा जनसंख्या के भारी बोझ से नगरों में मलिन बस्तियों का तीव्र विस्तार होने लगा। विकास की प्रक्रिया में मलिन बस्तियाँ तथा यहाँ के नागरिकों को जीवन यापन की मौलिक आवश्यकताओं के लिये संघर्ष कर रहे हैं।

मलिन बस्तियों पर बनी प्रनब सेन समिति के अनुसार **2001** से **2011** के एक दशक में मलिन बस्तियों की जनसंख्या में **1.78** करोड की वृद्धि हुई तथा यह **2011** में कुल **9.306** करोड़ अनुमानित है जोकि भारत की कुल नगरीय जनसंख्या **37.70** करोड़ का लगभग **40** प्रतिशत है । धारावी मुम्बई में, बसन्तीनगर कोलकाता में, राजेन्द्र नगर बैंगलौर में आदि देश की ऐसी जानी मानी मलिन बस्तियाँ हैं जहाँ नागरिक झुग्गी झोपड़ियों में संकीर्ण गंदी गलियों, खुले सीवर व्यवस्था, कूड़े-कचरे में नरकीय जीवनयापन को मजबूर हैं यह मलिन बस्तियाँ अनेकों सामाजिक आर्थिक समस्याओं का स्रोत बनी हुई है। जिसमें बालश्रम, नशाखोरी, आपराधिक गतिविधियाँ, अवैध कारोबार आदि गैर कानूनी गतिविधियों में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

दुनिया में सबसे अधिक मलिन बस्तियाँ भारत में हैं। शहरी भारत के लगभग चार फीसदी हिस्से पर ये स्लम (झोपड़ पट्टियाँ या झुग्गी-झोपड़ी) कायम हैं। इनमें रहने वाले लोगों को भले ही मूलभूत सुविधायें नहीं मिलती हों, कदम-कदम पर उन्हें अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है, पर देश के आर्थिक विकास में उनकी भूमिका कम नहीं है।

यद्यपि मलिन बस्याँ शहरों के विकास में अहम आर्थिक भूमिका निभा रही हैं, लेकिन इनमें रहने वाले लोग नारकीय जीवन जीने के लिए मजबूर होते हैं। उन्हें बिजली, पानी जैसी मूलभूत सुविधायें भी नहीं मिलतीं। देश की तीन-चौथाई मलिन बस्तियों में शौचालय नहीं हैं और लगभग एक तिहाई में जल-मल निकास की कोई व्यवस्था नहीं है। यही वजह है कि इनमें रहने वाले लोग गन्दगी, बीमारी और भूख से पीड़ित रहते हैं। इन बस्तियों में अकाल मृत्युओं की दर भी बहुत ज्यादा है। इनमें रहने वाले आधे से अधिक बच्चे कुपोषण के शिकार होते हैं।

20.9.1 मलिन बस्ती क्षेत्र की परिभाषा - मलीन बस्तियों की अवधारणा और परिभाषा, सामाजिक और आर्थिक स्थितियों के आधार पर बदलती है। स्लम क्षेत्र (सुधार और निकासी) अधिनियम, **1956, 2001** एवं **2011** की जनगणना (एन**0** एस**0** एस**0** ओ**0**) **1993, 2002** और भारत सरकार की योजनाओं में परिभाषाओं के परिपेक्ष में इस परिभाषा को अपनाया गया है।

(क) मलिन बस्ती में घर के मानदंड निम्न हैं -

ऽ कम से कम **20** ऐसे बदहाल ढ़ंग से बने मुख्य रूप से अस्थायी मकानों का घना अस्वच्छता पूर्ण क्षेत्र जहाँ अधोसंरचना का अपर्याप्त विकास हो और पेयजल, शौचालय तथा गन्दे पानी की निकासी की व्यवस्था न हो।

ऽ घर की छत कंक्रीट के बजाय किसी अन्य सामग्री से बनी हो।

ऽ अपर्याप्त अधोसंरचना के कारण आसपास का वातावरण अवस्वच्छता पूर्ण हो जैसे -

- घर के अन्दर पेयजल का स्रोत उपलब्ध न हो।
- घर के अन्दर अथवा उचित दूरी पर शौचालय की व्यवस्था न हो।
- घर के गन्दे पानी की निकासी की व्यवस्था न हो।

(ख) मलिन बस्ती की अन्य विशेषताएँ -

- घरों का बहुत ज्यादा घनत्व एवं ज्यादातर छोटे-छोटे घर/प्लाट, घरांे में कई-कई लोग, एक-एक कमरे के घर, दो या उससे ज्यादा परिवारों का एक साथ रहना।
- बस्ती में अपर्याप्त अधोसंरचना की उपलब्धता-जैसे स्ट्रीट लाईट, वर्षा के पानी की निकासी, कूड़े का निस्तारण, सँकरी एवं कच्ची गलियाँ और शिक्षा एवं स्वास्थ्य सुविधाओं का पहुँच से बाहर होना।

20.9.2 मलिन बस्ती के सम्बन्ध में सरकार के लक्ष्य एवं उद्देश्य - भारत सरकार के शहरी विकास एवं गरीबी उन्मूलन मंत्रालय ने **2001** में राष्ट्रीय स्लम नीति तैयार की थी। हाँलाकि यह नीति अभी तक प्रारूप के स्वरूप में ही है लेकिन यह राज्यों एवं स्थानीय निकायों के स्तर पर कार्य करने के लिए दिशानिर्देश प्रदान करती है। राष्ट्रीय स्लम नीति (ड्राफ्ट) संविधान के **74**वें संशोधन के ढाँचे के अन्तर्गत तैयार की गई है तथा यह नीति राज्यों एवं स्थानीय निकायों को मलीन बस्ती सम्बन्धी मुद्दों को हल करने में मदद करेगी। इस नीति के मुख्य उद्देश्य निम्नवत है -

- मलिन बस्तियों तथा उनमें रहने वाले समुदायों को पूरे शहर के साथ समग्रता से जोड़ना तथा इसके लिए मलिन बस्ती विकास की प्रक्रिया को निर्देशित करने वाले सिद्धान्तों तथा समन्वयन के लिए उपलब्ध विभिन्न विकल्पों के प्रति जनता एवं सरकार में जागरूकता उत्पन्न करना।
- मलिन बस्ती विकास एवं सुधार प्रक्रियाओं को स्थायित्व प्रदान करने के लिए कानूनी तथा नीतिगत ढाँचे को मजबूत करना।
- नीतिगत उद्देश्यों के प्रभावी क्रियान्वयन के लिए सभी हितभागियों की सहभागिता सुनिश्चित करने हेतु आवश्यक ढाँचों की स्थापना करना।
- मलिन बस्ती के विकास एवं उनमे मूलभूत सुविधायें प्रदान करने हेतु आवश्यक संसाधनों एवं बजट के आवंटन को सुनिश्चित करना।

20.9.3 मार्गदर्शक सिद्धान्त -इस नीति को निम्नलिखित मार्गदर्शक सिद्धान्तों के दायरों में विकसित किया गया है -

- मलिन बस्तियों के विकास के लिए एक समयबद्ध रूपरेखा के तहत स्थानीय नगर निकाय समग्र और व्यापक मलिन बस्ती योजना तैयार करेंगी। इस संदर्भ में यह नीति स्थानीय नगर निकायों और राज्य सरकारों की जिम्मेदारियों का वर्णन करती हैं।
- इस नीति के तहत राज्य नियोजित तरीके से मलिन बस्तियों की समस्याओं को इस तरह हल करें कि शहरों को मलिन बस्ती विहीन बनाया जा सके।
- नीति में अपेक्षित है कि मलिन बस्तियों की पहचान और लिस्टिंग (सूचीकरण) एक व्यवस्थित और नियमित प्रक्रिया से हो। इससे बेहतर परिणामों के लिए विश्वसनीय डाटाबेस (आकड़े) तैयार हांेगे।
- नीति में अपेक्षित है कि स्थानांतरण से पहले स्थानीय विकास के सभी विकल्पों का पता लगाया जाएगा। स्थानीय सरकारें भूस्वामित्व और भूधारिता की अवस्था को मद्देनजर न रखते हुए सभी बस्तियों के लिए आवश्यक न्यूनतम बुनियादी सेवाएँ उपलब्ध करायेंगी ।
- इस नीति में अपेक्षित है कि गरीब और कमजोर तबकांे के आवास के लिए भविष्य में आवश्यक जमीन तथा संसाधनों की जरूरतों का राज्य एवं स्थानीय नगर निकाय ध्यान रखेंगे तथा इसे सुनिश्चित करने के लिए कदम उठायेंगे।
- नीति की आवश्यकता है कि शहरी गरीबों को मुख्य धारा में लाने के लिए एक रूपरेखा तैयार की जाए जिसमें सबसे उपेक्षित और वंचित वर्ग पर विशेष जोर दिया जाए और मलिन बस्ती के विकास की व्यापक प्रक्रिया हो।

- नीति में जरूरी है कि मलिन बस्तियों के विकास की योजना में आजीविका सुरक्षा और रोजगार के अवसर प्रदान किए जाएँ, खासकर जहाँ पुनर्वास किया जा रहा है। इसका आशय है कि शहरी गरीब और झुग्गी बस्ती में रहने वाले लोगां◌े के लिए जीविकोपार्जन और आय वर्धन के कार्यक्रमों का नियोजन एवं क्रियान्वयन हो।
- नीति में प्रावधान है कि भूमि के स्वामित्व की स्थिति पर ध्यान दिये बिना सभी मलीन बस्तियों में बुनियादी सुविधाएँ प्रदान की जाएँ।
- न्याय और समानता किसी भी विकास के मूल सिद्धान्त हैं। समावेशी विकास के दृष्टिकोण से राज्य सरकार योजना और कार्यान्वयन में सब की सहभागिता को सुनिश्चित करेगी।
- विकास गतिविधियों में लिंग समानता अधिकारों के नीति निर्धारण में मार्गदर्शक रहेगी। भूमि और संपत्ति के अधिकार प्रदान करने और स्वास्थ्य और शिक्षा के लाभ पहँ◌ुचाने के दौरान इसका खास ध्यान रखा जायेगा।
- भूमि स्वामित्व की समस्याओं का समाधान ढूंढना मलीन बस्तियों के सुधार के लिए अत्यन्त आवश्यक है। भूमि स्वामित्व न होने पर बस्ती के निवासी आवास और रहने की स्थिति में सुधार करने के प्रति निरूत्साहित रहते हैं। जहाँ तक संभव हो, स्पष्ट भूस्वामित्व प्रदान किया जाए अथवा निवासियों या उनके संघों को लम्बी अवधि के पट्टे आवंटित किये जायं◌े। परन्तु यह जानते हुये कि शहरी भूमि एक अल्प मात्रा में उपलब्ध संसाधन है तथा इसके नियंत्रण में बहुत सारी एजेन्सियाँ संलग्न है, सार्वजनिक भूमि के समुचित उपयोग और इसकी मांग की प्रतिस्पर्धा के बीच संतुलन बनाये रखने की आवश्यकता है। भूमि स्वामित्व प्रदान करने के नये तरीकां◌े को पहचानने और उन्हें कार्यान्वित करने की जरूरत है।
- कई मार्गदर्शक सिद्धान्त विकेन्द्रीकरण और भागीदारी के संस्थानीकरण या 74वें संविधान संशोधन के कार्यान्वयन को पूरी तरह से प्राथमिकता देते हैं। राज्य सरकारें एवं स्थानीय नगर निकाय मलिन बस्तियों में सेवाओं को बढ़ावा देने के लिए भागीदारों की तलाश करेगी।
- राज्य सरकारें और स्थानीय नगर निकाय बेघर लोगों के लिए प्रर्याप्त आवास व्यवस्था सुनिश्चित करेंगी। विकेन्द्रीकरण के उपरान्त बेघर लोगों को आश्रय देने की जवाबदेही स्थानीय नगर निकायों की होगी।

20.9.4 रणनीति - इस नीति को निम्नलिखित रणनीति के अनुरूप विकसित किया गया है -

- राष्ट्रीय स्लम नीति के कार्यान्वयन सुनिष्चित करने के लिए राज्य सरकारें कार्यकारी दल उचित कानूनी, संस्थागत व्यवस्था एवं आवश्यक प्रावधान करेगी।
- स्थानीय नगर निकाय सभी मलीन बस्तियों की पहचान कर सूची तैयार करके वार्ड मैप पर चिन्हित करेगी। प्रत्येक बस्ती को एक विशेष संदर्भ कोड दिया जाएगा। सभी सूचीबद्ध बस्तियों की हर तीन वर्ष बाद समीक्षा की जाएगी। स्थानीय नगर निकायों को सभी सूचीबद्ध बस्तियों को (भूस्वामित्व का ख्याल किए बिना) सभी मुलभूत सुविधाएँ प्रदान करनी हां◌ेगी। राज्य सरकार मानदंडो और कोर बुनियादी सेवाओं के लिए मानकों और उनके प्रावधान को अलग से परिभाषित करेगा।
- सभी सूचीबद्ध मलीन बस्तियों को भूस्वामित्व का ख्याल किए बिना बसने योग्य (टिनेबल) एवं बसने के अयोग्य (अनटिनेबल) में बस्तियों में वर्गीकृत किया जाएगा। अनटिनेबल बस्तियों को खाली कराया जा सकता है। ऐसी सभी मलीन बस्तियाँ जो बड़े नालों से 50 मीटर, नहर तालाब

से 100 मीटर, नदी के किनारे से 500 मीटर से कम दूरी पर, रेलवे की जमीन पर, पर्यावरण के दृष्टिकोण से संवेदनशील क्षेत्र, हाइवे तथा मुख्य सड़क मार्ग के ठीक ऊपर हो, जहाँ वर्तमान जनसंख्या के कम से कम 75 प्रतिशत लोगों को बसाने के लिए प्रर्याप्त भूमि न हो, मास्टर प्लान के अनुसार सार्वजनिक उपयोग की जमीन पर एवं विवादित भूमि पर बसी बस्तियों को अनटिनेबल घोषित किया जाएगा।

- सभी स्थानीय नगर निकाय ऐसी मलिन बस्तियों को जो टिनेबल है, उनके उन्नयन का प्रयास करंेगें। आवास, बुनियादी सेवायंे जैसे जल आपूर्ति, सीवरेज, शौचालय, सड़क, प्रकाश व्यवस्था, सड़क निर्माण, वर्षा के पानी की जल निकासी, ठोस कचरे के निस्तारण की व्यवस्था उन्नयन में सम्मिलित होगा।
- ऐसी बस्तियाँ जो टिनेबल नही हैं उन्हें स्थानीय निकाय स्थानांतरित, पुनर्वासित करने का निर्णय ले सकती है। स्थानीय नगर निकायों को पुनर्वास के लिए उचित प्रणाली और दिशा निर्देशों का पालन करना होगा। अनटिनेबल बस्तियों में सूचीबद्ध निवासी उनके पुनर्वास तक मूलभुत न्यूनतम सेवाएँ प्राप्त करने के हकदार हैं।
- यथा स्थान उन्नयन की स्थिति में स्लम निवासियों को 25 साल की भू-स्वामित्व सुरक्षा प्रदान की जायेगी और सरकार द्वारा समय-समय पर बढ़ाया जाएगा। उन्हें वैकल्पिक आवास दिये बिना नवीनकृत बस्तियों से हटाया नहीं जाएगा। बस्ती वासियों को आवास को बेचने का अधिकार नहीं होगा।
- स्थानीय नगर निकायों के लिए सभी मलीन बस्तियों में बुनियादी सेवाएँ प्रदान करना अनिवार्य है। कोर बुनियादी सेवाओं को पुनर्वासित किए जाने वाली मलिन बस्तियों में भी प्रदान करना होगा । कोर सेवाओं जैसे सुरक्षित पेयजल, स्वच्छता, ठोस कचरा प्रबंधन के लिए शहरी क्षेत्रों के लिए अपरक्राम्य मानक निर्धारित किए जाऐंगे जिन्हंे समय-समय पर संशोधित किया जा सकता है।
- मलिन बस्तियों को गोद लेने की योजना को शुरू किया जाएगा और व्यावासायिक घरानों ट्रस्टों और गैर सरकारी संगठनों से बस्तियों के विकास में सहयोग लिया जाएगा।
- मलिन बस्तियों के समग्र एवं व्यापक विकास के लिए स्थानीय नगर निकाय एक समयबद्ध रूपरेखा तैयार करेंगे।
- मलीन बस्तियों के विकास की योजनाओं और बुनियादी सेवाओं के प्रावधान के लिए स्थानीय नगर निकाय केन्द्र सरकार से अनुदान प्राप्त करेंगे। उपलब्ध संसाधनों का अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए केन्द्र सरकार और राज्य सरकार गरीबों के चल रही योजनाओं का कार्यान्वयन नगर निकायों के माध्यम से करेगें।
- स्थानीय नगर निकाय शहर के अन्य भागों की तरह मलीन बस्तियों में भी सेवाओं के संचालन और रख-रखाव के लिए जिम्मेदार होंगे। वह संचालन और रख-रखाव की व्यवस्था को सुविधाजनक बनाने में निजी क्षेत्र या गैर सरकारी संगठनों की मदद ले सकते हैं।
- स्थानीय बस्ती निवासियों ंको स्थानीय निवासी संघ या सहकारी आवास संघ बनाकर संबंधित स्थानीय नगर निकाय से उसकी मान्यता प्राप्त करनी होगी। यह संस्था आमतौर पर उस क्षेत्र के सभी निवासियों को मिलकर बनानी होगी जिसमें कम से कम एक तिहाई महिलाएँ में सदस्य हांेगी।

- मलीन बस्ती निवासियों को आंतरिक अधोसंरचना और आवास में लागत में अपना हिस्सा देना होगा। नगर निकाय और राज्य सरकार केन्द्र सरकार के दिशा निर्देशों का पालन करते हुए बस्ती निवासियों से लागत के हिस्से का फैसला करेंगे।
- राज्य सरकारें और नगर निकाय शहर स्तर की सभी योजना में मलीन बस्तियों को एकीकृत करने का और मुख्य धारा में लाने के लिए प्रयास करेगें।

20.9.5 मलिन बस्ती सुधार कार्यक्रम - मलिन बस्तियों और शहरी गरीबी के मुद्दे को हल करने के लिए भारत सरकार ने पंचवर्षीय योजनाओं और अन्य नीतिगत पहलों व कार्यक्रमों के जरिए कई उपाय शुरु किए हैं। जिनका विवरण निम्नवत दिया जा रहा है -

- वाल्मीकि अम्बेडकर आवास योजना (वी0 ए0 ए0 वाई0), यह योजना दिसम्बर 2001 में शुरु की गई। यह केन्द्र द्वारा प्रायोजित योजना है जिसमें मलिन बस्तियों में रहने वाले लोगों के आवास बनाने के सम्बन्ध में राज सहायता का प्रावधान योजना में शामिल किया गया है। शहरी गरीबों को आवास उपलब्ध कराने में योजना सफल रही है, और जवाहरलाल नेहरु राष्ट्रीय शहरी नवीकरण अभियान के आरम्भ होने पर इस योजना के तत्वों को उसमें शामिल कर दिया गया।
- जवाहरलाल नेहरु राष्ट्रीय शहरी नवीकरण अभियान (जे0 एल0 एन0 यू0 आर0 एम0), यह योजना 2005 में शुरु की गई और इसकी अवधि सात वर्ष की तय की गई। इसे देश के शहरी इलाकों में और खासतौर से 65 शहरों में तेल और योजनाबद्ध तरीके से विकास करने के लिए षुरु किया गया था। शहरी गरीबों को बुनियादी सेवायें उपलब्ध कराने के लिए उप-अभियान चलाया गया जिसमें स्वामित्व के सात बिन्दुओं पर ओर दिया गया। इनमें सस्ते आवास, जलापूर्ति, सफाई, स्वामित्व सुरक्षा, स्वास्थ्य, शिक्षा और सामाजिक सुरक्षा सम्मिलित रही।
- स्वर्ण जयन्ती शहरी रोजगार योजना (एस0 जे0 एस0 आर0 वाई0), लाभदायी रोजगार अवसरों को प्रोत्साहन देने के माध्यम से यह योजना शहरी गरीबी दूर करने के लिए शुरु की गई। लाभदायी रोजगार अवसरों में दिहाड़ी रोजगार और उद्यमशीलता विकास शामिल हैं जो समुदाय आधारित हैं और जिनका लक्ष्य खासतौर से महिलायें हैं।
- राजीव आवास योजना (आर. ए. वाई.), जून 2009 में राष्ट्रपति ने भारत को मलिन बस्ती मुक्त करने के विचार वाली राजीव आवास योजना की घोषणा की। इस विचार को कार्यान्वित करने के लिए आवास एवं शहरी गरीबी उपशमन मंत्रालय ने योजना के शुरुआती चरण में मलिन बस्ती मुक्त शहरी व्यवस्था योजना (एस. एफ. सी. पी.) शुरु की जिसके तहत भारत के शहरों और राज्यों को मलिन बस्तियों से मुक्त करने के लिए शहरी निर्माण योजना तैयार करना है। आर्थिक मामलो की मन्त्रीमण्डलीय समिति ने 2 जून, 2011 को राजीव गांधी आवास योजना के तहत इसे देष के 250 शहरों में लागू करने का प्रस्ताव पारित किया। राजीव गांधी आवास योजना एक लाख से ज्यादा आबादी वाले हर शहर में लागू की जानी है। केन्द्र सरकार ने इसके साथ ही शहरों में रहने वाले गरीबों को आसानी से घर बनाने के लिए कर्ज मिल सके, इसके लिए एक हजार करोड़ रुपये का कोष भी बनाया। गृहमंत्री पी0 चिदंबरम के अनुसार केन्द्र सरकार ने 12वीं पंचवर्षीय योजना के अन्त तक देश को स्लम मुक्त करने का लक्ष्य रखा है। केन्द्र सरकार ने राजीव गांधी आवास योजना को लागू करने में राज्यों की भूमिका अहम बना दी। इसके लिए हर राज्य

को अपनी-अपनी योजना केन्द्र से साझा करनी है। इस योजना से स्लम में रहने वाले लगभग 3.2 करोड़ भारतीय लोगों को बेहतर जीवनशैली प्रदान की जा सकती है ।

20.10 सारांश

वर्तमान समय में टिकाऊ विकास की आवश्यकता, जननांकीय दबाव, गरीबी, बेरोजगारी तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिबद्धताओं को देखते हुए आज भारत में पर्यावरण के संरक्षण तथा संवर्द्धन के सन्दर्भ में अनेकों चुनौतियाँ एवं समस्यायें हैं । इन सभी को देखते हुए आज भारत में पर्यावरण संरक्षण हेतु आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा तकनीकी क्षेत्रों में सामंजस्य पूर्ण अपरिहार्य हो गये हैं।

राष्ट्रीय पर्यावरण नीति की रणनीति को राष्ट्रीय कृषि नीति, राष्ट्रीय जनंसख्या नीति, राष्ट्रीय वन नीति तथा राष्ट्रीय पुनर्वास नीति एवं अन्य महत्वपूर्ण विकास कार्यक्रमों जैसे गरीबी निवारण, ग्रामीण विकास, औद्योगीकरण आदि के सन्दर्भ में विकसित करने का प्रयास किया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अभी इस पर्यावरण नीति में अनेक खामियाँ हैं। परन्तु भारत जैसे देश में पर्यावरण हेतु सभी सम्बन्धित आयामों को आत्मसात करते हुए पहली बार राष्ट्रीय स्तर पर पर्यावरणीय सरोकारों को रेखांकित करते हुए यह राष्ट्रीय नीति बनायी गयी है।

20.11 महत्वपूर्ण शब्दावली

राज्य के नीति निर्देशक तत्व - भारतीय संविधान के चौथे भाग में कल्याणकारी राज्य की स्थापना हेतु राज्य को महत्वपूर्ण दिशा निर्देश दिये गये हैं परन्तु यह मूल अधिकारों की भाँति न्यायालय में प्रवर्तनीय नहीं हैं।

मूल कर्त्तव्य - भारत के संविधान में आयरलैण्ड से प्रेरित होकर 1976 में 42वें संविधान संशोधन के माध्यम् से आम नागरिकों के मूल कर्त्तव्य संविधान में समाहित किये गये हैं।

धारण क्षमता - किसी भी आर्थिक इकाई की धारण क्षमता निरन्तर अपने अस्तित्व को संकट में डाले बगैर सतत् उत्पादन देने से सम्बन्धित होती है। जैसे वनों की धारण क्षमता।

संयुक्त वन प्रबन्ध - समाज की सहभागिता के साथ शासन द्वारा वनों का प्रबन्ध संयुक्त वन प्रबन्ध के अन्तर्गत आता है।

वानकी - वन से सम्बन्धित क्रियाकलापों यानि संरक्षण, रोपण, संवर्द्धन तथा उत्पादन को वैज्ञानिक व पेरोवर तौर पर करना वानकी कहलाता है।

पर्यावरणीय प्रभाव - किसी परियोजना जैसे जल विद्युत आदि के विकास के समय पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभावों का ऑकलन किया जाता है।

सहत्राब्दी विकास लक्ष्यों (मिलेनियम डेवलपमेन्ट गोल्स) - इसके अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा विश्व के प्रत्येक देश हेतु शिक्षा, स्वास्थ्य, साफ-सफाई, नारी सशक्तिकरण, गरीबी निवारण, खाद्य सुरक्षा, पर्यावरण तथा टिकाऊ विकास के लक्ष्य निर्धारित किये गये हैं।

सामाजिक प्रभाव - किसी परियोजना के विकास की प्रक्रिया में, समाज पर पड़ने वाले प्रभाव जैसे विस्थापन का ऑकलन किया जाता है।

अनैच्छिक विस्थापन - यह विस्थापन अपनी इच्छा के विपरीत यानि बाह्यकारी तौर पर किया जाता है।

उपभोक्ता मूल्य सूचकांक - मूल्यों के औसत स्तर को इसके माध्यम से नापा जाता है एवं इससे मंहगाई की दर में वृद्धि ज्ञात की जाती है।
73 एवं 74वां संविधान संशोधन - यह संशोधन स्थानीय नगर निकायों को षासन के विकेन्द्रीयकरण के सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर 1993 किया गया या जिससे स्थानीय निकायों को स्वशासन के अधिकार प्राप्त हो सके।
नवीकरणीय संसाधन - ऐसे संसाधन जोकि नियमित अंतराल पर निरन्तर उत्पादन प्रदान करते रहते हैं।

20.12 अभ्यास प्रश्न

1. पर्यावरण एवं वन मंत्रालय का गठन कब किया गया था ?
2. राष्ट्रीय पर्यावरण नीति कब लागू की गयी थी ?
3. पर्यावरण संरक्षण हेतु राज्य को संविधान के किस अनुच्छेद के अन्तर्गत निर्देश दिये गये हैं ?
4. किस अनुच्छेद के अन्तर्गत पर्यावरण संरक्षण आम नागरिकों का मूल कर्त्तव्य है ?
5. पर्यावरण संतुलन के लिये देश के कितने भूभाग पर वन होने चाहिए ?
6. 1952 की राष्ट्रीय वन नीति को किस मंत्रालय ने लागू किया ?
7. उत्तराखण्ड की राज्य वननीति कब गठित की गयी ?
8. राष्ट्रीय पुनर्वास नीति किस मंत्रालय द्वारा लागू की गयी ?
9. भारत में 2011 की जनगणना के अनुसार कितना प्रतिशत जनसंख्या नगरों में निवास करती है ?
10. भारत की सबसे बड़ी मलिन बस्ती कौन सी है ?
11. मलिन बस्तियों के विकास हेतु देश में कौन सा मंत्रालय कार्य करता है ?
12. मलिन बस्ती सुधार नीति किस संविधान संशोधन को ध्यान में रखकर बनायी गयी है ?
13. जवाहर लाल नेहरु राष्ट्रीय नवीकरण अभियान कब आरम्भ किया गया ?
14. राजीव आवास योजना को कितनी जनसंख्या के नगरों में लागू करने का प्रावधान है ?
15. भारत की प्रथम वननीति कब घोषित की गयी थी ?

उत्तर - 1. 1985, 2. 2006, 3. 48(ए), 4. 51ए (जी), 5. एक तिहाई, 6. कृषि एवं खाद्य मंत्रालय, 7. 2006, 8. ग्रामीण विकास मंत्रालय, 9. 31.2 प्रतिशत, 10. धारावी, मुम्बई, 11. शहरी विकास एवं गरीबी उन्मूलन, 12. 74वें, 13. 2005, 14. एक लाख से अधिक, 15. 1894।

20.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत में राष्ट्रीय पर्यावरण नीति के उद्देश्यों, आवश्यकता तथा रूपरेखा पर चर्चा कीजिये ?
2. भारत में राष्ट्रीय वन नीति की रणनीति का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये ?
3. पुनर्वास की समस्या पर टिप्पणी करते हुए पुनर्वास नीति के महत्व की प्रसंगिकता बनाइये ?

4. मलिन बस्ती की अवधारणा स्पष्ट करते हुए इनके सुधार हेतु कार्यक्रमों एवं नीतियों को विस्तार से समझाइये ?
5. भारत में पर्यावरण समस्यों का उल्लेख करते हुए सरकार के स्तर पर नीतिगत प्रयासों का विश्लेषण कीजिए **?**

20.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूत्र

- सिन्हा, मेघा **(2007),** पर्यावरण और पारिस्थितिकीय तन्त्र, वन्दना पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
- त्रिपाठी, रेणु **(2011)** पर्यावरण भूगोल, ओमेगा पब्लिकेशन्स, दिल्ली।
- उत्तराखण्ड उदय, उत्तराखण्ड दशक **2000-2010 (** नवम्बर **2010)** अमर उजाला पब्लिकेशन्स लिमिटेड, नोएडा।
- Sinha K. Rajiv (2007) *Environmental Crisis and Human at risk, INA* Shree Publishers, Jaipur.
- Bhattacharya, R.N. (Ed.) (2001), *Environmental Economics – An Indian Perspective, OUP*, New Delhi.

इकाई 15 पर्यावरण संरक्षण नीति एवं जलवायु परिवर्तन (Environmental Protection Policy and Climate Change)

15.1 प्रस्तावना (Introduction)
15.2 उद्देश्य (Objectives)
15.3 पर्यावरण संरक्षण नीति की आवश्यकता (The need for Environmental Protection Policy)
15.4 पर्यावरण संरक्षण नीति के अर्थ तथा तात्पर्य (Meaning and Implications of Environmental Protection Policy)
15.5 पर्यावरण संरक्षण नीति के उद्देश्य (Objectives of Environmental Protection Policy)
15.6 पर्यावरण संरक्षण नीति (Environmental Protection Policy)
15.7 जलवायु परिवर्तन (Climate change)
15.8 जलवायु परिवर्तन सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास (International efforts on Climate Change)
15.9 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)
15.10 सारांश (Summary)
15.11 शब्दावली (Glossary)
15.12 अभ्यास प्रश्न के उत्तर (Answer for Practice Questions)
15.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूत्र (Bibliography)
15.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें (Useful Text)
15.15 निबन्धात्मक प्रश्न (Essay type Questions)

15 .1 प्रस्तावना (Introduction)

प्रस्तुत इकाई में हम पर्यावरण संरक्षण नीति का अर्थ, रूपरेखा एवं रणनीति के विषय में जानेंगे। भारत में पर्यावरण संरक्षण को प्रभावी तौर पर सुनिश्चित करने हेतु ठोस सामाजिक भागीदारी को इस दिशा में सुनिश्चित करने की आवश्यकता है चूँकि विभिन्न सामाजिक आयामों का पर्यावरण पर ना सिर्फ प्रभाव पड़ता है अपितु स्वयं सामाजिक आयाम भी इससे प्रभावित होते आये हैं। हम इस इकाई में भारत में पर्यावरण संरक्षण एवं जैव विविधता का महत्व पर विस्तारपूर्वक चर्चा करेंगे। पर्यावरण संरक्षण हेतु संवेदनशील विषयों पर रणनीति बनाना आवश्यक है। इस दिशा में जैव विविधता तथा जलवायु परिवर्तन ऐसे महत्वपूर्ण तथा चुनौती भरे मसले हैं जिन पर गंभीर प्रयास किये जाने की आवश्यकता है। इस इकाई में जलवायु परितर्वन की अवधारणा को जान सकेंगे। संक्षेप में आज पर्यावरण अवनयन के कारण जैव विविधता के क्षरण तथा जलवायु परिवर्तन का संकट आज गहराता जा रहा है।

इस इकाई में जलवायु परिवर्तन तथा पर्यावरण संरक्षण हेतु राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासों का मूल्यांकन किया गया है। अतः यदि आज पर्यावरण संरक्षण को व्यापक तौर पर किया जाना है तो इसके लिए जैव विविधता की सुरक्षा तथा संरक्षण को सुनिश्चित किये जाने की आवश्यकता है। इसी संदर्भ में जलवायु परिवर्तन की समस्या भी गंभीर चुनौती बनी हुई है। इसलिए पर्यावरण संरक्षण नीति में जैव विविधता तथा जलवायु परिवर्तन के विषयों का समावेश आवश्यक हो गया है। अंततः हम पर्यावरण संरक्षण नीति की आवश्यकता को समझेंगे।

15.2 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप-

- जैव विविधता का अर्थ समझ सकेंगे।
- पर्यावरण संरक्षण नीति का अर्थ, रूपरेखा एवं रणनीति के विषय में जान सकेंगे।
- भारत में पर्यावरण संरक्षण एवं जैव विविधता का महत्व को समझ सकेंगे।
- जलवायु परितर्वन की अवधारणा को जान सकेंगे।
- जलवायु परिवर्तन तथा पर्यावरण संरक्षण हेतु राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासों का मूल्यांकन कर पायेंगे।
- जैव विविधता की सुरक्षा तथा संरक्षण हेतु राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासों की विवेचना कर पायेंगे।
- पर्यावरण संरक्षण नीति की आवश्यकता को समझ सकेंगे।

15.3 पर्यावरण संरक्षण नीति की आवश्यकता (The need for Environmental Protection Policy)

पिछले सौ वर्षों में तीव्र जनसंख्या वृद्धि, आर्थिक औद्योगिक तकनीकी प्रगति, अत्यधिक अपभोग वाली जीवन शैली के फलस्वरूप जहाँ प्राकृतिक संसाधनों का जमकर कुदोहन किया गया है वहीं दूसरी ओर बढ़ते प्रदूषण से पर्यावरण का संवेदनशील तंत्र पर संकट गहराता जा रहा है। **वाहीटेकर जी रैसेल** द्वारा रचित अपनी पुस्तक **"लाईफ एण्ड डैथ ऑफ प्लैनेट अर्थ"** में यह स्पष्ट किया गया कि जनसंख्या प्रस्फोटए तकनीकी प्रगति, औद्योगिक क्रान्ति तथा भौतिकवादी जीवन शैली के कारण पृथ्वी के प्रचुर जैव-अजैव संसाधनों का अवनयन हो रहा है।

दो सौ वर्ष पूर्व सर **रॉबर्ट थॉमस माल्थस (Robert Thomas Malthus)** ने यह भविष्य वाणी की थी कि यदि जनसंख्या पर रोकथाम न लगायी गयी तो प्रकृति आपदाओं जैसे बाढ़, अकाल आदि से जनसंख्या नियंत्रित होगी। क्लब आफ रोम के अर्थषास्त्रियों ने 60 के दशक में प्रकाशित **"वृद्धि की सीमायें"** नामक रिर्पोट यह स्पष्ट किया कि जनसंख्या के बोझ को **औद्योगीकरण, प्रदूषण, भोजनोत्पादन तथा संसाधन ह्रास** की

द्विगुणित गति वृद्धि से पृथ्वी पर निरन्तर बोझ बढ़ रहा है जिससे आने वाले भविष्य में आर्थिक प्रगति अवरूद्ध हो जायेगी।

1992 में रियो में हुये **पृथ्वी सम्मेलन (Earth Summit)** में आर्थिक विकास के अंधाधुन्ध प्रयास फलस्वरूप प्राकृतिक पर्यावरण को होने वाली अपूर्णीय क्षति के प्रति चेतना का विकास तथा ठोस कार्यक्रमों को क्रियान्वित किया गया । भारत में भी 70 तथा 80 के दशक में होने वाले पर्यावरणीय आंदोलनों के फलस्वरूप पर्यावरणीय संरक्षण की मुहिम को नयी ऊर्जा मिली, प्राकृतिक तथा मानव जनित आपदाओं जैसे भोपाल गैस काण्ड के फलस्वरूप भारत में पर्यावरण संरक्षण अधिनियम 1986 पारित किया गया। पर्यावरण के संरक्षण एवं संवर्धन हेतु नोडल ऐजेन्सी के रूप में **वन तथा पर्यावरण मंत्रालय** की स्थापना 1985 में की गयी।

भौतिकवादी प्रगति से एक ओर जहाँ आर्थिक असमानता में वृद्धि हुयी वही पर्यावरण संकट निरन्तर गहराने से वैष्विक जनमत द्वारा पर्यावरणीय संरक्षण के अनुरूप विकास प्रक्रिया अपनाने का प्रयास आरम्भ होने लगा। इस सन्दर्भ में संयुक्त राष्ट्र के 1974 में कोकोयोक (मैक्सिको) उद्घोषणा में यह स्वीकार करना पड़ा कि **"विकास का उद्देश्य वस्तुओं की मात्रात्मक वृद्धि नहीं प्रत्युत मनुष्य का विकास होना चाहिए"** तत्पश्चात मानव केन्द्रित विकास, **"वैकल्पिक विकास" "संघृत विकास"** जैसे पर्यावरण संरक्षण के अनुकूल विकास लोकप्रिय होने लगे परन्तु शक्ति-समृद्धि एवं विकास की होड़ के कारण संसाधनों के अधिकतम दोहन करके नित नयी प्रौद्योगिकी के सहारे, उपभोक्ता पोषित आर्थिक संवृद्धि की प्रक्रिया विशेष तौर पर विकसित देशों द्वारा अपनाने से विश्व जनमानस के समक्ष पर्यावरणीय संकट जैसे **जलवायु परिवर्तन (Climate Change), ओजोन परत क्षरण (Ozone Layer Depletion), मरुस्थलीयकरण (Desertification), जल संकट** आदि समस्यायें गहराने लगीं हैं ।

भारत में पर्यावरण संकट बहुआयामी चुनौती के तौर पर गहरा रहा है। जनसंख्या के बोझ आर्थिक, सामाजिक असमानता, गरीबी-बेरोजगारी एवं स्वास्थ्य-शिक्षा के स्तर का अपेक्षित रूप से गुणवत्ता परक न होना तथा ऊपर से आर्थिक विकास का आम जनमानस के जीवन यापन की जरूरतों ने पर्यावरण समस्याओं को और भी जटिल बना दिया है। वैश्वीकरण के दौर में बढते बाजारवाद तथा उपभोक्तावादी संस्कृति ने पर्यावरणीय समस्याओं में नये आयामों को भी जोड़ दिया है।

15.4 पर्यावरण संरक्षण नीति का अर्थ एवं तात्पर्य (Meaning and Implications of Environmental Protection Policy)

वास्तव में पर्यावरण एक व्यापक अवधारणा है जिसके अन्तर्गत हमारे आस-पास समस्त परिवेश तथा उसके घटक सम्मिलित होते हैं। सामान्य रूप से पर्यावरण को प्रकृति का समानार्थक समझा जाता है इसके अन्तर्गत सभी भौतिक एवं जैविक घटक सम्मिलित होते हैं। **भौतिक तत्वों** में जल ,जलवायु, मृदा, शैल तथा खनिज संसाधन आदि आते हैं वहीं **जैविक तत्वों** में पेड़-पौधे, जन्तु तथा सूक्ष्म जीव आते हैं। इसके अतिरिक्त पर्यावरण के सांस्कृतिक तत्वों में वे मानव द्वारा निर्मित सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक परिवेश को शामिल किया जाता है।

चूँकि आज पर्यावरण का संकट मानव के क्रियाकलापों से गहरा रहा है अतः पर्यावरण के सभी घटकों के संरक्षण की आवश्यकता पृथ्वी के अस्तित्व हेतु अपरिहार्य है। पर्यावरण के संरक्षण से यह तात्पर्य है कि उसका सार्थक, सम्यक एवं नियोजित उपयोग सुनिश्चित करना है। पर्यावरण को क्षरण से सुरक्षित करते हुए क्षरण होने पर उसका पुर्नस्थापन करने की भरपूर चेष्टा करना। अतः पर्यावरण तथा प्राकृतिक संसाधनों का अभीष्ट प्रयोग सुनिश्चित करना पर्यावरण संरक्षण में किसी भी देश काल में विद्यमान जनसंख्या तथा उसका जीवन स्तर, तकनीकी प्रगति, आर्थिक एवं सामाजिक पारिस्थितियाँ अभीष्ट उपयोग को निर्धारित करती हैं। इस प्रक्रिया में भविष्य हेतु पर्यावरण सुरक्षा तथा उसके संसाधनों सांतत्य (continuum) निहित होता है।

15.5 पर्यावरण संरक्षण नीति के उद्देश्य (Objectives of Environmental Protection Policy)

भारत में पर्यावरण संरक्षण के संदर्भ में नीति तथा कार्यक्रम प्रथम पंचवर्षीय योजना से ही आरम्भ किये गये थे। समय के साथ-साथ इनमें संशोधन तथा परिवर्तन किया जाता रहा है। संक्षेप में पर्यावरण संरक्षण नीति के उद्देश्य निम्नवत हैं -

1. पारिस्थितिकीय संतुलन के संरक्षण और पुर्नस्थापना द्वारा पर्यावरण संतुलन को बनाए रखना।
2. देश के प्राकृतिक संसाधनों जैसे जल, भूमि, वन, खनिज आदि के संरक्षण को सुनिश्चित करते हुए उनके सम्यक दोहन तथा समुचित प्रबन्धन को प्रोत्साहित करना।
3. सभी प्रकार के प्रदूषणों जल, वायु, मृदा आदि की प्रभावी रोकथाम करते हुए पर्यावरण सुरक्षा को सुनिश्चित करना।
4. पर्यावरण संरक्षण हेतु अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को विकसित करना तथा इस सन्दर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों का अनुपालन सुनिश्चित करना।
5. व्यापक विकास परियोजनाओं के क्रियान्वयन पर्यावरण पर प्रभाव का ऑकलन का मूल्यांकन करना।
6. पर्यावरण संरक्षण में आम नागरिकों, वैज्ञानिकों, निजी क्षेत्र, उद्योग समूह, सामाजिक संगठन, शिक्षण संस्थान आदि समेतसमस्तहितधारकों की भागीदारी को प्रोत्साहन करना।
7. पर्यावरण संरक्षण को देखते हुए सतत, वैकल्पिक तथा अविच्छन्न विकास की अवधारणा को स्थापित करना।
8. पर्यावरण संरक्षण के क्षेत्र में शिक्षा, जागरुकता तथा अनुसंधान को प्रोत्साहित किया जायेगा।
9. पर्यावरण संरक्षण के साथ प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर स्थानीय निवासियों व आदिवासियों (जैसे वनों पर निर्भर) के विकास के अधिकार तथा आजीविका की सुरक्षा को सुनिश्चित करना।

15.6 पर्यावरण संरक्षण नीति (Environmental Protection Policy)

भारत में पर्यावरण संरक्षण के सन्दर्भ में नीति निर्माण तथा क्रियान्वयन हेतु नोडल संस्था वन तथा पर्यावरण मंत्रालय है। इस कार्य को वह अन्य सहयोगी मंत्रालय तथा प्रशासनिक विभागों के माध्यम से क्रियान्वित करते हैं। पर्यावरण संरक्षण हेतु राष्ट्रीय पर्यावरण नीति 2006 के साथ-साथ देश में पर्यावरण के विभिन्न घटकों के सम्बन्ध में **राष्ट्रीय जल नीति, राष्ट्रीय कृषि नीति, राष्ट्रीय जनसंख्या नीति, राष्ट्रीय जैवविविधता नीति** आदि का निर्माण किया गया है। संक्षेप में पर्यावरण के महत्वपूर्ण घटकों तथा संसाधनों जैसे **जल, मृदा, खनिज, ऊर्जा** आदि के सन्दर्भ में नीतियों तथा कार्यक्रमों को क्रियान्वित किया जा रहा है। पर्यावरण संरक्षण नीति के सम्बन्ध में इन सभी का विश्लेषण निम्न तौर पर किया गया है -

15.6.1 जल संरक्षण

राष्ट्रीय जल संसाधन परिषद ने अप्रैल 2002 में **राष्ट्रीय जल नीति (National Water Policy)** निर्माण किया जिसका मुख्य उद्देश्य जल संसाधनों का कुशल संरक्षण तथा विकास है इस नीति के विशिष्ट लक्षण निम्नवत हैं-

1. जल संसाधनों का नियोजन, विकास और प्रबन्धन राष्ट्रीय दृष्टिकोण से किये जाने की आवश्यकता है। जल से सम्बन्धित सुविकसित सूचना प्रणाली राष्ट्रीय स्तर पर सृजित की जायेगी।
2. एकीकृत जल संसाधन विकास तथा उपलब्ध भूमिगत तथा सतही जल के सर्वोत्तम उपयोग प्रबन्धन पर जोर दिया जायेगा।
3. उपयोग योग्य जल संसाधनों के अधिक बढ़ाने हेतु अन्तर-बेसिन स्थानांतरण, भूजल का कृत्रिम पुनर्भरण और खारे या समुद्र के पानी को लवण मुक्त करने जैसी गैर पारंपरिक विधियों के साथ-साथ छत पर वर्षा जल संचयन जैसी पांरपरिक जल संरक्षण प्रथाओं को अपनाने की आवश्यकता है।

4. जल का वितरण प्राथमिकता के आधार पर किया जायेगा, जहाँ प्रथम प्राथमिकता पेयजल को तथा उसके पश्चात सिंचाई, बिजली, कृषि उद्योगों और गैर कृषि उद्योगों, अन्वेषण और अन्य उपयोगों में इसी क्रम में किया जाना चाहिए।

5. जल परियोजनाओं के निर्माण एवं प्रबन्धन में लाभान्वितों तथा हितधारकों समेत निजी क्षेत्र की भागीदारी को प्रोत्साहित किया जायेगा।

जल संरक्षण की नीति को क्रियान्वित करने हेतु राष्ट्रीय स्तर पर निम्न महत्वपूर्ण संस्थागत प्रयास किये गये हैं -

1. **राष्ट्रीय जल बोर्ड:** राष्ट्रीय जल नीति के क्रियान्वयन की समीक्षा करने तथा समय-समय पर सरकार को रिर्पोट देने के उद्देश्य 1990 में राष्ट्रीय जल बोर्ड की स्थापना की गयी है।

2. **राष्ट्रीय जल संसाधन परिषद:** प्रधानमंत्री के नेतृत्व में वाली इस परिषद् का गठन 1983 में किया गया था। केन्द्रीय जल संसाधन मंत्री इसके अध्यक्ष तथा राज्यों के मुख्य मंत्री इसके सदस्य होते हैं।

3. केन्द्रीय जल आयोग 1945 में स्थापित यह संस्था देश में छोटी बड़ी परियोजनाओं के ऑकलन, डिजाईन, मौसमी भविष्यवाणी, जल प्रबन्धन तथा जल विज्ञान संबंधी दायित्वों के निस्तारण का कार्य करती है।

4. केन्द्रीय भूजल बोर्ड भूजल की निगरानी, विकास तथा मूल्यांकन हेतु राष्ट्रीय स्तर पर इस बोर्ड का गठन 1970 में किया गया था।

राष्ट्रीय नदी संरक्षण निदेशालय का उद्देश्य राष्ट्रीय संरक्षण योजना को लागू करना है जिससे प्रदूषण की रोकथाम के साथ-साथ पानी की गुणवत्ता भी बनी रहे। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत गंगा, यमुना समेत देश की उपनदियों को शामिल किया गया है।

15.6.2 ऊर्जा संरक्षण (Energy Conservation)

जलवायु परिवर्तन तथा हरित गैस प्रभाव पर हुए क्योटो प्रोटोकॉल तथा इसी संदर्भ में गठित किये गये अन्तर सरकारी पैनल के अनुसार हरित गैसों के उत्सर्जन में सबसे बड़ा कारण जीवाश्म ईंधन का दहन एवं निर्वनीकरण रहा है। इन दोनों का प्रत्यक्ष संबध ऊर्जा की आवश्यकताओं से है। अतः पर्यावरण के संरक्षण हेतु स्वच्छ, वैकल्पिक ऊर्जा के संसाधनों का विकास व ऊर्जा संरक्षण आवश्यक है। योजना आयोग द्वारा गठित **कीर्ति पारेख** के नेतृत्व में गठित **एकीकृत ऊर्जा नीति** पर विशेषज्ञ कमेटी के स्वच्छ ऊर्जा का न्यूनतम लागत पर विकास आज भारत के सामने सबसे बड़ी चुनौती है एवं यह इस समय और भी महत्वपूर्ण हो जाता है। समिति की संस्तुतियों पर योजना आयोग ने कार्ययोजना तैयार की जिसके मुख्य लक्षण निम्नवत हैं -

1. ऊर्जा क्षमता तथा ऊर्जादक्षता की दिशा में निरन्तर प्रयास किये जाये।
2. घरेलू स्तर पर ऊर्जा के संसाधनों (कोयला, तेल, गैस) का उत्पादन अधिकतम किया जाये।
3. हाइड्रोकार्बन स्रोतों के वैदेशिक स्रोतों के दोहन तथा पाईपलाईन के माध्यम से भारत लाने हेतु राजनयिक प्रयास किये जायें।
4. लागत प्रभावी तथा सुलभ नवीकरणीय ऊर्जा के संसाधनों के विकास हेतु अनुसंधान तथा विकास को अधिक तीव्र किया जाये इसके अन्तर्गत नाभिकीय, जल विद्युत, ऊर्जा सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा, आदि की क्षमता का ऑकलन कर उसका दोहन किया जाये।
5. बायोमास तथा बायोडीजल के उत्पादन, उपयोग तथा उनके आर्थिक सामाजिक लाभ-लागत पक्षों के ऑकलन हेतु पायलेट परियोजनाओं को आरम्भ किया जाये।
6. ग्रामीण समुदाय की ऊर्जा आवष्यकताओं की पूर्ति हेतु पुनःप्रयोग किये जाने वाले गैर परम्परागत स्रोतों का विकास किया जायेगा।

ऊर्जा संरक्षण की नीति को क्रियान्वित करने हेतु राष्ट्रीय स्तर पर निम्न महत्वपूर्ण नीतिगत प्रयास किये गये हैं –

1. **ऊर्जा संरक्षण अभियान** को वैधानिक आधार प्रदान करने हेतु ऊर्जा संरक्षण अधिनियम 2001 बनाया गया है।

2. ऊर्जा दक्षता प्रणाली का गठन 2002 में कर ऊर्जा दक्षता प्रणाली को सुदृढ़ करने तथा उन्हें संस्थागत रूप देने के उद्देश्य से किया गया है।

3. ऊर्जा संरक्षण हेतु जनजागरूकता के लिये तथा इस अभियान में आम नागरिकों, शिक्षण संस्थान, सामाजिक संगठनों आदि की भागीदारी सुनिश्चित करने के उद्देश्य से 14 दिसम्बर, 2004 को ऊर्जा संरक्षण पर राष्ट्रीय अभियान का आरम्भ किया गया।

4. तेल और गैस की खोज में तेजी लाने और उनका उत्पादन बढ़ाने हेतु **इण्डिया हाईड्रोकार्बन विजन 2025** को स्थापित किया गया है।

5. नयी अन्वेषण लाईसेंस नीति 1999 के अन्तर्गत निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र को तेल तथा गैस उत्पादन एवं खोज के लाईसेंस प्रतिस्पर्धी बोली के आधार पर ही प्रदान किये जायेंगे।

6. देश में स्वच्छ ऊर्जा के समुचित विकास हेतु 1992 गैर परम्परागत ऊर्जा मंत्रालय एवं पुनरोपयोगी या नवीकरणी गैर परम्परागत ऊर्जा स्रोतों पर आधारित परियोजनाओं के विकास हेतु तकनीकी तथा वित्तीय सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से 1987 इरेडा (भारतीय पुनरोपयोगी ऊर्जा विकास ऐजेन्सी) का गठन किया गया है।

7. ग्रामीण क्षेत्रों में स्वच्छ व सस्ते ऊर्जा स्रोतों के विकास तथा जैविक खाद तैयार करने हेतु राष्ट्रीय बायोगैस विकास कार्यक्रम आरम्भ 1981-82 में आरम्भ किया गया है।

8. ऊर्जा संरक्षण, ईंधन की बचत, धुऐं से मुक्ति तथा महिलाओं की दशा सुधारने हेतु राष्ट्रीय उन्नत चूल्हा कार्यक्रम 1984-85 में आरम्भ किया गया।

15.6.3 वन संरक्षण (Forest Conservation)

भारत विश्व के चुनिदा देशों में से एक है जहाँ 1894 से ही वन नीति लागू है। इस नीति को 1952 तथा 1988 में संशोधित किया गया था। संशोधित वन नीति का मुख्य आधार बनों की सुरक्षा, संरक्षण तथा विकास है। इस नीति तथा वन एवं वन्य जीव संरक्षण से संबन्धित अधिनियमों का अध्ययन हम पूर्व की ईकाईयों में कर चुके हैं। वनों के संरक्षण के सन्दर्भ में अन्य महत्वपूर्ण कार्यक्रम जो कि पर्यावरण संरक्षण के दृष्टिकोण से उल्लेखनीय है निम्न प्रकार से हैं –

1. जंगलों में आग की रोकथाम और प्रबन्धन एवं वन क्षेत्र में बुनियादी ढाँचे में कमियों को दूर करने हेतु दसवीं पंचवर्षीय योजना से भारत के सभी राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों में समन्वित वन सुरक्षा योजना को लागू किया गया है।

2. देश में वनोरोपण पारिस्थितिकी संतुलन तथा पारिस्थितिकीय विकास की गतिविधियों को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से **राष्ट्रीय वनोरोपण और पारिस्थितिकी विकास बोर्ड** की स्थापना 1992 में की गयी। इसके अन्तर्गत राष्ट्रीय उद्यानों अभयारण्यों तथा अन्य संरक्षित व पारिस्थितिकी दृष्टि से संवेदनशील क्षेत्रों जैसे पश्चिमी अरावली एवं पश्चिमी घाट पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है।

3. वनों के संरक्षण तथा संवर्द्धन हेतु राष्ट्रीय वनोरोपण तथा पारिस्थितिकी विकास बोर्ड द्वारा राष्ट्रीय वनोरोपण कार्यक्रम को क्रियान्वित किया जा रहा है।

4. गाँवों में स्थानीय समाज की भागीदारी के माध्यम से वन प्रबन्धन समितियों के गठन के द्वारा वनों के प्रबन्धन हेतु संयुक्त वन प्रबन्धन कार्यक्रम का आरम्भ देश में 1998 में किया गया। इसके लिए संयुक्त वन प्रबन्धन प्रकोष्ठ का गठन तथा संयुक्त वन प्रबन्धन अधिनियम को लागू किया गया है।

5. हरित भारत हेतु राष्ट्रीय मिशन का निर्मित किया गया है जिसका लक्ष्य **कार्बन सिंक (Carbon Sink)** जैसे पारिस्थितिकीय सेवाओं को बढ़ावा देना है तथा देश में वन आवरण को 23 % से बढ़ाकर 33% करना है।

15.6.4 भूमि संरक्षण (Land Conservation)

जनसंख्या तथा आर्थिक विकास की आवश्यकता का दबाव भूमि संसाधन पर पड़ने से भूमि गुणवत्ता तथा उत्पादकता प्रभावित हुई है अपितु भूमि अवनयन की समस्यायें बढ़ने लगी है। इनमें भूमि का बंजर, अम्लीय, लवणीय, अनुत्पादक तथा ऊसर विस्तार होना प्रमुख है। भूमि को पर्यावरण का महत्वपूर्ण घटक मानते हुए **प्रथम पंचवर्षीय योजना (First Five Year Plan)** से इसके संरक्षण हेतु प्रयास आरम्भ किये गये एवं समय के साथ इन भूमि संरक्षण कार्यक्रमों में सुधार एवं परिवर्तन किया जाता रहा है। भूमि संरक्षण कार्यक्रमों तथा नीति के मुख्य लक्षण निम्न रहे हैं -

1. भूमि कटाव की प्रक्रिया व भूमि ढहने की गति धीमी करना।
2. भूमि की नमी व जल प्राप्ति की आपूर्ति सुनिश्चित करना।
3. फसलों के चक्रीकरण मिश्रित खेती तथा जैव उर्वरकों, जैव अवशिष्टों के प्रयोग माध्यम से भूमि की आन्तरिक उत्पादकता बनाये रखना।
4. लगातार आने वाली बाढ़ तथा सूखे से बचाव हेतु उपाय करना।
5. अधिक से अधिक भूमि का उपयोग करते हुए रोजगार के अवसरों को बढ़ाना।
6. सामुदायिक निकासी प्राणी एवं भूमि सुधार को लागू करना।
7. भूमि का सर्वेक्षण कर सार्वजनिक तथा निजी भूमि पर वृक्षारोपण करना । इस दिशा में आम जनता की भागीदारी सुनिश्चित करने हेतु कृषि तथा सामाजिक वानिकी कार्यक्रमों को आरम्भ किया गया है।
8. अम्लीय लवणीय तथा क्षारीय भूमि के सुधार हेतु प्रयास इस दिशा में पंजाब, हरियाणा तथा उत्तर प्रदेश मे केन्द्र सरकार द्वारा प्रायोजित योजना आरम्भ की गयी है तथा करनाल हरियाणा में केन्द्रीय मृदा लवणीयता अनुसंधान संस्थान की स्थापना की गयी है।
9. पूर्वोत्तर राज्यों में झूम की खेती क्षेत्रों में भूमि अपरदन रोकने तथा जल-भूमि संसाधन के विकास हेतु में राष्ट्रीय जल सभंर विकास योजना आरम्भ की गयी । बाद में इसका विस्तार राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश के पहाड़ी क्षेत्रों में किया गया।
10. भूमि उत्पादकता को बनाये रखने हेतु वैज्ञानिक तथा विवेकपूर्ण तरीकों से कृषि को प्रोत्साहित करने हेतु सतत कृषि की अवधारणा स्थापित की गयी है।

15.6.5 पर्यावरण संरक्षण नीति तथा प्रदूषण नियन्त्रण (Environmental Protection Policy and Pollution Control)

पर्यावरण संरक्षण की दिशा में वर्तमान समय में प्रदूषण बहुत गम्भीर संकट बन कर उभरा है। वायु, जल, भूमि एवं ध्वनि आदि सभी क्षेत्रों में होने वाले प्रदूषण के नियन्त्रण हेतु पर्यावरण मंत्रालय द्वारा 1992 में एक नीति को गठित किया गया । इस नीति के मुख्य उद्देश्य पर्यावरण संरक्षण हेतु नियम कानूनों का प्रभावी क्रियान्वयन सुनिश्चित करना एवं प्रदूषण रोकथाम की गतिविधियाँ तथा प्रौद्योगिकी के प्रयोग को प्रोत्साहित करते हुए औद्योगिक अपशिष्टों के निपटान से पूर्व उनका पुर्नचक्रण तथा शुद्धिकरण सुनिश्चित किया जाये व वाहनों से होने वाले उत्सर्जन हेतु मानकों को व्यापक एवं प्रभावी बनाया जाये।

उपरोक्त नीतिगत वक्तत्व के अनुरूप देश में पर्यावरण संरक्षण हेतु **1986 में पर्यावरण (संरक्षण) अधिनियम** गठित किया गया है। इस अधिनियम के अनुसार **जल (प्रदूषण-नियन्त्रण व रोकथाम) अधिनियम 1974** तथा **वायु (प्रदूषण नियन्त्रण व रोकथाम) अधिनियम 1981** के अनुसार प्रदूषण उत्पन्न करने वाली लाईसेंस की इच्छुक इकाईयों हेतु पर्यावरण सम्बन्धी वक्तव्य पेश करना अनिवार्य किया गया है।

15.6.6 शिक्षा, सूचना एवं पर्यावरण संरक्षण (Education, Information and Environmental Protection)

पर्यावरण संरक्षण हेतु देश में जागरुकता तथा सभी हित धारकों की भागीदारी हेतु पर्यावरण संरक्षण के सन्दर्भ में शिक्षा, अनुसंधान तथा प्रशिक्षण आवश्यक है। पर्यावरण संबंधी शिक्षा, जागरुकता और प्रषिक्षण हेतु एक महत्वपूर्ण योजना को 1983-84 में लागू किया गया था। इस योजना में समयानुसार संशोधन किये

जाते रहे हैं। इस योजना के माध्यम से पर्यावरण एवं वन मंत्रालय पर्यावरण की गुणवत्ता सुधारने व पर्यावरण संरक्षण हेतु क्षमताओं तथा योग्यताओं को विकसित करने का प्रयास कर रहा है। इस योजना के निम्न महत्वपूर्ण लक्ष्य हैं -

1. औपचारिक शिक्षा के क्षेत्र में पर्यावरण शिक्षा तथा शिक्षा सामग्री को विकसित किया जायेगा।
2. सभी वर्गों में पर्यावरण संरक्षण के बारे में जागरुकता बनाने के लिए गैर सरकारी संगठनों, जन संचार माध्यमों तथा अन्य संबंधित संस्थानों को प्रोत्साहित करना।
3. मौजूदा शैक्षिक विज्ञान/शोध संस्थानों के माध्यम से पर्यावरण शिक्षा को बढ़ावा देना।
4. पर्यावरण शिक्षा के क्षेत्र में **प्रशिक्षण** सुनिश्चित करते हुए पर्यावरण संरक्षण हेतु मानव संस्थान को विकसित किया जाये।

पर्यावरण तथा वन मंत्रालय उक्त योजना की सफलता हेतु **सेमीनारों, कार्यशालाओं, गोष्ठियों, प्रशिक्षण कार्यक्रमों एवं पारिस्थितिकी क्लबों** का आयोजन करता है। मंत्रालय द्वारा पर्यावरण संरक्षण व प्रबन्धन की दिशा में शिक्षा व अनुसंधान को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य हेतु अनेक प्रकार की फैलोशिप तथा पुरुस्कारों के स्थापित किया गया है। इन पुरुस्कारों में **इंदिरा गाँधी पर्यावरण पुरुस्कार, राजीव गाँधी वन्य जीव संरक्षण पुरुस्कार** आदि प्रमुख हैं। मंत्रालय पर्यावरण संरक्षण तथा संवर्द्धन के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग विकसित करने का प्रयास कर रहा है। इनके अन्तर्गत **विश्व बैंक (World Bank), यूनेस्को संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (यू.एन.ई.पी.)** सहयोग से अनेकों कार्यक्रमों को क्रियान्वित किया जा रहा है।

पर्यावरण संरक्षण के उद्देश्य से पर्यावरण मंत्रालय द्वारा पर्यावरण सूचना प्रणाली को गठित कर योजनागत कार्यक्रम के रूप में स्थापित किया गया है। इस प्रणाली के माध्यम से पर्यावरण के सन्दर्भ में अद्यतन सूचना को एकत्र, ऑकलन तथा भण्डारण कर एक व्यापक सूचना नेटवर्क को तैयार किया है। वन तथा पर्यावरण मंत्रालय इस नेटवर्क प्रणाली के सभी भागीदारों की गतिविधि को समन्वित करताा है। इस प्रणाली को एनविस प्रणाली भी कहते हैं।

15.7 जलवायु परिवर्तन (Climate change)

जलवायु के निर्धारक संघटकों जैसे वर्षा, आर्दता, तापमान सौर विकरणों, वनस्पतियों, भूआकृतियों तथा महासागरीय कारकों में परिवर्तन होने से धरातल के मौसमचक्रों में नियमित परितर्वन होता है। मौसम चक्रों में होने वाले इन्हीं अनियमित परिवर्तनों को जलवायु परितर्वन स्थानीय, क्षेत्रीय तथा वैश्विक स्तर पर परिलक्षित होता है तथा यह प्रक्रिया पर्यावरणीय असंतुलन के निरन्तर जारी होने से फलीभूत होती है।

जलवायु परिवर्तन हेतु प्राकृतिक तथा मानवीय कारक दोनों उत्तरदायी होते हैं। प्राकृतिक कारकों में खगोलीय एवं धरातलीय कारकों समावेश होता है। खगोलीय कारकों में **पृथ्वी के अक्ष तथा कक्षीय स्थिति में परितर्वन से, सूर्य की सतह पर उपस्थित काले धब्बों (सन स्पॉट) में परिवर्तन, धरती की सतह पर उल्कापात होने से धरती पर प्राप्त होने वाले सौर विकरण** में परितर्वन होने से जलवायु परिवर्तन होता है।

जलवायु परिवर्तन के धरातलीय कारकों की व्याख्या **प्लेट टेक्टानिक सिद्धान्तों (Plate Tectonic Theory)** के माध्यम से होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार समस्त महाद्वीप तथा महासागर प्लेटों के ऊपर अवस्थित हैं जोकि सापेक्षिक रूप से निरन्तर गतिशील रहती है जिनके आपस में टकराने एवं रगड़ खाने से महाद्वीपों, महासागरों की ज्यामिति एवं स्थिति में परिर्वतन होने के साथ-साथ मरुस्थलों, घाटियों व पर्वतों के निर्माण तथा ज्वालामुखीय घटनायें घटित होती हैं एवं जिनसे जलवायु प्रभावित होती है। हिमालय पर्वत ने भारत की जलवायु को निर्धारित किया है। ज्वालामुखी विस्फोट से गर्द, गुब्बार, लावा तथा गैसों के निस्तृत होने तथा आकाश में छा जाने से जलवायु के ऊपर प्रभाव पड़ता है।

मानवीय कारकों जैसे **जनसंख्या के विस्फोट, औद्योगीकरण कृषि विस्तार, परिवहन एवं यातायात सुविधाओं में वेतहाशा वृद्धि, भौतिकवादी जीवनशैली तथा बढ़ते उपभोक्तावाद** के कारण प्राकृतिक संसाधनों का अतिदोहन एवं व्यापक जलवायु प्रदूषण के कारण व्यापक पर्यावरण असंतुलन पैदा हो गया। इसके कारण **हरित गैसों (Green House Gases)** की वायु मण्डल में सांद्रता बढ़ने लगी है। हरित गैस पृथ्वी पर ऊष्मा

व तापमान के नियमन हेतु आवश्यक होती है परन्तु इनकी आवश्यकता से अधिक वृद्धि से पृथ्वी का तापक्रम में अत्यधिक वृद्धि होने से वैश्विक तापवृद्धि की समस्या पैदा हो जायेगी। जलवायु परिवर्तन पर बने अन्तर सरकारी पैनल (आई.प.सी.सी.) के अनुसार पिछले सौ वर्षों में विश्व के औसत तापक्रम में 0.75 डिग्री सेल्शियस की वृद्धि हुई है तथा यह वृद्धि सन 2100 के अन्त तक आते आते **1.4-5.8 डिग्री सेल्शियस** के मध्य होने का पूर्वानुमान है।

हरित गैसों के उत्सर्जन जैसे कार्बन डाई ऑक्साइड का सबसे बड़ा कारण **वनों का विनाश, जीवाश्म ईंधन के अत्यधिक दोहन, लकड़ियों को जलाने, औद्योगिक प्रदूषण** आदि रहे हैं। मीथेन गैस का उत्सर्जन कार्बनिक पदार्थो व ईंधन को जलाने, कार्बनिक पदार्थो के सड़ने-गलने खदानों से, धान के खेत तथा जुगाली करने वाले जानवरों द्वारा बढ़ रहा है। अन्य गैसों जैसे हाइड्रो फ्लारो कार्बन, पर क्लोरो फ्लारो कार्बन का प्रयोग सौन्दर्य प्रसाधनों, प्रशीतकों, फोम,अग्निशामकों,विलायकों, कुचालकों ट्रांसफारमरों, सर्किट बेकरों जैसे विद्युत यांत्रिक संयन्त्रों में किया जाता है।

15.7.1 जलवायु परिवर्तन के संभावित दुष्परिणाम (Potential Adverse Effects of Climate Change)

जलवायु परिवर्तन का प्रभाव खाद्यान्न, कृषि, रोजगार, विकास, स्वास्थ्य पर्यावरण आदि क्षेत्र में इतना व्यापक पड़ सकता है जिससे सम्पूर्ण सृष्टि के अस्तित्व पर ही प्रश्न चिन्ह लग जाये। जलवायु परिवर्तन के संभावित दुष्परिणामों का आकलन निम्न प्रकार से हैं -

1. जलवायु परिवर्तन तथा वैष्विक तापवृद्धि से ग्लेशियर पिघलने एवं सागरीय जल स्तर बढ़ने, तटवर्ती क्षेत्रों एवं द्वीपों के जलमग्न होने का खतरा बढ़ जायेगा। इसका परिणाम अत्यधिक वर्षा, बाढ़, चक्रवात, सूखा जैसे प्राकृतिक आपदाओं के रूप में सामने आ सकता है।
2. जल स्रोतों के विघटन, ग्लेशियरों के पिघलने, प्राकृतिक वनस्पतियों के विनाश से जल संकट के साथ सदानीरा नदियों जैसे गंगा का अस्तित्व ही संकट में पड़ जायेगा।
3. बाढ़, अत्यधिक वर्षा, जल भराव तथा जल स्तर बढ़ने से जल जनित बिमारियों व महामारियों जैसे मलेरिया, डैंगू आदि खतरा बढ़ने से स्वास्थ्य संकट पैदा हो सकता है।
4. अनियमित मौसम एवं वर्षा, सूखा, बाढ़ आदि से कृषि उत्पादकता ह्रास होने से भुखमरी की समस्या गंभीर हो सकती है।

15.8 जलवायु परिवर्तन सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास (International efforts on Climate Change)

जलवायु परिवर्तन तथा जैव विविधता संकट पर अन्तर्राष्ट्रीय चेतना तथा प्रयासों के कारण 1992 में रियो डि जेनेरो (ब्राजील) में **पृथ्वी सम्मेलन (Earth Summit)** आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में वैश्विक पर्यावरण के समक्ष चुनौतियों जैसे **वैश्विक ताप वृद्धि, हरित गैसों का उत्सर्जन, जैव विविधता, वन संरक्षण, गरीबी उन्मूलन एवं पर्यावरण कोष** आदि के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण निर्णय लिये गये तथा उक्त हेतु अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के लिए एक रूपरेखा तैयार की गयी।

इस रियो सम्मेलन में जलवायु परिवर्तन के सन्दर्भ में व्यापक सहमति बनी तथा उसके पश्चात जो रूपरेखा निर्मित की गयी उससे ही 1997 में जापान के शहर क्योटो में वैश्विक तापवृद्धि तथा जलवायु परिवर्तन के सम्बन्ध में क्योटो प्रोटोकॉल का निर्माण किया गया। इस प्रोटोकॉल के अन्तर्गत

जलवायु परिवर्तन के लिए उत्तरदायी गैसों जिनमें कार्बन डाई ऑक्साइड, मीथेन, नाइट्रस ऑक्साईड, हाइड्रोक्लोरो कार्बन, क्लोरो फ्लोरो कार्बन तथा सल्फर हैक्सा आक्साइड प्रमुख हैं इस प्रोटोकॉल की मुख्य विशेषतायें निम्न हैं -

1. ऐतिहासिक दृष्टि से औद्योगिक देश मुख्य रूप से हरित गैसों के उत्सर्जन हेतु मुख्य रूप से जिम्मेदार हैं अतः उन्हें 2008-2012 के मध्य तक अपने 1990 के उत्सर्जन स्तर में 5.2 प्रतिशत की कटौती करनी है।

2. विकासशील देश में प्रतिव्यक्ति उत्सर्जन तुलनात्मक रूप से कम है तथा उनके हेतु अभी कटौती करना सम्भव नहीं है।

3. यद्यपि विकासशील देशों पर उत्सर्जन में कटौती की कोई बाध्यता नहीं लागू की गयी है परन्तु विकासशील देशों को उत्सर्जन प्रक्रिया में भागीदार बनाने हेतु क्लीन डेवलेपमेंन्ट मैकेनिज्म (स्वच्छ विकास प्रक्रिया) नामक एक व्यवस्था की गयी है। इसके अन्तर्गत क्योटो प्रोटोकॉल में शामिल विकसित देश ग्रीन गैस उत्सर्जन में कटौती के लिए विकासशील देशों की हरित परियोजनाओं में निवेश कर हरित गैसो के उत्सर्जन कटौती की वचनबद्धता का पालन कर सकता है।

4. **कार्बन क्रेडिट (Carbon Credit)** की महत्वपूर्ण अवधारणा का औपचारिक स्वरूप भी **क्योटो प्रोटोकॉल** के अन्तर्गत स्थापित किया गया। इसके अन्तर्गत विकसित देषों को हरित गैसों के उत्सर्जन में कटौती निर्धारित कर दिया गया है। इसके कार्बन क्रेडिट उन देशों को दिये जाने वाले सर्टीफिकेट जिन्होंने वैश्विक तापवृद्धि के लिये जिम्मेदार हरित गैसों में कटौती करने में कामयाबी हासिल कर ली है।

5. **क्लाईमेट चेंज यूनाईटेड नेशंस फ्रेमवर्क (यू. एन. एफ. सी.सी.)** के तत्वाधान में हुए इस समझौते में अमेरिका हेतु 7 प्रतिशत यूरोपीय यूनियन हेतु 8 प्रतिशत तथा जापान हेतु 6 प्रतिशत की कटौती का प्रावधान किया गया है।

यद्यपि क्योटो प्रोटोकॉल को 2002 में जर्मनी में संशोधित तथा 2005 में अंगीकृत किया गया था तथा 191 देश इस समझौते को अनुमादित कर चुके हैं परन्तु वर्तमान समय में इस समझौते को विस्तार करने हेतु वैश्विक प्रयासों में आम सहमति नहीं बन पा रही है। जलवायु परितर्वन के सन्दर्भ में डेनमार्क के कोपनहेगन में **कॉप-15** (COP-15) नामक सम्मेलन आयोजित किया गया परन्तु विकसित देश विशेषकर अमेरिका तथा विकासशील देश भारत, चीन, ब्राजील आदि के मध्य ठोस सहमति नहीं बन पाने के कारण कोई सार्थक परिणाम नहीं आ पाया है। वर्तमान में सर्वाधिक **हरित गैसों के उत्सर्जन में चीन का प्रथम स्थान है परन्तु प्रति व्यक्ति उत्सर्जन में अमेरिका प्रथम स्थान पर है।**

भारत द्वारा इस प्रोटोकॉल को 2002 में अंगीकृत किया गया है। जलवायु परिवर्तन तथा हरित गैसों के उत्सर्जन पर नियंत्रण हेतु भारत में व्यापक प्रयास किये गये हैं।

15.9 अभ्यास प्रश्न (Practice questions)

रिक्त स्थानों की पूर्ती कीजिये:

1. पृथ्वी सम्मेलन _________ में आयोजित किया गया है। (रियो डि जेनेरो **या** पेरिस)
2. पहली राष्ट्रीय जल नीति का निर्माण ________ में किया गया। (1987 **या** 2002)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य / असत्य कथन चुनिए:

1. पर्यावरण शिक्षा केन्द्र की स्थापना दिल्ली में की गयी है।
2. जलवायु परिवर्तन से निपटने के लिए पेरिस प्रोटोकाल संधि लागू की गई है।
3. हरित गैस प्रभाव तथा वैश्विक तापवृद्धि के लिए कार्बन डाई ऑक्साईड गैस सर्वाधिक जिम्मेदार है।

15.10 सारांश (Summary)

हमने इस इकाई में पर्यावरण संरक्षण नीति का अर्थ रूपरेखा एवं रणनीति के विषय में जाना। पर्यावरण संरक्षण के लिए यह नितांत आवश्यक है कि पर्यावरण के सभी संघटकों जैसे - वायु, भूमि आदि के समस्त पहलुओं पर व्यापक रणनीति बनाना आवश्यक, वस्तुतया पर्यावरण संरक्षण एक बहुआयामी प्रक्रिया है अतः इसके अन्तर्गत आर्थिक, सामाजिक, वैज्ञानिक, तकनीकि तथा राजनैतिक सभी प्रयासों का समावेश

आवश्यक है। इस इकाई में हमने भारत में पर्यावरण संरक्षण एवं जैव विविधता का महत्व पर चर्चा करी। पर्यावरण संरक्षण हेतु प्राकृतिक संसाधनों का समुचित व विवेकपूर्ण विदोहन तथा प्रदूषण नियन्त्रण सर्वाधिक प्राथमिकता के विषय है । आज उक्त क्षेत्रों में निरन्तर बढ़ रही समस्या के कारण ही पर्यावरण अंसतुलन की समस्या पैदा हुई है। यही समस्यायें जलवायु परितर्वन के रूप में सामने आ रही है। हमने यह भी समझा कि जलवायु परिवर्तन तथा पर्यावरण संरक्षण हेतु राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर क्या प्रयास किये जा रहे हैं।

अंतत: हमने इस इकाई में पर्यावरण संरक्षण नीति की आवश्यकता को समझा और जैव विविधता की सुरक्षा तथा संरक्षण हेतु राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रयासों की विवेचना भी करी। अतः यदि विश्व को इस संकट के समाधान की तलाश करनी है तो विकसित, विकासशील देशों को एकजुट होकर सार्थक प्रयास करने होंगे।

15.1 शब्दावली (Glossary)

- **मानव विकास (Human Development)** - संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम द्वारा 1990 से मानव विकास रिर्पोट जारी की जाती है। जिसमें मानव विकास को शिक्षा, जीवन प्रत्याशा तथा प्रति व्यक्ति आय के द्वारा निर्धारित किया जाता है।
- **नवीकरणीय संसाधन (Renewable Resources)** - नवीकरणीय संसाधनों के अन्तर्गत वह संसाधन आते हैं जिनके पुनः चक्रीयकरण के द्वारा उनका पुर्नउपयोग सुनिश्चित किया जा सकता है । जैसे - मृदा, वन, भूमि, जल आदि।
- **बायोमास (Biomass)** - इसके अन्तर्गत लकड़ी, कृषि व जैविक अपशिष्ट पदार्थ आते हैं, जिनसे वैज्ञानिक तकनीक द्वारा अधिक एवं प्रदूषण मुक्त ऊर्जा प्राप्त होती है।
- **हाइड्रोकार्बन विजन (Hydrocarbon Vision)** - देश में हाइड्रोकार्बन की खोज, उत्पादन, संरक्षण तथा उपयोग को अधिक, विवेकपूर्ण तथा बेहतर तौर तरीकों से करने हेतु एक रणनीतिक कार्यक्रम है।
- **हरित गैस (Greenhouse Gas)** - हरित गैस प्रभाव को अंजाम देने वाली गैसों को हरित गैस कहते हैं। इसके अन्तर्गत कार्बन डाई ऑक्साइड, मीथेन, नाइट्रस ऑक्साइड, क्लोरो फ्लोरो कार्बन, हाइड्रो क्लोरो कार्बन तथा सल्फर हैक्सा क्लोराईड गैसें आती हैं।
- **कार्बन क्रेडिट (Carbon Credit)** - कार्बन क्रेडिट का मापन प्रमापीकृत उत्सर्जन इकाई में किया जाता है। विकसित देश अपनी निर्धारित उत्सर्जन कटौती के कुछ अंश को कार्बन क्रेडिट खरीद कर कम करने में कामयाब हो जाते हैं।
- **उत्सर्जन व्यापार (Emission Trading)** - चूँकि क्योटो प्रोटोकॉल में उत्सर्जन मानक निश्चित है अतः उत्सर्जन के अंशों को विभिन्न देश आपस में क्रय विक्रय कर सकते हैं।

15.12 अभ्यास प्रश्न के उत्तर (Answer for Practice Question)

रिक्त स्थानों की पूर्ती कीजिये:

1. रियोडि जेनेरो   2. 1987

निम्नलिखित कथनों में से सत्य / असत्य कथन चुनिए:

1. असत्य   2. सत्य   3. सत्य

15.13 सन्दर्भ ग्रन्थ सूत्र (Bibliography)

- सिंह, काशीनाथ जगदीश (2006) , आर्थिक भूगोल के मूल तत्व, ज्ञानोदय प्रकाशन, गोरखपुर।
- सिन्हा, मेघा (2008), पर्यावरण और पारिस्थितिकी तंत्र, वंदना प्रकाशन, दिल्ली।
- त्रिपाठी रेणु (2008), पर्यावरण भूगोल, ओमेगा पब्लिकेशन, दिल्ली।

- जलवायु परितर्वन (2010), जागरण वार्षिकी।

15.14 कुछ उपयोगी पुस्तकें (Useful Text)

15.15 निबंधात्मक प्रश्न (Essay type question)

1. पर्यावरण संरक्षण नीति के अर्थ, घटक बताये तथा पर्यावरण संरक्षण नीति की आवश्यकता और महत्व समझाइये।
2. पर्यावरण संरक्षण नीति के उद्देश्य तथा उसके संबन्ध में विभिन्न अधिनियमोंकी चर्चा कीजिए|
3. जलवायु परिवर्तन के दुष्परिणामों से पर्यावरण पर आने वाले संकटों का विश्लेषण कीजिए।

इकाई 16 पर्यावरण नीति I
(Environment Policy I)

16.1 प्रस्तावना (Introduction)

16.2 उद्देश्य (Objectives)

16.3 पर्यावरण नीति की आवश्यकता (Need for Environmental Policy)

16.4 पर्यावरण नीति के उद्देश्य एवं सिद्धान्त (Objectives and Principles of Environmental Policy)

16.4.1 पर्यावरण नीति के उद्देश्य (Objectives of Environmental Policy)

16.4.2 पर्यावरण नीति के सिद्धान्त (Principles of Environmental Policy)

16.5 पर्यावरण नीति की रूप-रेखा (Framework of Environmental Policy)

16.6 पर्यावरण नीति के साधन एवं रणनीति (Instruments and Strategies of Environmental Policy)

16.7 राष्ट्रीय वन नीति (National Forest Policy)

16.7.1 राष्ट्रीय वन नीति, 1988 (National Forest Policy, 1988)

16.7.2 राष्ट्रीय वन नीति 1988 के उद्देश्य (Objectives of National Forest Policy, 1988)

16.7.3 राष्ट्रीय वन नीति की रणनीति 1988 (Strategy of National Forest Policy, 1988)

16.8 अभ्यास हेतु प्रश्न (Practice Questions)

16.9 सारांश (Summary)

16.10 शब्दावली (Glossary)

16.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर (Answer for Practice Questions)

16.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची (Bibliography)

16.13 उपयोगी पाठ्य सामग्री (Helpful Text)

16.14 निबन्धात्मक प्रश्न (Essay type Questions)

16.1 प्रस्तावना (Introduction)

आधुनिक युग में औद्योगीकरण (Industrialization), नगरीयकरण (Urbanization), भौतिकतावादी (materialism) जीवन शैली एवं बाजारवाद (marketism) के चलते पर्यावरण पर संकट के बादल गहराये हैं। जनसंख्या में वृद्धि और तीव्र आर्थिक उन्नति (rapid Economic growth) के कारण पर्यावरण पर बोझ बढ़ता है। उन्नति पर्यावरण के लिए सौम्य और टिकाऊ होनी चाहिए। विकास के दौरान इस कार्य हेतु अधिक पर्यावरणीय जानकारी, उचित नीतियाँ और विनियामक तंत्र (regulatory system) का होना आवश्यक है।

16.2 उद्देश्य (Objectives)

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप -

- ✓ पर्यावरण नीति की आवश्यकता एवं रूप रेखा को समझ सकेंगे।
- ✓ पर्यावरण नीति के लक्ष्य एवं उद्देश्यों को जान सकेंगे।
- ✓ पर्यावरण नीति के मुख्य आयाम एवं सिद्धान्त से अवगत हों सकेंगे।
- ✓ वन नीति का अर्थ, आवश्यकता एवं लक्ष्य को जान सकेंगे।

16.3 पर्यावरण नीति की आवश्यकता (Need for Environmental Policy)

आधुनिक युग में औद्योगीकरण, नगरीकरण, जनसंख्या के अपार बोझ, भौतिकतावादी जीवन शैली एवं बाजारवाद के चलते पर्यावरण पर संकट के बादल न सिर्फ गहराये हैं अपितु आवश्यकताओं के अत्याधिक दवाब के चलते धरती का परिवेश बढ़ा ही दमघोटू सा हो गया है। भारत में भी प्रदूषण जनित पर्यावरण संकट के कारण हमारे जल, भूमि, नदियाँ अपशिष्टों, रसायनों से परिपूर्ण होकर कूड़े-कचरे एवं गन्दे नालों का रूप ले चुकी हैं।

1970 के दशक से विश्वस्तर पर यह जागरुकता प्रसारित होने लगी कि उत्तरोत्तर तीव्र उत्पादन-उपभोग को प्रगति एवं संवृद्धि का पर्याय मानते हुए मानव प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध शोषण कर अपने पर्यावरण एवं परिवेश को जहरीला एवं दमघोटू बना रहा है। अत्यधिक संवृद्धि हेतु संसाधनों के लिए प्रतिस्पर्धा होड़ से आर्थिक एवं सामाजिक असमानता एवं राजनैतिक तनाव पैदा हो रहे हैं। कुल मिलाकर हमारी पृथ्वी पर मानवीय क्रियाकलापों का बोझ संकट स्तर तक पहुँच रहा है एवं सम्पूर्ण पृथ्वी संतुलन अस्थिर हो गया है। यदि यह क्रम इसी प्रकार जारी रहा तो निकट भविष्य में संसाधन समापन की स्थिति आ जाएगी एवं मानव सभ्यता के अस्तित्व पर ही प्रश्न चिन्ह लग जाएगा।

अत: आर्थिक संवृद्धि जनित विनाश के चक्रों से बचने के लिए सम्पूर्ण विश्व स्तर पर पर्यावरणीय संतुलन को बनाये रखने हेतु 5 जून, 1972 से स्वीडन की राजधानी स्टॉकहोम में मानव एवं पर्यावरण पर एक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यक्रम संयुक्त राष्ट्र के तत्वाधान में आयोजित किया गया। इसी सम्मेलन से संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (United Nations Environment Programme-UNEP) का आरम्भ हुआ। इस सम्मेलन में भारत समेत सभी सदस्य देशों से यह अपील की गयी कि वह पर्यावरण संरक्षण हेतु नीतियाँ, अधिनियम एवं कार्यक्रमों को क्रियान्वित करे एवं आर्थिक संवृद्धि की प्रक्रिया में पर्यावरणीय मूल्यों (Environmental values) का समावेश करें।

ब्राजील के **रियो डि जेनेरो (Rio De Janeiro)** में हुए 1992 में आयोजित **पृथ्वी शिखर सम्मेलन (Earth Summit)** को आर्थिक संवृद्धि एवं पर्यावरणीय मूल्यों में सामजस्य स्थापित करने के दृष्टिकोण से बड़ा ऐतिहासिक एवं महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। जलवायु परिवर्तन पर **क्योटो प्रोटोकॉल 1997 (Kyoto Protocol)** में तैयार किया गया एवं समस्त विकसित एवं विकासशील देशों की भागीदारी के साथ इसको वर्ष 2005 में लागू किया गया। दक्षिण अफ्रीका के जोहान्सबर्ग (Johannesburg) में आयोजित सतत विकास पर

सम्मेलन आयोजित किया गया एवं इस सम्मेलन में सतत् विकास के साथ पेयजल, टिकाऊ कृषि एवं खाद्य सुरक्षा, स्वास्थ्य, ऊर्जा एवं जैव विविधता जैसे विषयों को आत्मसात किया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक समझौते, सन्धियों, सम्मेलन एवं अभिसमय के पश्चात् आर्थिक संवृद्धि एवं आर्थिक विकास के सिद्धान्तों को पर्यावरण मूल्यों के अनुसार परिभाषित किया जाने लगा है। जिसके कारण सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक तौर पर आर्थिक विकास की प्रक्रिया में पर्यावरण संरक्षण की महत्ता स्थापित हो गयी है। उपरोक्त सभी का यह परिणाम हुआ कि आर्थिक संवृद्धि एवं विकास के सिद्धान्तों व कार्यक्रमों को पर्यावरण मूल्यों के अनुसार परिभाषित किया जाने लगा। अत: पर्यावरण समस्याओं के साथ-साथ सामाजिक-आर्थिक विषमता (Socio-Economic Inequality) एवं उसके पर्यावरण पर पड़ने वाले नकारात्मक प्रभावों की रोकथाम् एवं उनके प्रभावी समाधान को भी पर्यावरण संरक्षण से जोड़ा जाना आवश्यक हो गया है । जिसके लिए प्राकृतिक संसाधनों का उचित प्रयोग पर बल दिया जाने लगा है।

16.4 पर्यावरण नीति के उद्देश्य एवं सिद्धान्त (Objectives and Principles of Environmental Policy)

पर्यावरण नीति के उद्देश्य एवं सिद्धान्त को इस प्रकार निर्मित किया गया है जिससे पर्यावरण में निहित तत्वों एवं संसाधनों का स्रोत अक्षुण्ण (intact) बना रहे एवं उनका उपयोग निरंतरता सुनिश्चित हो सके अर्थात् संसाधनों का उसी सीमा तक प्रयोग किया जाए जहाँ तक उनके पुननिर्माण की प्रक्रिया निरन्तर बनी रहे साथ ही समतामूलक आर्थिक-सामाजिक विकास सुनिश्चित किया जा सकेगा।

16.4.1 पर्यावरण नीति के उद्देश्य (Objectives of Environmental Policy)

इस नीति के उद्देश्य निम्नलिखित हैं -

1. महत्वपूर्ण पारिस्थितिकी प्रणालियों (ecosystem), पर्यावरणीय संसाधनों, प्राकृतिक एवं मानव निर्मित धरोहरों का संरक्षण।
2. पर्यावरणीय संसाधनों की पहुँच (access) एवं गुणवत्ता (quality) में इस प्रकार समता स्थापित करना कि निर्धन समुदाय समेत सभी को यह संसाधन सुलभ हों।
3. वर्तमान एवं भावी पीढ़ियों की आवश्यकता हेतु पर्यावरणीय संसाधनों का न्यायोचित प्रयोग सुनिश्चित करना।
4. आर्थिक सामाजिक विकास में पर्यावरणीय सरोकारों (Environmental Concerns) को सुनिश्चित करना।

16.4.2 पर्यावरण नीति के सिद्धान्त (Principles of Environmental Policy)

यह नीति निम्न सिद्धान्तों पर आधारित हैं -

1. मानव विकास का केन्द्र है एवं वर्तमान एवं भावी पीढ़ी की आवश्यकताओं की समान पूर्ति का अधिकार दिया जाना चाहिए।
2. पर्यावरणीय सुरक्षा सतत विकास का अभिन्न अंग है।
3. पर्यावरण से सम्बन्धित विभिन्न सार्वजनिक कार्यों में आर्थिक क्षमता प्राप्त करने का प्रयास किया जाए।
4. इस नीति में प्रदूषणकर्त्ता द्वारा किये गये प्रदूषण का उत्तरदायित्व प्रदूषणकर्त्ता पर स्थापित करने का प्रयास किया गया है।
5. इस नीति में समता के सिद्धान्त को महत्व दिया गया है, यह समता वर्तमान पीढ़ी में सभी के मध्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है साथ ही वर्तमान एवं भावी पीढ़ियों के मध्य भी समता

स्थापित करने का प्रयास किया गया है। जिससे समाज में किसी को भी संसाधनों की कमी का सामना न करना पड़े।

16.5 पर्यावरण नीति की रूपरेखा (Framework of Environmental Policy)

देश के प्राकृतिक संसाधनों जैसे झीलें और नदियाँ, इसकी जैव विविधता, वन और वन्य जीवन के संरक्षण और प्रदूषण से बचाव को सुनिश्चित करने से सम्बन्धित नीतियों व कार्यक्रमों का क्रियान्वियन करने हेतु पर्यावरण एवं वन मंत्रालय का गठन 1985 में किया गया। पर्यावरण संरक्षण उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अनेक कानून और विनियामक उपाय किए गए हैं। हमारे देश के संविधान में अनुच्छेद 48 (ए) में राज्य के नीति निर्देशक तत्वों एवं अनुच्छेद 51 ए (जी) में आम नागरिकों के मूल कर्तव्यों के अन्तर्गत पर्यावरण संरक्षण के दायित्व निर्धारित किये गये हैं । इसी सन्दर्भ में तीस से भी अधिक कानूनों को लागू किया गया है। जिनमें वन संरक्षण अधिनियम 1980, जल प्रदूषण एवं निवारण अधिनियम 1974, एवं वायु प्रदूषण एवं अधिनियम 1981 आदि प्रमुख हैं। इन अधिनियमों को केन्द्रीय एवं राज्य प्रदूषण नियन्त्रण बोर्डों जैसे संगठनों के माध्यमों से लागू किया जाता है ।

राष्ट्रीय पर्यावरण नीति में नियामक सुधारों पर्यावरणीय संरक्षण से सम्बन्धित कार्यक्रमों एवं परियोजनाओं और केन्द्र, राज्य एवं स्थानीय सरकारों की ऐजेंसियों द्वारा कानून बनाने एवं उसकी पुनरीक्षा करने के कार्य में एक निर्देशिका के रूप में बनाने की व्यवस्था की गयी है यानि विभिन्न निकायों के लिये यह दिशा-निर्देश की तरह कार्य करें।

इस नीति का प्रमुख विषय यह है कि पर्यावरणीय संरक्षण के साथ आजीविका (Livelihood) की सुरक्षा आवश्यक है एवं संरक्षण का सबसे सुरक्षित आधार यह सुनिश्चित करना है कि लोग उन संसाधनों के ह्रास (degradation) के बजाय उनके संरक्षण द्वारा बेहतर आजीविका प्राप्त कर सके एवं निरन्तर संसाधनों के संरक्षण में सहभागिता निभाते रहें।

इस नीति का लक्ष्य विभिन्न हितधारक (stakeholders) जैसे सार्वजनिक ऐजेन्सियों (public agencies), स्थानीय समुदायों (local comunities), शैक्षिक एवं वैज्ञानिक संस्थानों(educational and scientific institutions), निवेशकों (investors) एवं अन्तर्राष्ट्रीय विकास भागीदारों (international developmental partners) के मध्य पर्यावरणीय प्रबन्धन के लिये अपने अपने संसाधनों और क्षमताओं के नियन्त्रण व उपयोग के मामले में सहभागिता विकसित करना है।

इस नीति में लक्ष्यों, साधनों सिद्धान्तों एवं उनके लिये आवश्यक रणनीतियों पर चर्चा की गयी है। पर्यावरणीय संसाधनों भूमि, वन, जल आदि के संरक्षण, प्रबन्धन एवं प्रदूषणों से रोकथाम हेतु नीतियों एवं कार्य योजनाओं का विस्तार किया गया है साथ ही संवेदनशील क्षेत्रों एवं तंत्रों जैसे आर्द भूमियों (wetlands), पर्वतों, झीलों, तटीय प्रदेशों (coastal areas) आदि हेतु भी लक्षित कार्यक्रमों (targeted programs) को तैयार किया गया है।

16.6 पर्यावरण नीति के साधन एवं रणनीति (Instruments and Strategies of Environmental Policy)

पर्यावरण नीति के सिद्धान्तों, लक्ष्यों के अनुरूप साधनों एवं रणनीतियों की रचना की गयी है। जोकि निम्नलिखित हैं -

1. **विकेन्द्रीयकृत उत्तरदायित्व (Decentralized Responsibility) -** राज्य एवं स्थानीय निकायों को स्वयं की पर्यावरण नीतियों एवं कार्ययोजनाओं को बनाने हेतु प्रोत्साहित किया जाएगा।

2. **विनायमक एवं वैधानिक सुधार (Regulatory and Statutory Reforms) -** पर्यावरण संरक्षण हेतु ठोस वैधानिक ढाँचा एवं मजबूत विनायमक तंत्र विकसित किया जाएगा। पर्यावरण व प्रदूषण सम्बन्धी विभिन्न कानूनों जैसे जैव-विविधता अधिनियम (biodiversity act), वन अधिनियम (forest act), जल प्रदूषण निवारण अधिनियम (water pollution prevention act), वायु प्रदूषण निवारण अधिनियम (air pollution prevention act) आदि की समीक्षा की जाएगी।
3. **प्रक्रियात्मक सुधार (Procedural Reforms) -** पर्यावरण सम्बन्धी स्वीकृतियों में अनावश्यक देरी को कम किया जाएगा एवं पर्यावरणीय कार्यों में पारदर्शिता एवं विकेन्द्रीकरण सुनिश्चित किया जाएगा।
4. **पर्यावरणीय प्रबन्धन एवं अनुपालन (मॉनीटरिंग) (Environmental Management and Compliance Monitoring) -** पर्यावरणीय संसाधनों के प्रबंधन में बेहतर और एकीकृत रणनीतियों को संस्थागत बनाया जाएगा। पर्यावरण अनुपालन मॉनीटरिंग हेतु स्थानीय संस्थाओं के साथ-साथ सार्वजनिक एवं निजी क्षेत्र की सहभागिता सुनिश्चित की जाएगी। सूचना एवं प्रौद्योगिकी एवं संचार साधनों के माध्यम से पर्यावरण प्रबन्धन सुनिश्चित लिया जाएगा।
5. **संवेदनशील क्षेत्रों की पहचान (Identification of Sensitive Areas) -** देश में पर्यावरणीय दृष्टि से संवेदनशील ऐसे क्षेत्रों की पहचान करना एवं उन्हें वैद्यानिक रूप प्रदान करना जो अतुलनीय महत्व के साथ पर्यावरणीय रूप से अपना अलग स्थान रखते हैं और ऐसे क्षेत्रों के संरक्षण हेतु स्थानीय समाज की सहभागिता एवं आधार पर विकास योजनायें बनाना।
6. **पर्यावरण सूचना तंत्र (Environmental Information System) -** दूर संचार एवं संवेदी उपग्रह प्रणालियों, मीडिया, शिक्षण संस्थानों, उद्योग संगठनों आदि के माध्यम से पर्यावरणीय ज्ञान, अनुसंधान एवं व्यापक सूचना नेटवर्क विकसित करना। पर्यावरणीय एवं प्राकृतिक संसाधनों जैसे नदियों, भूजल, पर्वतों, वनों, आद्र भूमियों आदि के गुणवत्ता एवं विस्तार के सम्बन्ध में डाटा बैंक को अद्यतन रखना।
7. **पर्यावरण शिक्षा एवं जागरुकता (Environmental Education and Awareness) -** व्यापक पर्यावरण जागरुकता कार्यक्रमों एवं पाठ्यक्रमों के माध्यम से पर्यावरण शिक्षा को प्रोत्साहित करना एवं पर्यावरणीय जागरुकता हेतु औद्योगिक संस्थानों, मीडिया एवं सामाजिक संगठनों के प्रयास को विकसित करना।

16.7 राष्ट्रीय वन नीति (National Forest Policy)

पारिस्थितिकीय संतुलन (ecological balance) को बनाये रखने के लिए वनों का सही प्रबंधन अति आवश्यक हैं। वनों के प्रबंधन के सामान्य नियम राष्ट्रीय वन नीति के अनुसार निर्धारित होते हैं। भारत की प्रथम राष्ट्रीय वन नीति वर्ष 1894 में घोषित की गई थी। स्वतंत्रता के बाद भारत शासन के खाद्य एवं कृषि मंत्रालय के द्वारा राष्ट्रीय वन नीति को वर्ष 1952 में पुनरीक्षित किया गया। इस वन नीति के मुख्य बिन्दु निम्नानुसार थे -

1. निर्वनीकरण (deforestation) पर रोक लगाना व भू-क्षरण (soil erosion) को रोकना।
2. सभी प्रकार की भूमि का उपयोग इस प्रकार किया जाए जिससे उत्पादन अधिक से अधिक हो व भूमि को कम से कम क्षति पहुंचे।
3. ग्रामीणों को जलाऊ काष्ठ की सुविधा प्रदान करना जिससे कि गोबर को ईंधन के रूप में उपयोग को रोका जा सके एवं इसे खाद के रूप में उपयोग में लाया जा सके।
4. कृषि औजारों के लिए छोटी लकड़ी की आवश्यक मात्रा में उपलब्धता सुनिश्चित् करना।
5. रक्षा, संचार एवं उद्योगों के लिए आवश्यक इमारती लकड़ी एवं अन्य वनोपज प्रदान करना।
6. जलवायु की स्थिति सुधारने के लिए वृक्षों से आच्छादित भूमि जगह-जगह पर विकसित करना।

16.7.1 राष्ट्रीय वन नीति, 1988 (National Forest Policy, 1988)

भारत में कृषि एवं खाद्यान्न मंत्रालय ने वर्ष 1952 में वन नीति की घोषणा की जोकि भारत में समस्त राज्यों में लागू है। 1952 की राष्ट्रीय वन नीति के बाद देश में आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में अत्यधिक विकास हुआ है। स्वतन्त्रता के पश्चात् से व्यापक पैमाने पर वृक्षारोपण की योजनायें एवं क्रियान्वित किये गये हैं परन्तु बढ़ती वनोत्पादों जैसे ईंधन, चारा, इमारती लकड़ी, रेशा जड़ी बूटियों आदि की बढ़ती माँग के चलते वन संसाधनों का गम्भीर अवनयन हुआ है। वन सम्पदा के अन्धाधुंध दोहन को अपूर्ण संरक्षण प्रयासों (incomplete conservation efforts), वनभूमि के अन्य उपयोग हेतु दोहन, व्यापक क्षतिपूरक (Comprehensive Compensation) एवं संरक्षणात्मक उपायों एवं वनों के प्रबन्धन में जन सहभागिता के अभाव के चलते वनों एवं वन भूमि का अवक्रमण निरन्तर जारी है। अत: वन, वन्य जीवन एवं वन संसाधनों के संरक्षण, प्रबन्धन संवृद्धि एवं विवेकपूर्ण, युक्ति संगत (reasonable) एवं सतत प्रयोग की संकल्पना ने भारत में वन नीति की समीक्षा कर नये सिरे से पुर्नगठन करने की आवश्यकता को जन्म दिया। अत: वर्ष 1988 में वन एवं पर्यावरण मंत्रालय द्वारा नयी पर्यावरण नीति को सारे देश में लागू किया गया।

16.7.2 राष्ट्रीय वन नीति 1988 के उद्देश्य (Objectives of National Forest Policy, 1988)

वन नीति के मूलभूत उद्देश्य निम्नानुसार है -

1. राष्ट्रीय वन नीति 1988 का मुख्य उद्देश्य पर्यावरण स्थिरता एवं परिस्थितिकीय सन्तुलन (ecological balance) को संतुलित करना है क्योंकि यह समस्त जीव जंतुओं, मानव, पशुओं, पक्षियों, पौधों सभी के लिए आवश्यक है। उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के उपरान्त ही आर्थिक लाभ की प्राप्ति के उद्देश्य को रखा गया है। इसके लिए देश की कुल भूमि का कम से कम एक तिहाई क्षेत्र वन आच्छादित क्षेत्र (Covered Area) करने का राष्ट्रीय लक्ष्य पूरा होना चाहिए।
2. देश के वनों को गंभीर क्षरण से दुष्प्रभावित परिस्थितिकीय असंतुलन (adverse ecological imbalance) को पुन:स्थापित करना एवं पर्यावरणीय स्थायित्व का अनुरक्षण एवं रख रखाव करना।
3. विशिष्ट जैविक भिन्नता एवं जीव स्रोतों से परिपूर्ण वनस्पति एवं जीव-जन्तु वाले शेष वनों के अनुरक्षण द्वारा देश की प्राकृतिक विरासत (natural heritage) का संरक्षण करना।
4. बाढ़ एवं सूखा के प्रभाव को कम करने व जलाशयों मे मिट्टी भरने की मात्रा कम करने के लिए मृदा व जल संरक्षण हेतु नदियों, नालों एवं जलाशयों के जल ग्रहण क्षेत्र मे भू-क्षरण एवं निर्वनीकरण (deforestation) को रोकना।
5. राजस्थान के मरूस्थल व तटीय क्षेत्रों मे बढ़ते रेतीले टीलों की रोकथाम करना।
6. पूरे देश में वनीकरण और सामाजिक वानिकी कार्यक्रमों के माध्यम से, विशेष रूप से बंजर, निम्नीकृत और अनुत्पादक भूमि पर, वन/वृक्ष आवरण की मात्रा में उल्लेखनीय वृद्धि करना।
7. ग्रामीण व आदिवासी जनसंख्या की जलाऊ लकड़ी, चारा, लघु वनोपज एवं छोटी लकड़ी की आवश्कताओं को पूरा करना।

16.7.3 राष्ट्रीय वन नीति की रणनीति 1988 (Strategy of National Forest Policy, 1988)

राष्ट्रीय वन नीति के लक्ष्यों के अनुरूप साधनों एवं रणनीतियों की निम्नलिखित रचना की गयी है -

1. राष्ट्रीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु आवश्यकता अनुसार वनों की उत्पादकता में वृद्धि करना।
2. इमारती लकड़ी के विकल्पों एवं वनोपज के कुशल उपयोग को प्रोत्साहित करना।
3. इन उद्देश्यों की पूर्ति एवं वर्तमान वनों के दबाव को न्यूनतम करने हेतु महिलाओं की भागीदारी से प्रभावी आन्दोलन का निर्माण करना।
4. बढ़ती हुई खाद्य की आवश्यकता को देखते हुए वानिकी के लिये अच्छे एवं उत्पादक कृषि भूमि के उपयोग को हतोत्साहित करना।
5. जैविक विविधता के संरक्षण के लिये राष्ट्रीय उद्यानों, जीव मंडल रिजर्व एवं अन्य संरक्षित जगहों को सुदृढ़ करना और इनका पर्याप्त रूप से विस्तार करना।
6. वनों के क्षरण (deforestation) को रोकने के लिए विशेष रूप से वनों के समीपस्थ क्षेत्रों हेतु, समुचित चारा, ईंधन व घास की व्यवस्था आवश्यक है।
7. समस्त निरावृत्त (barren) एवं अवनत (degraded) भूमि पर आवश्यकता पर आधारित एवं समयबद्ध वनीकरण (Time bound afforestation) विशेषत: जलाऊ रोपण एवं चारागाह विकास हेतु प्रभावी कार्यक्रम एक राष्ट्रीय आवश्यकता है। वन भूमि के निर्वनीकरण (deforestation) वाली योजनाओं एवं कार्यक्रमों पर कड़ाई से रोक लगाई जानी चाहिए।
8. वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रणाली का उपयोग कर वनाच्छादित क्षेत्र (forested area) एवं इसकी उत्पादकता में बढ़ोत्तरी किया जाना चाहिए जिसका उद्देश्य प्राकृतिक वनों को नष्ट किए बिना मांग एवं पूर्ति के अंतराल को कम करने का होना चाहिए। वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा स्थापित होने के पश्चात ही बाह्य प्रजातियों का रोपण किया जाना चाहिए एवं यथा सम्भव घरेलू प्रजातियों को प्राथमिकता दिया जाना चाहिए।
9. वन क्षेत्रों में चराई व अन्य अधिकार एवं सुविधाओं की मात्रा वनों की धारण या वहन क्षमता के अनुकूल निर्धारित की जानी चाहिए। शेष आवश्यकता की पूर्ति हेतु आरक्षित वनों से बाहर ही सामाजिक वन व सामुदायिक वनों का विकास किया जाना चाहिए।
10. वनों में आसपास रहने वाले समुदायों, जन-जातियों के वनोपज से सम्बद्ध अधिकार एवं सुविधाओं को प्राथमिकता दी जानी चाहिए एवं वनों के अनुरक्षण एवं विकास में उनकी भागीदारी विकसित की जानी चाहिए।
11. लकड़ी की आपूर्ति में कमी को देखते हुए उपयुक्त विकल्प विशेषत: ग्रामीण क्षेत्रों में लोकप्रिय बनाये जाने चाहिए। गैर वानिकी कार्यो हेतु वन भूमि के उपयोग वाली योजनाओं का सामाजिक एवं पर्यावरणीय मूल्य/लाभ विश्लेषण किया जाना चाहिए। ऐसे प्रकरणों में क्षतिपूर्ति वनीकरण हेतु उपयुक्त प्रावधान आवश्यक रूप से किया जाना चाहिए।
12. वन प्रबन्ध योजनाओं में वन्य प्राणी संरक्षण एवं प्रबंधन हेतु प्रावधान सम्मिलित किये जाने चाहिए।
13. खनन प्रबंध के लिए उचित योजना तैयार की जानी चाहिए जिसमें खनन के उपरांत वनीकरण का प्रावधान आवश्यक रूप से सम्मिलित हो। इसके बिना खनन की अनुमति प्रदान नहीं की जानी चाहिए।

16.8 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1. वन की अंधाधुंध कटाई से……………… होता है। (खनन प्रबंध **या** जलवायु परिवर्तन)
2. वनों की सुरक्षा के लिए ....नीति की आवश्यकता है। (राष्ट्रीय वन नीति **या** सामुदायिक परिवर्तन नीति)

निम्नलिखित कथनों में से सत्य या असत्य कथन का चुनाव कीजिए-

1. वन संसाधनों का राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर महत्व है।
2. पर्यावरण संरक्षण के लिए सबसे महत्वपूर्ण अधिक कागज का उपयोग है।
3. पर्यावरण की रक्षा के लिए हमें नकारात्मक रवैया अपनाना चाहिए।

16.9 सारांश (Summary)

इस इकाई में पर्यावरण नीति पर विस्तार से चर्चा की गई है जिसमें पर्यावरण संरक्षण और संवर्द्धन के विभिन्न पहलुओं को शामिल किया गया है। इसमें सतत विकास की आवश्यकता, जनांकिकीय दबाव, गरीबी, बेरोजगारी और अंतर्राष्ट्रीय प्रतिबद्धताओं के संदर्भ में पर्यावरणीय चुनौतियों का उल्लेख किया गया है। नीति के उद्देश्यों में महत्वपूर्ण पारिस्थितिकी प्रणालियों का संरक्षण, संसाधनों की समता, न्यायोचित प्रयोग और आर्थिक-सामाजिक विकास में पर्यावरणीय सरोकारों को सुनिश्चित करना शामिल है।

इसमें राष्ट्रीय पर्यावरण नीति की रणनीति, राष्ट्रीय कृषि नीति, राष्ट्रीय जनसंख्या नीति, राष्ट्रीय वन नीति और अन्य विकास कार्यक्रमों जैसे गरीबी निवारण पर भी चर्चा की गई है। यह नीति विभिन्न हितधारकों जैसे सार्वजनिक एजेंसियों, स्थानीय समुदायों, शैक्षिक और वैज्ञानिक संस्थानों, निवेशकों और अंतर्राष्ट्रीय विकास संगठनों की सहभागिता सुनिश्चित करने का प्रयास करती है। इस इकाई में पर्यावरणीय प्रबंधन, संवेदनशील क्षेत्रों की पहचान, पर्यावरण सूचना तंत्र, पर्यावरण शिक्षा और जागरूकता जैसे पहलुओं पर भी चर्चा की गई है। नीति के अंतर्गत पर्यावरण संरक्षण के साथ आजीविका की सुरक्षा सुनिश्चित करने पर बल दिया गया है।

16.10 शब्दावली (Glossary)

- **राज्य के नीति निर्देशक तत्व (Directive Principles of State Policy):** भारतीय संविधान के चौथे भाग में कल्याणकारी राज्य की स्थापना हेतु राज्य को महत्वपूर्ण दिशा निर्देश दिये गये हैं परन्तु यह मूल अधिकारों की भाँति न्यायालय में प्रवर्तनीय नहीं हैं।
- **मूल कर्त्तव्य (Fundamental Duties):** भारत के संविधान में आयरलैण्ड से प्रेरित होकर 1976 में 42वें संविधान संशोधन के माध्यम् से आम नागरिकों के मूल कर्त्तव्य संविधान में समाहित किये गये हैं।
- **धारण क्षमता (Carrying Capacity):** किसी भी आर्थिक इकाई की धारण क्षमता निरन्तर अपने अस्तित्व को संकट में डाले बगैर सतत् उत्पादन देने से सम्बन्धित होती है। जैसे वनों की धारण क्षमता।
- **संयुक्त वन प्रबन्ध (Joint Forest Management):** समाज की सहभागिता के साथ शासन द्वारा वनों का प्रबन्ध संयुक्त वन प्रबन्ध के अन्तर्गत आता है।
- **पर्यावरणीय प्रभाव (Environmental Impact):** किसी परियोजना जैसे जल विद्युत आदि के विकास के समय पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभावों का ऑकलन किया जाता है।
- **सामाजिक प्रभाव (Social Impact):** किसी परियोजना के विकास की प्रक्रिया में, समाज पर पड़ने वाले प्रभाव जैसे विस्थापन का ऑकलन किया जाता है।

- **अनैच्छिक विस्थापन (Involuntary Displacement):** यह विस्थापन अपनी इच्छा के विपरीत यानि बाह्यकारी तौर पर किया जाता है।
- **73 एवं 74वां संविधान संशोधन (73rd and 74th Constitutional Amendments):** यह संशोधन स्थानीय नगर निकायों को शासन के विकेन्द्रीयकरण के सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर 1993 किया गया ताकि स्थानीय निकायों को स्वशासन के अधिकार प्राप्त हो सके।
- **नवीकरणीय संसाधन (Renewable Resources):** ऐसे संसाधन जोकि नियमित अंतराल पर निरन्तर उत्पादन प्रदान करते रहते हैं।
- **□एनविस प्रणाली (Environmental Information System):** एनविस का मतलब पर्यावरण सूचना प्रणाली है। भारत सरकार ने निर्णय निर्माताओं, नीति नियोजकों और वैज्ञानिकों को पर्यावरणीय जानकारी प्रदान करने के लिए एक योजना कार्यक्रम के रूप में दिसंबर 1982 में एनविस की स्थापना की। एनविस का केंद्र बिंदु पर्यावरणीय सूचना संग्रह, संकलन, भंडारण, पुनर्प्राप्ति और प्रसार में राष्ट्रीय प्रयासों को एकीकृत करना है।
- **जैव विविधता (Bio-Diversity):** इसे जैविक विविधता के रूप में भी जाना जाता है, पृथ्वी पर पौधों, जानवरों और सूक्ष्मजीवों सहित जीवन की विविधता है। इसमें वे जीन भी शामिल हैं जो इन जीवों में होते हैं और वे पारिस्थितिकी तंत्र जो वे भूमि और पानी में बनाते हैं। जैव विविधता लगातार बदल रही है और इसे तीन स्तरों (आनुवंशिक, प्रजाति और पारिस्थितिक) पर मापा जा सकता है।
- **सामाजिक-आर्थिक विषमता (Social-Economic Inequality):** सामाजिक आर्थिक असमानता बच्चों, युवाओं और परिवारों जैसे लोगों के समूहों के बीच सामाजिक वर्ग, शिक्षा और घरेलू आय में अंतर है। यह सामाजिक संरचना और उस संरचना में लोगों की स्थिति को भी संदर्भित कर सकता है।
- **समता के सिद्धान्त (Principle of Equality):** यह एक कानूनी सिद्धांत है जो बताता है कि समान स्थितियों के साथ समान व्यवहार किया जाना चाहिए और असमान स्थितियों के साथ अलग तरह से व्यवहार किया जाना चाहिए।
- **आजीविका (Livelihood):** जीवनयापन के साधनों में भोजन, आय और संपत्ति शामिल हैं। आजीविका में भोजन, आश्रय, कपड़े, सांस्कृतिक मूल्यों और सामाजिक संबंधों सहित बुनियादी जरूरतों को बनाए रखने के लिए सभी संसाधन (क्षमताएं) शामिल हैं।
- **परिस्थितिकीय असंतुलन (Ecological Imbalance):** पारिस्थितिक असंतुलन तब होता है जब कोई प्राकृतिक या मानव-जनित गड़बड़ी पारिस्थितिकी तंत्र के प्राकृतिक संतुलन को बाधित करती है।
- **प्राकृतिक विरासत (Natural Heritage):** प्राकृतिक विरासत से तात्पर्य प्राकृतिक विशेषताओं, भूवैज्ञानिक और भौगोलिक संरचनाओं और चित्रित क्षेत्रों से है जो जानवरों और पौधों की संकटग्रस्त प्रजातियों के निवास स्थान और विज्ञान, संरक्षण या प्राकृतिक सौंदर्य के दृष्टिकोण से मूल्यवान प्राकृतिक स्थलों का निर्माण करते हैं।
- **जनांकिकीय दबाव (Demographic Pressure):** प्रकृति पर जनसांख्यिकीय दबाव का अर्थ है मानवजनित कारकों का विकास, जो जनसंख्या में वृद्धि के कारण होता है और इसके परिणामस्वरूप, कृषि क्षेत्र में उत्पादन और वृद्धि में वृद्धि होती है।
- **गरीबी (Poverty):** गरीबी एक ऐसी स्थिति है जहां एक व्यक्ति के पास एक निश्चित जीवन स्तर बनाए रखने के लिए संसाधनों और आवश्यक चीजों का अभाव होता है। गरीबी के कई कारण और प्रभाव हो सकते हैं, जिनमें पर्यावरणीय, कानूनी, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक कारक शामिल हैं।
- **बेरोजगारी (Unemployment):** यह उस स्थिति को संदर्भित करती है जहां एक व्यक्ति सक्रिय रूप से रोजगार की तलाश करता है लेकिन काम पाने में असमर्थ होता है। बेरोजगारी को अर्थव्यवस्था के

स्वास्थ्य का एक प्रमुख उपाय माना जाता है। बेरोज़गारी का सबसे अधिक इस्तेमाल किया जाने वाला माप बेरोज़गारी दर है।

16.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर (Answer for Practice Questions)

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1.जलवायु परिवर्तन 2. राष्ट्रीय वन नीति

निम्नलिखित कथनों में से सत्य या असत्य कथन का चुनाव कीजिए-

1. सत्य 2. असत्य 3. असत्य

16.12 संदर्भ ग्रन्थ सूची (Bibliography)

- Andriantiatsaholiniaina, L. A., Kouikoglou, V. S., & Phillis, Y. A. (2004). ***Evaluating strategies for sustainable development: fuzzy logic reasoning and sensitivity analysis. Ecological Economics***, 48(2), 149–172. https://doi.org/10.1016/j.ecolecon.2003.08.009
- Bhalachandran, G. (2011). ***Kautilya's model of sustainable development***. Humanomics, 27(1), 41–52. https://doi.org/10.1108/08288661111110169
- Chen, H., & Yada, R. (2011). ***Nanotechnologies in agriculture: New tools for sustainable development***. Trends in Food Science & Technology, 22(11), 585–594. https://doi.org/10.1016/j.tifs.2011.09.004
- Dev, R. (n.d.-a). ***Corporate Social Responsibility (CSR) in Indian Banking Sector: An analytical study of ICICI bank limited***.
- Dev, R. (n.d.-b). ***Corporate Social Responsibility in India: Reaching to Unreached?***
- ***India follows a holistic approach towards its 2030 Sustainable Development Goals (SDGs).*** (n.d.). Retrieved February 13, 2020, from https://pib.gov.in/newsite/PrintRelease.aspx?relid=191192
- Kaygusuz, K. (2012). ***Energy for sustainable development: A case of developing countries. Renewable and Sustainable Energy Reviews***, 16(2), 1116–1126. https://doi.org/10.1016/j.rser.2011.11.013
- Oparaocha, S., & Dutta, S. (2011). ***Gender and energy for sustainable development. Current Opinion in Environmental Sustainability***, 3(4), 265–271. https://doi.org/10.1016/j.cosust.2011.07.003

- Smyth, J. C. (1995). ***Environment and Education: a view of a changing scene. Environmental Education Research***, 1(1), 3–120. https://doi.org/10.1080/1350462950010101

16.13 उपयोगी पाठ्य सामग्री (Helpful Text)

- सिन्हा, मेघा (2007), ***पर्यावरण और पारिस्थितिकीय तन्त्र***, वन्दना पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली ।
- त्रिपाठी, रेणु (2011) ***पर्यावरण भूगोल***, ओमेगा पब्लिकेशन्स, दिल्ली ।
- ***उत्तराखण्ड उदय***, उत्तराखण्ड दशक 2000-2010 (नवम्बर 2010) अमर उजाला पब्लिकेशन्स लिमिटेड, नोएडा।
- Sinha K. Rajiv (2007) ***Environmental Crisis and Human at risk***, INA Shree Publishers, Jaipur.
- Bhattacharya, R.N. (Ed.) (2001), ***Environmental Economics – An Indian Perspective***, OUP, New Delhi.

16.14 निबन्धात्मक प्रश्न (Essay type Questions)

1. भारत में राष्ट्रीय पर्यावरण नीति के उद्देश्यों, आवश्यकता एवं रूपरेखा का विश्लेषण कीजिए?
2. भारत में राष्ट्रीय वन नीति की रणनीति का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए?
3. भारत में पर्यावरण समस्यों का उल्लेख करते हुए सरकार के स्तर पर नीतिगत प्रयासों का विश्लेषण कीजिए?

इकाई 17 पर्यावरण नीति II
(Environmental Policy II)

17.1 प्रस्तावना (Introduction)

17.2 उद्देश्य (Objective)

17.3 संरक्षित क्षेत्रों का अर्थ तथा अवधारणा (Meaning and Concept of Protected Areas)

17.3.1 संरक्षित क्षेत्रों का वर्गीकरण एवं विकास नीति (Classification of Protected Areas and Development Policy)

17.3.2 संरक्षित क्षेत्र हेतू विकास नीति (Development Policy for Protected Area)

17.4 आपदा शमन (Disaster Mitigation)

17.4.1 आपदा शमन नीति के उद्देश्य Objectives of Disaster Mitigation Policy

17.4.2 आपदा शमन नीति की रूपरेखा एवं रणनीति (Framework and Strategy of Disaster Mitigation Policy)

17.5 जैव विविधता की विकास नीति (Development Policy of Biodiversity)

17.6 जलवायु की परिवर्तन नीति (Policy of Climate Change)

17.7 अभ्यास प्रश्न (Practice Questions)

17.8 सारांश (Summary)

17.9 शब्दावली (glossary)

17.10 अभ्यास प्रश्न के उत्तर (Answer for Practice Questions)

17.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूत्र (Bibliography)

17.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें (Useful Text)

17.13 निबन्धात्मक प्रश्न (Essay type Questions)

17.1 प्रस्तावना (Introduction)

भारत में पर्यावरण समस्याओं का समाधान करने की दिशा में राष्ट्रीय पर्यावरण नीति में व्यापक तथा प्रभावी दिशा निर्देश उपाय एवं रणनीति अपनायी गयी है। इस नीति की रूपरेखा, उद्देश्यों के साथ अन्य नीतियों वन नीति, पुर्नवास नीति आदि के साथ सामंजस्य के बारे में हम पूर्व की इकाई में व्यापक अध्ययन कर चुके हैं।

वास्तव में भारत में पर्यावरणीय चुनौतियाँ एवं संकटों का विस्तार बहुआयामी प्रकृति का है। अतः इस चुनौती का हल हेतु प्रयास भी बहुआयामी एवं विविधता पूर्ण होने चाहिए। जिससे कि समस्त पर्यावरण समस्यायें जैसे जलवायु परिवर्तन, संवेदनशील एवं पर्यावरण दृष्टि से नाजुक संरक्षित क्षेत्र, जैव विविधता संकट आदि पर मंडराते संकटों का समाधान किया जा सके।

इसलिये पर्यावरण नीति को अन्य महत्वपूर्ण नीतियों जैसे संरक्षित क्षेत्र विकास नीति, राष्ट्रीय आपदा शमन नीति, जैव विविधता विकास नीति, जलवायु परिवर्तन नीति आदि के साथ सामंजस्य बनाते हुए गठित किया गया है। पर्यावरण नीति की इस रूपरेखा के बारे में इस इकाई में हम व्यापक अध्ययन करेंगे।

17.2 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के उद्देश्य निम्नवत् हैं -

- ✓ पर्यावरण नीति की रूपरेखा को समझ सकेंगे।
- ✓ संरक्षित क्षेत्र तथा पर्यावरण में अर्न्तसम्बन्ध के विषय में जान पायेंगे।
- ✓ आपदायें एवं पर्यावरण संकट की प्रमुख चुनौतियों को जान पागेयें।
- ✓ जलवायु परिवर्तन के कारण तथा परिणाम से अवगत हों सकेंगे।
- ✓ जैव विविधता का अर्थ तथा जैव विविधता के विकास के सम्मुख प्रमुख संकट के विषय में जान पायेंगे।
- ✓ जलवायु परिवर्तन नीति, राष्ट्रीय आपदा शमन नीति, जैव विविधता विकास नीति तथा संरक्षित क्षेत्र विकास नीति की अवधारणा एवं रणनीति के विषय में भी जान सकेंगे।

17.3 संरक्षित क्षेत्रों का अर्थ तथा अवधारणा (Meaning and Concept of Protected Areas)

संरक्षित क्षेत्र की अवधारणा का विकास सर्वप्रथम अमेरिका से हुआ जहाँ कि पर्यावरणवादियों के ठोस प्रयासों से 1862 में विश्व के **प्रथम राष्ट्रीय उद्यान येलोस्टोन नेशनल पार्क (First National Park Yellowstone National Park)** की स्थापना की गयी। बीसवीं सदी में पर्यावरण चेतना के प्रति जागरुकता के कारण ही 1962 में सिएटल में राष्ट्रीय उद्यानों पर विश्व का पहला सम्मेलन आयोजित किया गया। उसके बाद सरकारी और गैर-सरकारी प्रयासों से यूनेस्को के तत्वावधान में 1970 में मानव और जैवमंडल (Man and the Biosphere) कार्यक्रम की शुरुआत की गई। यूनेस्को के मैन एण्ड बायोस्फेयर कार्यक्रम के अन्तर्गत 1974 में जैव मण्डलीय संरक्षित क्षेत्र (बायोस्फेयर रिजर्व) की अवधारणा लागू की गयी। जिसके उद्देश्य पारिस्थितिकीय संवेदनशील क्षेत्रों में की जैव सम्पदा का संरक्षण करना तथा स्थानीय निवासियों की जैव सम्पदा पर निर्भरता कम करने के उद्देश्य से वैकल्पिक विकास की व्यवस्था करना है। इसके लिए स्थानीय समुदाय हेतु शिक्षण, निगरानी, जागरुकता, प्रशिक्षण एवं अनुसंधान की आवश्यकता होती है।

मानव पर्यावरण सम्मेलन स्टॉक होम में संयुक्त राष्ट्रीय के तत्वाधानों में आयोजित किया गया जोकि पर्यावरण संरक्षण हेतु संरक्षित क्षेत्रों की स्थापना हेतु एक महत्वपूर्ण कदम साबित हुआ। इस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्रीय ने सभी सदस्य देशों से वन, वन्य जीव एवं पर्यावरण के संरक्षण हेतु सार्थक प्रयास करने का अनुरोध किया। इसी के पश्चात् भारत में वन्य जीव अधिनियम 1972 लागू हुआ। जिसके माध्यम से संरक्षित क्षेत्रों की स्थापना तथा प्रशासित किया जाता है।

17.3.1 संरक्षित क्षेत्रों का वर्गीकरण (Classification of Protected Areas)

भारत में संरक्षित क्षेत्रों के अन्तर्गत तीन प्रकार के क्षेत्र आते हैं जिनमें राष्ट्रीय उद्यान, अभयारण्य एवं अन्य प्रतिबन्धित क्षेत्र जैसे जैव मण्डलीय क्षेत्र आदि आते हैं। संरक्षित क्षेत्रों के अन्तर्गत भारत में निम्न क्षेत्र आते हैं -

1. राष्ट्रीय पार्क एवं वन्य जीव अभ्यारण्य
2. जैव मण्डल सुरक्षित क्षेत्र
3. आद्र अथवा नम भूमि
4. तटीय संरक्षित क्षेत्र (कच्छ वनस्पति एवं प्रवाल मित्ति)

जैव मण्डल सुरक्षित क्षेत्र (Biosphere reserve) - प्रतिनिधि पारिस्थितिकीय प्रणाली में आनुवांशिक विविधता बनाए रखने वाले बहुउद्देश्यीय संरक्षित क्षेत्रों को ही जैव मण्डलीय सुरक्षित (बायोस्फेयर रिजर्व) कहा जाता है। इन जैवमण्डल सुरक्षित क्षेत्रों की अवधारणा यूनेस्को के मैन एण्ड बायोस्फीयर कार्यक्रम के अन्तर्गत लागू की गयी थी। इन जैव मण्डलीय क्षेत्रों का मुख्य उद्देश्य निम्न हैं -

1. पौधों जीव-जन्तुओं तथा सूक्ष्म जीवों की विविधता तथा एकता को बनाये रखना।
2. पारिस्थितिकी विज्ञान तथा पर्यावरण संबंधी अन्य मामलों में अनुसंधान को प्रोत्साहन देना।
3. शिक्षा, जागरुकता तथा प्रशिक्षण की सुविधायें प्रदान करना।

स्थानीय लोगों के वैकल्पिक विकास की व्यवस्था करना जिससे जैव संपदा पर उनकी निर्भरता कम हो सके तथा वह जैव विविधता के संरक्षण में भी भागीदार बन सके। भारत में अब तक 14 जैव मण्डलीय सुरक्षित क्षेत्र स्थापित किये जा चुके हैं। जिनमें नीलगिरी सर्व प्रथम 1986 में स्थापित क्षेत्र है। नीलगिरी, सुन्दर वन तथा मन्नार की खाड़ी को यूनेस्को ने मान्यता प्रदान की है। राष्ट्रीय जैव विविधता कार्य नीति में राष्ट्रीय पर्यावरण नीति के विषयों के अनुसार रणनीति एवं कार्यक्रम तय किया गये हैं।

आर्द्र क्षेत्र, भूमि या नम भूमि (Wet area, wetland)- यह भूमि पारिस्थितिकीय रूप से समृद्ध तथा संवेदन शील होती है। भारत में नम भूमियों का प्रचुर भण्डार है जोकि लद्दाख के शीत व शुष्क क्षेत्र से लेकर राजस्थान के ग्रीष्म उष्ण क्षेत्र से होते हुए दक्षिणी प्रायद्वीप के नम तथा ग्रीष्म क्षेत्रों तक विस्तार लिये हुए हैं। भारत में आर्द्र भूमि, कच्छ वनस्पतियों तथा प्रवाल मित्तियों के प्रबन्धन हेतु आर्द्रभूमि या नम भूमि पर हुये अन्तर्राष्ट्रीय समझौते **रामसर संधि** (Ramsar Convention) में इन्हें परिभाषित कर इनके उद्देश्यों को निर्धारित किया गया है। इस समझौते के अनुसार भारत में 6 आर्द्र भूमियों **केवलादेव राष्ट्रीय उद्यान भरतपुर और साभंर (राजस्थान), चिल्का (उड़ीसा), लोकटक (मणिपुर), वूलर (जम्मू और कश्मीर) तथा हरिके (पंजाब)** को नामांकित किया गया है। भारत में वैसे कुल 20 आर्द्र भूमियों को मान्यता प्रदान की गयी है।

कच्छ वनस्पति /मैंग्रोव (Mangrove) - कच्छ वनस्पतियाँ समुद्र तट पर मुहानों, ज्वारीय खड़ियों, जल जमावों, क्षारीय दलदलों में पाई जाती है, राष्ट्रीय आद्र प्रबन्धन क्षेत्र समिति की अनुशंसा पर भारत में 34 कच्छ वनस्पति क्षेत्रों की पहचान की गयी है इसमें भारत के पश्चिमी समुद्र तट पर 16 तथा पूर्वी समुद्र तट पर 18 कच्छ वनस्पति क्षेत्र स्थापित किये गये हैं ।

प्रवाल भित्ति (Coral reef) - प्रवाल भित्तियाँ समुद्र में प्रवाल एवं चूना पत्थर द्वारा निर्मित एक मित्ति होती है, जिसमें प्रावल पॉलिप कालोनियों के संचित कंकाल पाये जाते हैं। प्रदूषण तथा जलवायु परिवर्तनों से प्रवाल मित्तियों को भारी नुकसान पहुँच रहा है। भारत सरकार द्वारा चार प्रवाल क्षेत्रों की पहचान की गयी है इनमें मन्नार की खाड़ी (तमिलाडु), अण्डमान और निकोबार द्वीप समूह, लक्ष्यद्वीप और कच्छ की खाड़ी (गुजरात) में है। इनके प्रबन्ध कार्य हेतु योजना बनाने तथा क्रियान्वयन हेतु राज्य स्तरीय समितियाँ बनाई गयी हैं।

राष्ट्रीय उद्यान/ नेशनल पार्क, वन अभ्यारण्य तथा टाईगर रिजर्व (National Parks, Forest Sanctuaries and Tiger Reserves)- भारत में मानवीय अतिक्रमण तथा हस्तक्षेप के निरन्तर बढ़ते दबाव के कारण

वन तथा वन्य जीवों पर गम्भीर संकट गहराने लगा। अतः वन तथा वन्य जीवों तथा विशेषतौर पर दुर्लभ प्रजातियों के संरक्षण तथा संवर्धन हेतु राष्ट्रीय पार्कों, अभ्यारण्यों को बड़ी मात्रा में बढ़ाया गया है तथा देश भर में इसकी स्थापना की गयी है।

इस संदर्भ में भारत में राष्ट्रीय उद्यानों की स्थापना सर्वप्रथम उत्तरखण्ड के नैनीताल जिले में जिम कार्बेट / हैली नेशनल पार्क की स्थापना के साथ 1936 में आरम्भ किया गया जोकि आगे चलकर जिम कार्बेट नेशनल पार्क के नाम से सारे विश्व में प्रसिद्ध हो गया। आज देश में 102 राष्ट्रीय उद्यानों को स्थापित किया गया है जिनका कुल क्षेत्रफल 39,919 वर्ग किलोमीटर है जोकि कुल देश के क्षेत्रफल का 1.4 प्रतिशत भाग है। राष्ट्रीय उद्यानों में उद्यान में तथा आस-पास के स्थानीय समुदाय के चारा, चुगान तथा सीमित वन उपजों के संदर्भ में अधिकारों को प्रतिबन्धित किया जाता है।

भारत में वन्य जीव संरक्षण अधिनियम तथा प्रोजेक्ट टाईगर को अधिनियमित करते हुए बाघों एवं उनके प्राकृतिक आवास को संरक्षण देने हेतु प्रोजेक्ट टाईगर 1973 से आरम्भ किया गया। 1973 में नौ संरक्षित क्षेत्रों में यह प्रोजेक्ट टाईगर को आरम्भ किया गया जिनमें **मानस (असम), पलामू (बिहार), सिमलीपाल (उड़ीसा) कार्बेट (उत्तराखण्ड), कान्हा (मध्य प्रदेश), मेलघाट (महाराष्ट्र), बाँदीपुर (कर्नाटक), रणथम्बोर (राजस्थान) तथा सुन्दरवन (पं. बंगाल)** का समावेश किया गया।

17.3.2 संरक्षित क्षेत्र हेतू विकास नीति (Development Policy for Protected Area)

संरक्षित क्षेत्रों के विकास नीति का मुख्य उद्देश्य यह रहा कि दुर्लभ वन तथा वन्य जीवों के प्राकृतिक आवास का संरक्षण तथा संवर्धन किया जा सके साथ ही वन संसाधनों पर निर्भर आदिवासियों एवं अन्य वनवासियों के आजीविका पर नकारात्मक प्रभाव ना परिलक्षित हो और उनके सामाजिक आर्थिक विकास में प्राकृतिक संसाधनों का समुचित दोहन किया जा सके। अतः भारत जैसे धनी जनसंख्या वाले देश में संरक्षित क्षेत्रों के प्रबन्धन हेतु एक समावेशी पहल की आवश्यकता है।

वन्य जीव अधिनियम 1972 के अतिरिक्त भारत सरकार द्वारा कुछ विशिष्ट क्षेत्रों को भी संरक्षित क्षेत्रों में घोषित किया गया है। यह प्रक्रिया अन्तर्राष्ट्रीय परम्पराओं समझौतों तथा प्रक्रियाओं के माध्यम से भी प्रभावित होती आयी है। जैसे कि यूनेस्को द्वारा **'मैन एण्ड बायोस्फीयर'** कार्यक्रम के अन्तर्गत जैव मण्डल आरक्षित क्षेत्र (Biosphere Reserve) जैव सम्पदा के संरक्षण तथा संवर्धन के उद्देश्य से घोषित किये गये हैं । इसी प्रकार कच्छ वनस्पतियाँ क्षेत्र, प्रवाल क्षेत्र तथा आर्द्रभूमि क्षेत्रों को भी घोषित किया गया है। यद्यपि इन क्षेत्रों में अधिकांश राष्ट्रीय उद्यान तथा अभयारण्यों के नियमानुसार ही विनियमित होते हैं परन्तु फिर भी इन क्षेत्रों की स्थापना तथा विनियमन अभी भी तदर्थ प्रकृति (Ad hoc nature) का है । क्योंकि अभी भी भारत के 14 में से मात्र 7 जैव मण्डलीय क्षेत्र यूनेस्को के मैन एण्ड बायोस्फीयर कार्यक्रम के मानकों को पूर्ण कर पाये हैं।

संरक्षित क्षेत्र का संरक्षण, संवर्धन तथा प्रबन्धन सामाजिक आर्थिक एवं पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण से एक जटिल कार्य हैं। भारत में संरक्षित क्षेत्रों का गठन तथा प्रशासन भारतीय वन्य जीव अधिनियम 1972 के अन्तर्गत किया जाता है। जिसे समय-समय पर संशोधित किया गया है। इस अधिनियम का क्रियान्वयन को अन्य पूरक अधिनियम जैसे भारतीय वन अधिनियम 1927, (वन संरक्षण) अधिनियम 1980, पर्यावरण (संरक्षण) अधिनियम 1986, जैव विविधता अधिनियम 2002 तथा अनुसूचित जाति एवं अन्य परम्परागत वन निवासी (वनाधिकारों की मान्यता) अधिनियम 2006 के माध्यम से और अधिक प्रभावी बनाया जाता है। प्रधानमंत्री के नेतृत्व में बने राष्ट्रीय वन जीव बोर्ड, वन्य प्राणियों के सरंक्षण एवं संरक्षित क्षेत्रों के विकास हेतु नीतिगत ढाँचे का निर्माण करता है।

संरक्षित क्षेत्रों को तीन भागों में विभाजित कर विकसित किया गया है। सबसे **प्रथम** कानूनी रूप से सुरक्षित मुख्य क्षेत्र (कोर एरिया) **द्वितीय** मुख्य क्षेत्र के बाहर स्थित बफर क्षेत्र जहाँ पर गैर संरक्षण गतिविधियाँ निषिद्ध होती हैं। **तृतीय** क्षेत्र संक्रमण क्षेत्र जहाँ पर स्थानीय निवासियों के वनाधिकारों को संरक्षण दिया जाता है।

17.4 आपदा शमन (Disaster Mitigation)

संयुक्त राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय आपदा शमन रणनीति (यू.एन.आई.एस.डी.आर.) के अनुसार प्राकृतिक आपदाओं के मामले में चीन के बाद दूसरा भारत का स्थान है। भारत में आपदाओं की रूपरेखा मुख्यतः भू-जलवायु स्थितियाँ और स्थलाकृतियों की विशेषताओं से निर्धारित होती है और उनमें जो अन्तर्निहित कमजोरियाँ होती हैं उन्हीं के फलस्वरूप विभिन्न तीव्रता की आपदायें वार्षिक रूप से घटित होती रहती हैं। आवृति, प्रभाव और अनिश्चितताओं के लिहाज से जलवायु प्रेरित आपदाओं का स्थान सबसे ऊपर है। 1967 से 2006 के दौरान भारत में जो आपदायें आयीं उनमें से 52 प्रतिशत बाढ़ के कारण, 23 प्रतिशत चक्रवात के कारण और 11 प्रतिशत भूकम्प और 11 प्रतिशत भू-स्खलन के कारण हुयी परन्तु सबसे अधिक लोग भूकम्प में हताहत हुए, उसके बाद बाढ़ और चक्रवात से ।

आपदा शमन करने हेतु आपदा प्रबन्धन योजनायें तैयार करने और उनके कार्यान्वयन पर निगरानी अपेक्षित संस्थागत तंत्र स्थापित करने के लिए आपदा प्रबन्धन अधिनियम, 2005 अभिनियमित किया गया ताकि आपदा निवारण और आपदा के प्रभाव में कमी के लिए सरकार ने विभिन्न उपाय करें और किसी भी आपदापूर्ण स्थिति का सामना ईमानदारी और समन्वित ढंग से शीर्घ कर पाएं। आपदा प्रबन्धन अधिनियम 2005 के प्रावधानों के अनुसार राष्ट्रीय आपदा प्रबन्धन नीति तैयार की गई है ताकि निवारण, शमन तैयारी और अनुक्रिया की संस्कृति के माध्यम से समग्र, अग्रसक्रिय(Proactive)और प्रौद्योगिकीजनित रणनीति का विकास कर सुरक्षित और आपदा के आघात को सहने में समर्थ भारत का निर्माण किया जा सके।

17.4.1 आपदा शमन नीति के उद्देश्य Objectives of Disaster Mitigation Policy

आपदा प्रबन्धन नीति में आपदा शमन हेतु निम्न उद्देश्य निर्धारित किये गये हैं -

1. आपदा की रोकथाम एवं आपदा से निपटने की तैयार, त्वरित प्रतिक्रिया की संस्कृति को सभी स्तरों पर विकसित करना।
2. आपदा प्रबन्धन को नियोजन तथा विकास की प्रक्रिया में आत्मसात करना।
3. आपदा प्रबन्धन की प्रक्रिया हेतु संस्थागत, तकनीकि एवं विधिक प्रक्रियाओं का तंत्र निर्मित करना जिससे प्रभावी अनुपालन एवं विनियमन की व्यवस्था सुदृढ़ हो सके।
4. आपदा के जोखिम की पहचान, आकलन तथा मॉनीटरिंग हेतु प्रभावी प्रक्रिया विकसित करना।
5. आपदा प्रबन्धन हेतु समुचित तथा प्रभावी सूचना तथा प्रौद्योगिकी आधारित पूर्व चेतावनी व्यवस्था को विकसित करना।
6. प्रभावी राहत-बचाव कार्यक्रमों को समाज के कमजोर वर्गों की आवश्यकतानुसार विकसित करना।
7. आपदा प्रबन्धन की प्रक्रियाओं में समाज, मीडिया तथा निजी क्षेत्र आदि सभी की भागीदारी सुनिश्चित करना।

17.4.2 आपदा शमन नीति की रूपरेखा एवं रणनीति (Framework and Strategy of Disaster Mitigation Policy)

आपदा शमन की प्रक्रिया को आपदा प्रबन्धन नीति में एक आयाम के रूप में स्वीकार किया गया है आपातकालीन प्रबन्धन एक अन्तःविषयक क्षेत्र का सामान्य नाम है जो किसी संगठन की महत्वपूर्ण आस्तियों की आपदा या विपत्ति उत्पन्न करने वाले खतरनाक जोखिमों से रक्षा करने और सुनियोजित जीवनकाल में उनकी निरन्तरता सुनिश्चित करने के लिए प्रयुक्त सामरिक संगठनात्मक प्रबन्धन प्रक्रियाओं से संबंधित हैं, आस्तियाँ सजीव, निर्जीव, सांस्कृतिक या आर्थिक रूप में वर्गीकृत हैं। खतरों को प्राकृतिक या मानव निर्मित कारणों के द्वारा वर्गीकृत किया जाता है। प्रक्रियाओं की पहचान के उद्देश्य से सम्पूर्ण सामरिक प्रबन्धन की प्रक्रिया को चार क्षेत्रों में बांटा गया है।

आपदा प्रबन्धन हेतु संस्थागत तन्त्र (Institutional Mechanism for Disaster Management)- राष्ट्रीय, राज्य, जिला एवं स्थानीय स्तर पर आपदा प्रबन्धन से जुड़े विभिन्न कार्यों को अंजाम देने के लिए एक संस्थागत तंत्र की व्यवस्था करने के अलावा इसमें विभिन्न सरकारी विभागों, एंजेसियाँ, मंत्रालयों द्वारा शमन और बचाव के लिए उठाए जाने वाले विभिन्न कदमों का उल्लेख भी किया गया है। आपदा प्रबन्धन अधिनियम के अनुरूप सरकार ने 2005 में राष्ट्रीय स्तर पर राष्ट्रीय आपदा प्रबन्धन प्राधिकरण (एन.डी.एम.ए.) का गठन किया गया । जिसका अध्यक्ष प्रधानमंत्री को बनाया गया है। राज्यों और जिलों के स्तर पर विभिन्न सरकारों ने राज्य और जिला आपदा प्रबन्धन प्राधिकरणों (एस.डी.ए.ओ.) और (डी.डी.एम.ए.) का गठन किया है। एस.डी.ए.ओ. के अध्यक्ष मुख्यमंत्री एवं डी.डी.एम.ए. के अध्यक्ष जिलाधिकारी नामित किये गये हैं। इनके अतिरिक्त, सरकार ने आपदाओं के साथ कार्रवाई के लिए विशिष्ट बलों का गठन किया है, प्रशिक्षण और अनुसंधान के लिए राष्ट्रीय प्रबन्धन संस्थान की स्थापना की है।

आपदा प्रबन्धन की प्रक्रिया - इस नीति में आपदा प्रबन्धन की प्रक्रिया को दो भागों में यानि **आपदा पूर्व (Pre-Disaster) तथा आपदा पश्चात(post disaster)** में बाँटा गया है जिनके चरण निम्नवत हैं -

1. आपदा पूर्व प्रक्रिया में आपदा की रोकथाम, आपदा के प्रभावों का न्यूनीकरण, आपदा से निपटने की तैयारी की प्रक्रिया आती है।
2. आपदा के पश्चात प्रक्रिया में आपदा के समय त्वरित प्रतिक्रिया, राहत-बचाव, पुनर्निर्माण एवं पूर्व स्थिति बहाल करना आदि प्रक्रियायें आती हैं ।

आपदा की रोकथाम (Disaster Prevention) - आपदा से निपटने का सबसे बेहतर उपाय यह है कि उनके घटित होने की आवृत्तियों की ही प्रभावी रोकथाम कर ली जाये परन्तु यह प्रभावी रोकथाम, प्राकृतिक आपदाओं जैसे भूकम्प, चक्रवात, अतिवृष्टि, बाढ़, भूस्खलन आदि के लिए नहीं की जा सकती है। परन्तु आपदा संवेदन शील क्षेत्रों में समुचित नियोजन तथा विकास के द्वारा किसी संकट को आपदा बनने से रोका जा सकता है।

आपदा के प्रभावों का न्यूनीकरण (Reduction of Disaster Effects)- यह अवधारणा आपदा प्रबन्धन हेतु प्रथम तथा आपदा पूर्व का भाग है इसके अन्तर्गत आपदा के सम्भावित नुकसानों के प्रभावों न्यून करने का प्रयास पूर्व में किया जाता है अर्थात किसी सम्भावित खतरों को आपदाओं में पूरी तरह विकसित होने से रोकने या घटित होने की स्थिति में आपदाओं के प्रभाव को कम करने का प्रयास न्यूनीकरण कारर्वाई है। न्यूनीकरण चरण में जोखिम को कम करने या नष्ट करने के लिए दीर्घकालीन उपायों किये जाते हैं। न्यूनीकरण उपाय संरचनात्मक या गैर-सरंचनात्मक हो सकते हैं। बाढ़ के समय बांध और तटबंध जैसे संरचनात्मक उपाय तकनीकी समाधान की तरह हैं। गैर सरंचनात्मक उपायों में कानून, भूमि उपयोग योजना और बीमा में शामिल हैं। खतरों के प्रभाव को कम करने के लिए न्यूनीकरण सबसे अधिक लागत प्रभावी तरीका है। न्यूनीकरण की पूर्ववर्ती गतिविधि जोखिम की पहचान, आपदा के संवेदनशील क्षेत्रों का आकलन तथा भेद्यता मानचित्र (Vulnerability Map) को तैयार करना, नेशनल डाटाबेस इमरजेंसी मैंनेजमेंट पर आधारित सूचना तन्त्र विकसित करना, भारत में राज्यों में आपदाओं के जोखिम की विस्तृत रूपरेखा को दर्शाने वाला दस्तावेज वल्नरेविलिटी एटलस है जिसे भवन निर्माण सामग्री एवं प्रौद्योगिकी संवर्धन केन्द्र ने तैयार किया है।

आपदा के दौरान तत्परता (Disaster Preparedness)- तत्परता से तात्पर्य आपदा के घटित होने के दौरान आपदा से निपटने की तैयारी से है। अर्थात हम आपदा के लिए कितने तैयार हैं तैयारी, प्राकृतिक आपदाओं, हिंसक हमलों और अन्य मानव निर्मित आपदाओं के प्रभाव को रोकने और कम करने के लिए प्रभावी सहयोग और संरचना को बढ़ाने के लिए योजना, आयोजन, प्रशिक्षण, अभ्यास, आकलन और सुधार की एक सतत प्रक्रिया है।

प्रतिक्रिया (Response)- प्रभावी एवं त्वरित प्रतिक्रिया से आपदा के प्रभाव तथा जान माल की क्षति को न्यूनतम किया जा सकता है इस चरण के अन्तर्गत आपदा क्षेत्र में आवश्यक आपातकालीन सेवाओं और संसाधनों को गतिशील करना शामिल होता है। इसमें अग्निशामक, पुलिस और एम्बुलेंस दल जैसे दलों को आपातकालीन सेवाओं में शामिल कर युद्धस्तर पर सक्रिय किया जाता है।

राहत एवं बचाव (Relief and Rescue)- इस चरण के अन्तर्गत आपदा क्षेत्र में आवश्यक आपातकालीन सेवाओं और संसाधनों को गतिशील करना शामिल होता है। इसमें अग्निशामक, पुलिस और एम्बुलेंस दल जैसी पहले स्तर की कोर आपातकालीन सेवाओं को शामिल किया जाता है। **सैन्य अभियान के तौर पर किए जाने पर इसे आपदा राहत अभियान कहा जाता है** इसके अन्तर्गत विशेषज्ञ बचाव दल जैसी अनेक गौण आपातकालीन सेवाओं शामिल होती हैं एक अच्छी तरह से दोहरायी गयी आपातकालीन योजना को तत्परता चरण के भाग के रूप में विकसित करने से बचाव का कुशल समन्वयन होता है। आवश्यकता पड़ने पर खोज और बचाव को प्रयास की प्रारम्भिक अवस्था में ही शुरू किया जा सकता है।

पुनर्निर्माण (Reconstruction) - उबरने वाले चरण का उद्देश्य प्रभावित क्षेत्र को यथापूर्व स्थिति में बहाल कर उसका प्रभावी पुनर्वास करना है। आपदा के दौरान होने वाली जान माल की भारी क्षति तथा आपदा के पश्चात् पुनर्निर्माण हेतु व्यापक वित्तीय संसाधनों की आवश्यकता होती है इस संदर्भ में सरकार के पास दो स्रोत हैं। प्रधानमंत्री राहत कोष और मुख्यमंत्री राहत कोष एवं आपदा राहत कोष (सी.आर.एफ.), जिसे अब राज्य आपदा

कार्रवाई कोष (एस.डी.आर.एफ.) कहा जाता है। यह कोष मूलतः एक ऐसा सहमत कोष होता है जिसमें राज्य क योगदान 25 प्रतिशत होता है और शेष केन्द्र का। प्रभावित राज्यों में स्थिति का अध्ययन करने के लिए भेजे गये केन्द्रीय दल की सिफारिश पर केन्द्र सरकार सहायता राशि जारी करती है।

क्षमता निर्माण एवं मानव संसाधन विकास (Capacity Building and Human Resource Development) - राष्ट्रीय आपदा प्रबन्धन संस्थान (एन.आई.डी.एम.) नई दिल्ली, भारत सरकार का एक शीर्ष राष्ट्रीय संस्थान है, जो आपदा प्रबन्धन के क्षेत्र में मानव संसाधन विकास, क्षमता निर्माण, प्रशिक्षण, अनुसंधान, प्रलेखन, जनता की जागरुकता और नीति सुझाने के लिए उत्तरदायी है। यह संस्थान आपदा प्रबन्धन हेतु राष्ट्रीय सूचना तन्त्र तथा नेटवर्क विकसित करने के साथ-साथ आपदा प्रबन्धन की प्रक्रिया में निपुणता के केन्द्र की तरह कार्य करता है।

17.5 जैव विविधता की विकास नीति (Development Policy of Biodiversity)

आज यदि पर्यावरण संरक्षण को व्यापक तौर पर किया जाना है तो इसके लिए जैव विविधता की सुरक्षा तथा संरक्षण को सुनिश्चित किये जाने की आवश्यकता है। जैव विविधता का अस्तित्व पूरी सृष्टि के अस्तित्व के दृष्टिकोण से मूल्यवान है। जैव विविधता का योगदान आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं वाणिज्यिक आदि सभी क्षेत्रों में उल्लेखनीय है। पारिस्थितिकीय तंत्र एवं पर्यावरणीय संतुलन को बनाये रखने में जैव विविधता का बड़ा महत्व है। जैव विविधता संरक्षण के माध्यम से जल, वायु तथा भूमि की गुणवत्ता को बनाये रखकर उनके अवनयन पर नियन्त्रण किया जा सकता है एवं कई पर्यावरणीय एवं पारिस्थितिकीय संकटों जैसे जल, ऊर्जा, जलवायु परिवर्तन आदि की रोकथाम भी जा सकती है। इसलिए पर्यावरण संरक्षण नीति में जैव विविधता के विषयों का समावेश आवश्यक हो गया है। भारत में जैव विविधता के सम्यक उपयोग तथा संरक्षण हेतु राष्ट्रीय कार्यनीति बनायी गयी है । भारतीय जैव विविधता अधिनियम 2002, इसी प्रस्ताव के अनुसार ही गठित किया गया है।

जैव विविधता नीति के उद्देश्य एवं आधारभूत सिद्धान्त - इस नीति के निम्न उद्देश्य एवं सिद्धान्त हैं -

1. जैव विविधता के संरक्षण को सुनिश्चित करना तथा जैव सम्पदा का टिकाऊ उपयोग।
2. जैव संसाधनों के उपायोगों से प्राप्त लाभ में सभी की समुचित एवं बराबर की भागीदारी होना सुनिश्चित किया जाये।

3. स्थानीय लोगों के जैव विविधता के उपयोग के सन्दर्भ में परम्परागत स्थानीय ज्ञान को पर्याप्त संरक्षण प्रदान किया जाये।

4. जैव विविधता पर विकास परियोजनाओं के प्रभावों का समुचित लागत, लाभ विश्लेषण द्वारा मूल्यांकन किया जाये।

पश्चिमी घाट पर्वतीय श्रृंखला को विश्व में जैव विविधता के आठ सर्वाधिक गर्म स्थानों में से एक माना जाता है। इसे संयुक्त राष्ट्र के शैक्षणिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संगठन (यूनेस्को) ने विश्व धरोहरों में शामिल किया है। यूनेस्को ने पश्चिमी घाट की जैव-विविधता के संरक्षण के लिए काफी कुछ किये जाने पर जोर दिया। उसने इन स्थलों के अधिक संरक्षण के लिए सरकार से बफर जोन को मजबूत करने को भी कहा है।

17.6 जलवायु परिवर्तन नीति (Climate Change Policy)

वर्ष 2012-2017 के लिए बनी 12 वीं पंचवर्षीय योजना में उन चुनौतियों के अनुसार रणनीति को अपनाया गया है जो जलवायु परिवर्तन ने स्थायी विकास के सामने पेश की है। इसके अन्तर्गत जोर खाद्य सुरक्षा और भूमि, जल, स्वास्थ्य सुरक्षा, जैव विविधता तथा जीन आधारित संसाधनों के सरंक्षण पर है। इसके अलावा बाढ़, सूखे और साइक्लोन आदि की बढ़ी हुई संभावना के बीच आकस्मिक आपदा राहत योजनाओं की रूपरेखा भी तय की गयी है। जलवायु परिवर्तन नीति का पहला लक्ष्य है बिना ग्रीन हाउस गैसों का उत्सर्जन बढ़ाये विकास की गति को 9 फीसदी तक पहुँचाना। इसके अलावा सरकार ने वर्ष 2020 तक कार्बन उत्सर्जन को वर्ष 2005 के स्तर से 20.25 फीसदी तक कम करने की प्रतिबद्धता भी जताई है। इस नीति के निम्न उद्देश्य हैं -

1. जल संसाधनों,वनों, तटीय क्षेत्रों, कृशि तथा स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभावों के सन्दर्भ में भारत में प्रमुख जलवायु सम्बन्धी संवेदनशीलता की पहचान करना।
2. जलवायु परिवर्तन के खतरों से निपटने हेतु हरित गैसों के उत्सर्जन में कटौती करना तथा इस सन्दर्भ में अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों तथा प्रतिबद्धताओं को सुनिश्चित करना।
3. स्वच्छ विकास तंत्र प्रक्रिया में भाग लेने हेतु स्वच्छ विकास तंत्र परियोजनाओं की पहचान कर उनमें भागीदारी करने हेतु भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहित करना।
4. जनसमुदायों के विकास के अधिकारों तथा आजीविका की सुरक्षा को सुनिश्चित करना।

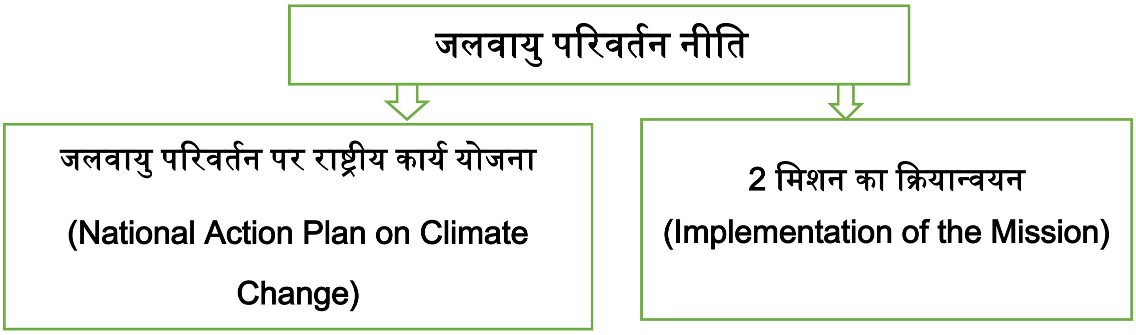

17.6.1 जलवायु परिवर्तन पर राष्ट्रीय कार्य योजना (National Action Plan on Climate Change) -

जलवायु परिवर्तन पर राष्ट्रीय कार्य योजना को औपचारिक रूप से 30 जून 2008 को लागू किया गया। यह उन साधनों की पहचान करता है जो विकास के लक्ष्य को प्रस्तुत करता है। राष्ट्रीय कार्य योजना के कौर के रूप में आठ राष्ट्रीय मिशन हैं। वे जलवायु परिवर्तन, अनुकूलन तथा न्यूनीकरण, ऊर्जा दक्षता एवं प्राकृतिक संसाधन संरक्षण की समझ को बढ़ावा देने पर केन्द्रित हैं। देश की सरकार अभी भी सकल घरेलु उत्पाद (जी.डी.पी.) का करीब 2.8 फीसदी हिस्सा उन कार्यक्रमों पर खर्च करती है जिनका सम्बन्ध कार्बन उत्सर्जन

में कटौती और अनुकूल तकनीकों को अपनाने से है। 12 वीं योजना के दौरान और उसके बाद जलवायु परितर्वन से सम्बन्धित तमाम अभियानों पर कुल मिलाकर 2,50,000 करोड़ रुपये की लागत आयेगी। ये मिशन निम्नवत् हैं -

A) **राष्ट्रीय सौर मिशन (National Solar Mission)**- जलवायु परितर्वन पर राष्ट्रीय कार्य योजना के अन्तर्गत राष्ट्रीय सौर मिशन को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। इस मिशन का उद्देश्य देश में कुल ऊर्जा उत्पादन में सौर ऊर्जा के अंश के साथ अन्य नवीकरणीय साधनों की संभावना को भी बढ़ाना है। यह मिशन शोध एवं विकास कार्यक्रम को आरम्भ करने की भी माँग करता है जो अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को साथ लेकर अधिक लागत-प्रभावी, सुस्थिर एवं सुविधाजनक सौर ऊर्जा तंत्रों की संभावना की तलाश करता है । जलवायु परिवर्तन पर राष्ट्रीय कार्य योजना ने राष्ट्रीय सौर ऊर्जा अभियान ने 2020 तक 20 गीगा वॉट सौर ऊर्जा के उत्पादन का लक्ष्य तय किया है।

B) सम्वर्धित ऊर्जा दक्षता के लिए राष्ट्रीय मिशन (National Mission for Enhanced Energy Efficiency) -

भारत सरकार ने ऊर्जा दक्षता को बढ़ावा देने हेतु पहले से ही कई उपायों को अपनाया है। इनके अतिरिक्त जलवायु परितर्वन पर राष्ट्रीय कार्य-योजना के उद्देश्यों में निम्न शामिल है-

1. बड़े पैमाने पर ऊर्जा का उपभोग करने वाले उद्योगों में ऊर्जा कटौती की मितव्ययिता को वैधानिक बनाना एवं बाजार आधारित संरचना के साथ अधिक ऊर्जा की बचत को प्रमाणित करने हेतु एक ढाँचा तैयार करना ताकि इस बचत से व्यवसायिक लाभ लिया जा सके।
2. कुछ क्षेत्रों में ऊर्जा दक्ष उपकरणों / उत्पादों को वहनयोग्य बनाने हेतु नवीन उपायों को अपनाना।
3. वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु एक तंत्र का निर्माण तथा भविष्य में होने वाली ऊर्जा बचतों के दोहन हेतु कार्यक्रमों का निर्माण और इसके लिए सरकारी निजी भागीदारी की व्यवस्था करना।
4. ऊर्जा दक्षता बढ़ाने हेतु ऊर्जा दक्ष प्रमाणित उपकरणों पर विभेदीकृत करारोपण सहित करों में छूट जैसे- वित्तीय उपायों को विकसित करना।

C) **सुस्थिर निवास पर राष्ट्रीय मिशन (National Mission on Sustainable Habitat) -** इस मिशन का लक्ष्य निवास को अधिक सुस्थिर बनाना है। इसके लिए तीन सूत्री अभिगम पर जोर दिया गया है।

1. आवासीय एवं व्यावसायिक क्षेत्रों के भवनों में ऊर्जा दक्षता को बढ़ावा देना।
2. शहरी ठोस अपशिष्ट पदार्थों का प्रबन्धन।
3. शहरी सार्वजनिक परिवहन को बढ़ावा देना।

D) **राष्ट्रीय जल मिशन (National Water Mission) –** राष्ट्रीय जल मिशन का लक्ष्य जल संरक्षण, जल की बर्बादी कम करना तथा एकीकृत जल संसाधन प्रबन्धन के द्वारा जल का अधिक न्यायोचित वितरण करना है। राष्ट्रीय जल मिशन, जल के उपयोग में दक्षता बढ़ाने हेतु एक ढाँचा का निर्माण करेगा। यह वर्षाजल एवं नदी प्रवाह की विषमता से निबटने हेतु सतही एवं भूगर्भीय जल के भण्डारण, वर्षाजल संचयन तथा स्प्रिंकलर अथवा ड्रिप सिंचाई जैसी अधिक दक्ष सिंचाई व्यवस्था की सिफारिश करता है।

E) सुस्थिर हिमालयी पारिस्थितिक तंत्र हेतु राष्ट्रीय मिशन (National Mission for Sustainable Himalayan Ecosystem) - इस कार्यक्रम में शामिल हैं- स्थानीय समुदाय विशेषकर पंचायतों का पारिस्थितिक संसाधनों के प्रबन्धन हेतु सशक्तिकरण करना। यह राष्ट्रीय पर्यावरण नीति, 2006 में वर्णित निम्नलिखित उपायों की पुष्टि करता है -

1. पर्वतीय पारिस्थितिकी तंत्र के सुस्थिर विकास हेतु भूमि उपयोग की उचित योजना एवं जल प्रबन्धन नीति को अपनाना।

2. जैव कृषि को बढ़ावा देकर फसलों की पारम्परिक किस्मों की खेती एवं बागवानी को प्रोत्साहित करना ताकि किसान मूल्य प्रीमियम का लाभ प्राप्त कर सकें।
3. स्थानीय समुदायों को आजीविका के बेहतर साधन उपलब्ध हो सकें इस हेतु सुस्थिर पर्यटन को बढ़ावा देने हेतु उचित नीतियों का निर्माण एवं बहुल भागीदारी को सुनिश्चित करना।

हरित भारत हेतु राष्ट्रीय मिशन (National Mission for Green India)- इस मिशन का लक्ष्य कार्बन सिंक जैसे पारिस्थितिकीय सेवाओं को बढ़ावा देना। यह 60 लाख हैक्टेयर भूमि में वनरोपण के लिए प्रधानमंत्री का हरित भारत अभियान का हिस्सा है ताकि देश में वन आवरण को 23 % से बढ़ाकर 33% करना है। इसका कार्यान्वियन राज्यों के वन विभाग द्वारा संयुक्त वन प्रबन्धन समितियों के माध्यम से ऊसर वन भूमि पर किया जाना है। ये समितियाँ समुदायों द्वारा सीधी कार्यवाही को प्रोत्साहित करेगी। हरित भारत अभियान में 46,000 करोड़ रुपये खर्च किए जायेंगे और इसमें एक करोड़ हैक्टेयर भूमि शामिल की जायेगी

सुस्थिर कृषि पर राष्ट्रीय मिशन (National Mission on Sustainable Agriculture) - इसका लक्ष्य फसलों की नई किस्म, खासकर जो तापमान वृद्धि सहन कर सकें, उसकी पहचान कर तथा वैकल्पिक फसल स्वरूप द्वारा भारतीय कृषि को जलवायु परिवर्तन के प्रति अधिक लचीला बनाना है। इसे किसानों के पारम्पारिक ज्ञान तथा व्यावहारिक विधियों, सूचना प्रौद्योगिकी एवं जैव तकनीकी के साथ-साथ नवीन ऋण तथा बीमा व्यवस्था द्वारा समर्थित किया जाना है। टिकाऊ कृषि के लिए राष्ट्रीय अभियान पर वर्ष 2017 तक 1,08,000 करोड़ रुपये खर्च किए जायेंगे ताकि गर्मी सहन करने वाली फसलें लाई जा सकें और कृषि को मजबूत बनाने के लिए नई ऋण और बीमा व्यवस्था बनाई जा सके।

जलवायु परिवर्तन हेतु रणनीतिक ज्ञान पर राष्ट्रीय मिशन (National Mission on Strategic Knowledge for Climate Change)- यह मिशन शोध तथा तकनीकी विकास के विभिन्न क्रियाविधियों द्वारा सहभागिता हेतु वैश्विक समुदाय के साथ कार्य करने पर बल देता है। इसके अतिरिक्त, जलवायु परिवर्तन से सम्बन्धित संस्थानों एवं विश्वविद्यालयों के नेटवर्क तथा जलवायु शोध कोष द्वारा समर्थित इसके स्वयं का शोध एजेंडा होगा। यह मिशन, अनुकूलन तथा न्यूनीकरण हेतु नवीन तकनीकों के विकास के लिए निजी क्षेत्र के उपक्रमों को भी प्रोत्साहित करेगा।

17.6.2 मिशन का क्रियान्वयन (Implementation of the Mission)

इन 8 राष्ट्रीय मिशनों को सम्बद्ध मंत्रालयों द्वारा संस्थागत किया जाना है तथा इसे अंतर-क्षेत्रक समूहों द्वारा संगठित किया जायेगा जिनमें संबद्ध मंत्रालयों के अलावा शामिल हैं - वित्त मंत्रालय, योजना आयोग, उद्योग जगत एवं अकादमियों के विशेषज्ञ तथा नागरिक समाज। प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में 6 जून, 2008 को प्रधानमंत्री जलवायु परिवर्तन परिषद नामक समिति गठित की गई। इसे यह जलवायु परिवर्तन के निर्धारण, अनुकूलन और न्यूनीकरण के लिए राष्ट्रीय कार्यवाही का समन्वय करेगी। समिति निम्नलिखित नियत कार्यों पर ध्यान केन्द्रित करेगी -

1. राष्ट्रीय स्तर पर जलवायु परिवर्तन से संबंधित मुद्दों पर समन्वित जवाब तैयार करना।
2. जलवायु परिवर्तन के निर्धारण, अनुकूलन और न्यूनीकरण के क्षेत्र में कार्यवाही योजनाओं के प्रतिपादन पर निगरानी रखना।
3. नीति के मुख्य निर्णयों को आवधिक रूप से मॉनीटर करना।

17. 7 अभ्यास प्रश्न

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिये-

1. प्रोजेक्ट टाईगर नामक परियोजना ___ आरम्भ हुई।
2. जैव आरक्षित क्षेत्र की अवधारणा__________ संस्था द्वारा स्थापित की गयी है।

3. भारत का प्रथम जैव मण्डलीय आरक्षित क्षेत्र ________ है।

सत्य / असत्य कथन चुनिये

1. आद्र या नम भूमि के संरक्षण हेतु कौन-सी अन्तर्राष्ट्रीय रामसर संधि की गयी है।
2. यूनेस्को द्वारा भारत के पूर्वी घाट क्षेत्र को जैव विविधता की दृष्टि से हॉट स्पॉट घोषित किया गया है।

17.8 सारांश (Summary)

आज पर्यावरण संरक्षण में चुनौतियाँ चारों ओर से आ रही हैं, ऐसे में संरक्षित क्षेत्रों के विकास को पर्यावरण अनुकूल तरीकों से सुनिश्चित किया जाना चाहिए। इस दिशा में संरक्षित क्षेत्रों के मानकों को ध्यान में रखकर रणनीति बनाना आवश्यक है।

पर्यावरण अवनयन से प्राकृतिक तथा मानवजनित आपदाओं की आवृत्ति तथा तीव्रता में बढ़ोत्तरी हुई है। आपदा शमन हेतु भारत में आपदाओं की रोकथाम तथा उनसे निपटने हेतु प्रभावी कार्यकारी संस्कृति का विकास आवश्यक है। यद्यपि राष्ट्रीय आपदा प्रबन्धन नीति में आपदा शमन के लिए व्यापक प्रयास किये गये हैं परन्तु अभी इन्हें और प्रभावी तथा क्रियाशील बनाने की आवश्यकता है।

पर्यावरण अवनयन तथा पारिस्थितिकी तंत्र में असंतुलन का नकारात्मक प्रभाव सर्वाधिक जैव विविधता के ऊपर परिलक्षित हो रहा है। अतः जैव विविधता से परिपूर्ण संवेदनशील क्षेत्रों की पहचान व उनके लिये संरक्षण हेतु प्रभावी रणनीति की आवश्यकता है। राष्ट्रीय पर्यावरण नीति में इस दिशा में ठोस निर्देशों को जारी किया गया है।

जलवायु परिवर्तन का मसला सर्वाधिक जवलंत तथा पूरे विश्व में सर्वाधिक वाद विवादों से परिपूर्ण है। ऐसे में जलवायु परिवर्तन की रोकथाम की मुहिम में व्यापक प्रयासों की आवश्यकता है साथ ही इस मुहिम को प्रभावशाली बनाने हेतु सरकार के साथ-साथ, मीडिया, बुद्धीजीवी वर्ग, निजी क्षेत्र एवं आम जनमानस की भागीदारी भी आवश्यक है। पर्यावरण नीति में सभी हितधारकों के प्रयासों को समावेश करने हेतु प्रभावी रणनीति बनायी गयी है।

17.9 शब्दावली (Glossary)

कच्छ वनस्पति (Mangroves) - इन्हें मैग्रोव या सुन्दरी के वन भी कहते हैं यह वनस्पतियाँ खारे पानी में जीवित रहने के साथ-साथ तट रेखाओं संरक्षण का कार्य भी करती हैं।

प्रवाल मित्तियाँ (Coral Soils) - इन्हें मूँगे की चट्टाने भी कहते हैं यह मुख्यतया उथले कटिबन्धीय सागरों में पायी जाती है।

हॉट स्पॉट (Hot Spots) - जैव विविधता की दृष्टि से संवेदनशील एवं समृद्ध स्थलों को यूनेस्को द्वारा हॉट स्पॉट की संज्ञा प्रदान की जाती है।

वल्नरेविलिटी एटलस (Vulnerability Atlas) - यह ऐसे मानचित्रों का संकलन है जिसमें प्राकृतिक आपदा की संभावना, तीव्रता, जोखिम आदि की विस्तृत रूप रेखा का चित्रण होता है।

राष्ट्रीय उद्यान (National Park)- राष्ट्रीय उद्यान ऐसे संरक्षित क्षेत्र हैं जहाँ पर वनाधिकार पूरी तरह से प्रतिबन्धित होते हैं।

अभयारण्य (Sanctuary)- अभयारण्य ऐसे संरक्षित क्षेत्र होते हैं जहाँ पर वनाधिकारों को सीमित तौर पर प्रतिबन्धित किया जाता है।

17.10 अभ्यास प्रश्न के उत्तर (Answer for Practice Questions)

रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिये-

1. 1973, 2. यूनेस्को, 3. नीलगिरी

सत्य / असत्य कथन चुनिये

4. सत्य 5. असत्य

17.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची (Bibliography)

17.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें (Useful Text)

17.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. संरक्षित क्षेत्र की अवधारणा से क्या समझते हैं ? भारत में संरक्षित क्षेत्रों के विकास के सन्दर्भ में अपनायी रणनीति पर चर्चा कीजिए ?
2. आपदा शमन से क्या तात्पर्य है ? आपदा प्रबन्धन के विभिन्न चरणों को स्पष्ट कीजिए ? 3.
3. जैव विविधता के संरक्षण का महत्व पर टिप्पणी कीजिए । भारत में इस सन्दर्भ में किये गये प्रयासों का समीक्षात्मक मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 18 भारत में पर्यावरणीय एवं पारिस्थितकीय आन्दोलन

Environmental and Ecological Movements in India

इकाई संरचना

18.1 प्रस्तावना
18.2 उद्देश्य
18.3 पर्यावरणीय तथा पारिस्थितकीय अर्थ एवं तात्पर्य
18.4 पर्यावरणीय आंदोलनों के विकास का ऐतिहासिक आधार
18.5 पर्यावरणवाद एवं पर्यावरणीय तथा पारिस्थितिकीय आंदोलन
18.6 भारत में पर्यावरणीय तथा पारिस्थितिकीय आन्दोलन
18.7 भारत में पर्यावरणीय तथा पारिस्थितिकीय आन्दोलन के कारण
18.8 पर्यावरणीय आंदोलन विचारधारा एवं रणनीति
18.9 पर्यावरणीय आंदोलन का योगदान तथा विरासत
18.10 सांराश
18.11 शब्दावली
18.12 अभ्यास प्रश्न
18.13 निबंधात्मक प्रश्न
18.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

18.1 प्रस्तावना

वैश्वीकरण के वर्तमान समय में सम्पूर्ण विश्व में विकसित तथा विकासशील देशों के मध्य विकास का अन्तराल उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है, जहाँ विकसित देश अपने स्वार्थ तथा हितों की राजनीति से प्रेरित होकर पर्यावरण संरक्षण एवं प्रबन्धन के मसलों को व्यापार तथा बाजार से जोड़कर विश्व व्यापार संगठन के मंच से उठा रहे हैं तथा विकासशील देशों पर उक्त समझौतों हेतु दबाव डालकर बाध्य कर रहे हैं। जिसके सन्दर्भ में हम पूर्व की इकाई में व्यापक चर्चा कर चुके हैं।

परन्तु वैश्वीकरण के युग में यह भी एक सकारात्मक बदलाव हुआ है कि मीडिया, जनसंचार के माध्यम, सिविल सोसाईटी तथा गैर सरकारी संगठनों (एन0 जी0ओ0) की भूमिका प्रभावी रूप से विश्व पटल पर स्थापित हो गयी है। जिसके फलस्वरूप समाज में पर्यावरण के प्रति जनमानस में जागरूगता का बहुआयामी विस्तार हुआ है। यह विस्तार हमें भारत समेत विश्व के कई देशों में हो रहे पर्यावरणीय एवं पारिस्थितिकीय आंदोलनों में देखने को मिलता है।

आधुनिक भारत के इतिहासकार विपन चन्द्र के अनुसार साठ के दशक के अंत तथा सत्तर के दशक के आरम्भ में, देश में एक नया राजनैतिक उभार आया, इन उभारों ने कई राजनैतिक रुझानों तथा आंदोलनों को जन्म दिया। जिसमें मुख्यतया नक्सलपंथी आंदोलन, जे0 पी0 आंदोलन एवं चिपको आंदोलन प्रमुख हैं। चिपको आंदोलन से भारत में जन आंदोलनों का एक नया ही स्वरूप विकसित हुआ जिसके कारण से भारत में पर्यावरणीय तथा पारिस्थितिकीय आंदोलनों का एक नया दौर आरम्भ हुआ, जिसके सन्दर्भ में हम वर्तमान इकाई में व्यापक अध्ययन करेंगे ।

18.2 उद्देश्य

वर्तमान इकाई में हम निम्नवत् उद्देश्यों का अध्ययन करेंगे -

- पर्यावरणीय तथा पारिस्थितिकीय आंदोलनों का अर्थ इतिहास तथा प्रकृति क्या है ?
- राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पर्यावरणीय तथा पारिस्थितिकीय आंदोलनों के सन्दर्भ में अवचेतना का विकास का चरणबद्ध विश्लेषण।
- आर्थिक विकास के सन्दर्भ में पर्यावरणीय आंदोलनों की समीक्षा।
- पर्यावरणीय आंदोलन के सामाजिक तथा राजनैतिक निहितार्थ कौन-कौन से हैं ?
- मीडिया व जनसंचार सिविल सोसाईटी तथा एन0 जी0 ओ0 की पर्यावरणीय तथा पारिस्थितिकीय आंदोलनों में क्या भूमिका रही है ?

पर्यावरणीय आंदोलनों क्या का योगदान तथा विरासत रही है घ्

18.3 पर्यावरणीय तथा पारिस्थितिकीय आंदोलनों अर्थ एवं तात्पर्य

पर्यावरणीय तथा पारिस्थितिकीय आंदोलन अपने आप में व्यापक अर्थ तथा तात्पर्य समेटे हुए हैं तथा समय के साथ-साथ इन आंदोलनों के आयाम् और भी अधिक व्यापक हुए हैं। आधुनिक युग में औद्योगिकरण, नगरीयकरण, भौतिकतावादी जीवन शैली एवं बाजारवाद के चलते पर्यावरण पर संकट के बादल न सिर्फ गहराये हैं अपितु आवश्यकताओं के अत्याधिक दवाब के चलते धरती का परिवेश बढ़ा ही दमघोटू सा हो गया है। पिछले सौ वर्षों में तीव्र जनसंख्या वृद्धि, आर्थिक औद्योगिक तकनीकि प्रगति, अत्यधिक अपभोग वाली जीवन शैली के फलस्वरूप जहाँ प्राकृतिक संसाधनों का जमकर कुदोहन किया गया है वहीं दूसरी ओर बढ़ते प्रदूषण से पर्यावरण का संवेदनशील तंत्र पर संकट गहराता जा रहा है।

वाहीटेकर जी रैसेल द्वारा रचित अपनी पुस्तक "लाडफ एण्ड डैथ ऑफ प्लैनेट अर्थ" में यह स्पष्ट किया गया कि जनसंख्या प्रस्फोट तकनीकी औद्योगिक क्रान्ति तथा भौतिकवादी जीवन शैली के कारण पृथ्वी के प्रचुर जैव-अजैव संसाधनों का भारी अवनयन हो रहा है।

वैश्वीकरण के मुक्त व्यापार तथा बाजारवाद के दौर में पर्यावरण संकट न सिर्फ और गहरा गया है अपितु अकाल, कुपोषण, गरीबी, भुखमरी, जैसे - संकट विश्व के गरीब राष्ट्रों के सम्मुख गंभीर होते जा रहे हैं संक्षेप में विश्व के गरीब तथा विकासशील देशों पर दोहरी मार पड़ रही है एक ओर तो वह विकास के लाभों से वंचित रहे हैं साथ ही अमीर राष्ट्रों द्वारा शक्ति समृद्धि तथा प्रगति की होड़ अग्रणी बने रहने की आंकाक्षा कि चलते प्राकृतिक संसाधनों की लूट तथा पर्यावरण के कुप्रभावों की मार झेल रहे हैं। भौतिकवादी प्रगति से एक ओर जहाँ आर्थिक असमानता में वृद्धि हुयी वहीं पर्यावरण संकट निरन्तर गहराने से वैश्विक जनमत द्वारा पर्यावरणीय संरक्षण के अनुरूप विकास प्रक्रिया अपनाने का प्रयास आरम्भ होने लगा। इस सन्दर्भ में संयुक्त राष्ट्रीय के कोकोयोक (मैक्सिको) उद्घोषणा में यह स्वीकार करना पड़ा कि "विकास का उद्देश्य वस्तुओं की मात्रात्मक वृद्धि नहीं प्रत्युत् मनुष्य का विकास होना चाहिए" तत्पश्चात् मानव केन्द्रित विकास, "वैकल्पिक विकास" "संघृत विकास" जैसे पर्यावरण संरक्षण के अनुकूल विकास लोकप्रिय होने लगे परन्तु शक्ति-समृद्धि एवं विकास की होड़ के कारण संसाधनों के अधिकतम् दोहन करके नित नयी प्रौद्योगिकी के सहारे, उपभोक्ता पोषित आर्थिक संवृद्धि की प्रक्रिया विशेष तौर पर विकसित देशों द्वारा अपनाने से विश्व जनमानस के समक्ष पर्यावरणीय संकट जैसे जलवायु परिवर्तन, ओजोन परत क्षरण, मरुस्थलीयकरण, जल संकट आदि समस्यायें गहराने लगीं।

अतः पर्यावरण समस्याओं के साथ-साथ सामाजिक आर्थिक विषमता तथा उसके पर्यावरण पर पड़ने वाले नकारात्मक प्रभावों की रोकथाम् तथा उनके प्रभावी समाधान को भी पर्यावरण संरक्षण से जोड़ा जाना आवश्यक हो गया है। जिसके लिए प्राकृतिक संसाधनों का सम्यक प्रयोग पर बल दिया जाने लगा है। सम्यक प्रयोग का तात्पर्य इस प्रकार के प्रयोग से है जिसमें पर्यावरण में निहित तत्वों एवं संसाधनों का स्रोत अक्षुण्ण बना रहे तथा उनका उपयोग सांतत्य सुनिश्चित हो सके अर्थात् संसाधनों का उसी सीमा तक प्रयोग किया जाये जहाँ तक उनके पुनर्निर्माण की प्रक्रिया अविच्छिन्न बनी रहे।

अतः विकास की प्रक्रिया में आम जनमानस तथा उसके पर्यावरणीय एवं पारिस्थितिकीय तन्त्र के प्रति जागरूकता तथा चेतना का विकास किया इस चेतना का राजनैतिक तथा सामाजिक स्वरूप निरन्तर विकसित हुआ तथा यह चेतना विभिन्न पर्यावरणीय तथा पारिस्थितिकीय आंदोलनों के रूप में प्रस्फुटित हुयी। पर्यावरणीय तथा पारिस्थितिकीय आंदोलन ऐसे आंदोलन हैं जिनके केन्द्रीय मूल्य या आधार पर्यावरण के ऊपर ही निर्भर है इन आंदोलनों में पर्यावरणीय तथा पारिस्थितिकीय तन्त्र से सम्बन्धित विषयों तथा समस्याओं के प्रति जनमानस को संवेदनशील एवं जागरूक बनाकर उन्हें गतिशीलता प्रदान करना साथ ही उनके संरक्षण हेतु जनसहभागिता से प्रयास करना प्रमुख है एवं पर्यावरण तथा पारिस्थितिकीय तंत्र के अन्धाधुन्ध विदोहन तथा प्राकृतिक संसाधनों के शोषण का सामाजिक एकजुटता के माध्यम से राजनैतिक विरोध करना इन आंदोलनों के अन्तर्गत आता है। संक्षेप में इन आंदोलनों की पूरी धुरी पर्यावरणीय मूल्यों के चहुँ ओर ही घूमती रहती है। इन आंदोलनों का अर्थ तथा तात्पर्य इन आंदोलनों से जुड़े अन्य महत्वपूर्ण मूल्यों तथा आयामों से स्पष्ट हो जाता है।

पर्यावरणीय तथा पारिस्थितिकीय आंदोलनों का मुख्य आधार लोकतांत्रिक मूल्यों जैसे स्वतन्त्रता, समानता, समता, न्याय एवं अन्य महत्वपूर्ण मानवाधिकारों पर आधारित है साथ ही महिला सशक्तिकरण, नारी पर्यावरणवाद, सहभागिता तथा समुदायिकता की भावना का विकास, सहभागी लोकतन्त्र एवं टिकाऊ विकास (दीर्घकालिक विकास) भी इन आंदोलनों के आधार भूत तत्व हैं।

18.4 पर्यावरणीय आंदोलन के विकास का ऐतिहासिक आधार

मानव समाज का अपने पर्यावरण के प्रति प्रेम उतना ही पुराना है जितना मानव समाज का उद्गम तथा विकास रहा है। सिंधु घाटी सभ्यता के समय से ही मानव प्रकृति की विभिन्न शक्तियों की उपासना गयी है वेदों में नदियों, वृक्षों एवं हिमालय के नाना लाभ बताये गये हैं तथा साथ ही उपनिषदों, संहिताओं पुराणों महाभारत, रामायण में अनेकानेक स्थानों पर पर्यावरण एवं प्रकृति के महत्व पर विशेष जोर दिया गया है वराह पुराण के अनुसार जो कोई भी एक पीपल एक बरगद, एक नीम, दो संतरे, पाँच आम, तथा दस पुष्पों के पौधे लगायेगा वह कभी भी नरक का भागीदार नहीं होगा तथा पदम पुराण के अनुसार हरे-भरे वृक्ष को काटना नर्क में दण्ड भोगने का अपराध है। यहीं नहीं जैन, बौद्ध, सिख, इस्लाम् तथा ईसाई धर्मों में भी अपने पर्यावरण एवं प्राकृतिक परिवेश के प्रति संवेदना तथा प्रेम के भाव अभिव्यक्त किये गये हैं। अतः भारतीय संस्कृति में प्रकृति के सभी महत्वपूर्ण घटकों वायु, जल, प्राणी के प्रति आदर, प्रेम, अंहिसा का भाव धार्मिक-आध्यात्मिक तौर पर रच बस गया है एवं आम जनमानस पर इसकी छाप अमिट हो गयी है ।

भारत भूमि में पर्यावरणीय तथा पारिस्थितकीय मूल्यों के प्रति प्रथम जन आंदोलन राजस्थान की जोधपुर रियासत के खेंजडाली ग्राम में सन् 1787 ई0 में हुआ था। जहाँ महाराजा की खेजंड़ी के पेड़ों को काटने की राजाज्ञा के विरुद्ध अमृता देवी के नेतृत्व में विश्नोई समाज के हजारों लोग खेजंड़ी के वृक्षों से चिपक गये तथा इस संघर्ष में अमृता देवी समेत विश्नोई समाज के 363 लोगों ने अपने को वृक्षों की रक्षा हेतु बलिदान कर दिया। यह आंदोलन समस्त विष्व के पर्यावरणीय तथा पारिस्थितकीय आंदोलनों हेतु प्रेरणा का स्रोत बन गया।

वहीं दूसरी ओर पश्चिमी संस्कृति भौतिकवाद आधारित है क्योंकि परन्तु पश्चिमी जगत जोकि मुख्यतया पूँजीवादी आर्थिक प्रणाली के निर्देशन में आर्थिक समाजिक प्रगति करता चला आया है तथा यहाँ का आर्थिक मॉडल मुक्त बाजार आधारित लैसेज फेयर की मान्यता एवं प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों के सिद्धान्तों पर आधारित है जिनका येन केन प्रकारेण उद्देश्य पूँजी का संचय ही है। मुक्त बाजार आधारित पूँजीवादी व्यवस्था का उद्देश्य इच्छाओं के अधिकतम् विस्तार का होता है। जिसकी पूर्ति हेतु प्राकृतिक संसाधनों का अधिकतम् दोहन को माध्यम बनाया जाता है। उत्तरोत्तर तीव्र आर्थिक संवृद्धि के फलस्वरूप जिन समाजों में आय में अत्यधिक वृद्धि हुई है वहाँ पर सुखवादी, भौतिकवादी व विलासितापूर्ण अभिजात्य जीवन शैली तथा उपभोक्तावाद को बढ़ावा मिला है। जिससे न सिर्फ प्राकृतिक संसाधनों का अतिदोहन तथा अतिशोषण हुआ है अपितु पर्यावरण को भी एक उत्पाद मान लिया गया है जिसके कारण से पर्यावरण प्रदूषण की समस्या पैदा हुई है एवं न्यायपूर्ण वितरण, लोककल्याण, समता, समनता तथा पर्यावरणीय मूल्य उपेक्षित रह गये हैं।

1970 के दशक से विश्वस्तर पर यह जागरुकता प्रसारित होने लगी कि उत्तरोत्तर तीव्र उत्पादन-उपभोग को प्रगति एवं संवृद्धि का पर्याय मानते हुए मानव प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधंुध शोषण कर अपने पर्यावरण एवं परिवेश को जहरीला तथा दमघोटू बना रहा है । अत्यधिक संवृद्धि हेतु संसाधनों के लिए प्रतिस्पर्धा होड़ से आर्थिक सामाजिक असमानता तथा राजनैतिक तनाव पैदा हो रहे हैं। कुल मिलाकर हमारी पृथ्वी पर मानवीय क्रियाकलापों का बोझ संकट स्तर तक पहुँच रहा है तथा सम्पूर्ण पृथ्वी संतुलन अस्थिर हो गया है तथा यदि यह क्रम इसी प्रकार जारी रहा तो निकट भविष्य में संसाधन समापन की स्थिति आ जायेगी एवं मानव सभ्यता के अस्तित्व पर ही प्रश्न चिन्ह लग जायेगा।

पर्यावरण प्रदूषण जनित संकट की दिशा में क्लब ऑफ रोम के अर्थषास्त्रियों मीडोज तथा फौरेस्टर के नेतृत्व में "संवृद्धि की सीमायें" नामक रिर्पोट के 1972 में प्रकाशन के पश्चात् पर्यावरण अनुकूल संवृद्धि की आवश्यकता जोर पकड़ने लगी । इस रिपोर्ट के ऑकलन के अनुसार पृथ्वी एक अन्तरिक्षयान की भाँति है जिस पर बहुगुणी वृद्धि से पृथ्वी पर आवश्यकताओं का बोझ उसकी वहन क्षमता से अधिक होता जा रहा है। यदि यह सिलसिला इसी प्रकार जारी रहा तो पर्यावरण प्रदूषण एवं संसाधनों के अतिदोहन से इक्कीसवीं सदी के अंत तक पृथ्वी मण्डल का पारिस्थितिकी असंतुलन ऐसे संकट स्तर तक पहुँच जायेगा जहाँ पर पृथ्वी अपने विभिन्न प्राकृतिक चक्रों जैसे जल, वायु, ऊर्जा आदि को पुनर्चक्रित नहीं कर पायेगी तथा संसाधन समापन के कारण आर्थिक संवृद्धि ठप्प पड़ जायेगी ।

पूँजीवादी लैसंज फेयर अर्थतन्त्र के शोषणकारी, असमानकारी तथा अन्यायपूर्ण होने की प्रकृति का उजागर कार्लमाक्स द्वारा अपनी रचना "दास कैपीटल" के माध्यम से किया गया जिसने पर्यावरण समेत कई महान आंदोलनों को एक क्रांतिकारी दृष्टिकोण प्रदान किया। वहीं महात्मा गाँधी ने भौतिकवादी प्रगति तथा उपभोक्ता संस्कृति को अनैतिक मूल्य रहित तथा सौदा, सट्टा तथा जुए की प्रवृति से ओतप्रोत बताया। गाँधी जी के विचारों ने पर्यावरण आंदोलनों को अहिंसा, सत्याग्रह तथा सर्वोदय के सिद्धान्तों से परिपूर्ण किया।

18.5 पर्यावरणवाद एवं पर्यावरणीय तथा पारिस्थितिकी आंदोलन

यूरोप तथा अमेरिका में पर्यावरणीय मूल्यों के प्रति चेतना ने एक नयी विचार धारा को जन्म दिया जिसे पर्यावरणवाद के नाम से जाना जाता है उक्त पर्यावरणवाद का प्रभाव भारत में घटित होने वाले पर्यावरणीय आंदोलनों पर भी पड़ा पर्यावरणवादियों ने अपने साहित्य, विचारों, क्रियाकलापों से पर्यावरण संरक्षण के प्रति वैश्विक जनमानस को तैयार किया है। यह पर्यावरणवाद एक ऐसी विचार धारा है कि जिसमें पर्यावरणीय मूल्यों का सबसे आधारभूत स्थान है एवं इस विचारधारा का मुख्य उद्देश्य पर्यावरण संरक्षण होने के साथ-साथ न्याय, समता, सहभागी लोकतन्त्र महिला सशक्तिकरण, नारी पर्यावरणवाद, सहभागिता तथा समुदायिकता की भावना का विकास एवं टिकाऊ विकास (दीर्घकालिक विकास) भी इन आंदोलनों के आधार भूत तत्व हैं।

पर्यावरणवाद तथा इसके फलस्वरूप उत्पन्न हुए पर्यावरणीय आंदोलन की शुरुआती झलक हमें उन्नीसवी सदी के अंत से ही मिलनी आरम्भ हो जाती है जहाँ ब्रिटेन में जान रसैल द्वारा "बैक टू नैचर" नामक आंदोलन आरम्भ किया । अमेरिका में जान मियर द्वारा पर्यावरण संरक्षण हेतु 1892 ई0 में "सियेरा क्लब" का गठन सैनप्रानसिस्को में किया । सियेरा क्लब द्वारा हडसन की खाड़ी, क्यूबैक कनाडा में बनने वाले बाँध का विरोध किया सियेरा क्लब के अनुसार "प्रगति का अन्धाधुन्ध विरोध नहीं प्रत्युत, अन्धाधुन्ध प्रगति का विरोध अपेक्षित है।"

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् पश्चिमी देशों में अन्धाधुन्ध औद्योगीकरण, नगरीकरण एवं भौतिकवादी प्रगति के दुःप्रभाव समाने आने लगे, युद्ध विनाशक हथियारों के प्रयोग नाभिकीय परीक्षण तेल टैंकरों के रिसाव आदि के कारण से निरन्तर पर्यावरण पर संकट और अधिक गहराने लगा यूरोप तथा अमेरिका में "किलर स्माग" (कातिल धूम्र कोहरा) तथा 'ऐसिड रेन' (अम्ल वर्षा) की जो निरन्तर दुर्घटनायें हुयी जिससे हजारो लोग कालकलवित हुए। अतः जहाँ एक ओर सरकार समृद्धिए शक्ति की होड़ में प्राकृतिक संसाधनों का जमकर विदोहन तथा शोषण कर रही थी वही पर्यावरण प्रेमी जनमानस

में पर्यावरण की घनघोर उपेक्षा से पर्यावरणीय मूल्यों के प्रति सरोकार और भी अधिक मुखर होने लगा । इस मुखरता को राचैल करसन अमेरिका में 1962 में प्रकाषित ‘‘साईलेंट स्प्रिंग’’ ने नई ऊर्जा प्रदान की तथा जनमानस को पर्यावरण संरक्षण के प्रति संवेदनशील बना दिया।

इस सन्दर्भ में 22 अप्रैल, 1970 को संयुक्त राज्य अमेरिका में सीनेटर गैर्लोड नैलसन के अगुवाई में एक अविस्मरणीय घटना घटित हुई जहाँ असंख्य लोगों ने ‘‘मर्दर अर्थ’’ के बैनर लिये हुए स्वच्छ वायु जल तथा पर्यावरण संरक्षण हेतु आंदोलन किया जिसके फलस्वरूप अमेरिकी सरकार को ‘‘स्वच्छ वायु कानून’’ तथा ‘‘पर्यावरण संरक्षण ऐजेन्सी’’ का गठन किया गया । पर्यावरण संरक्षण की इस व्यापक मुहिम को मिली सफलता के कारण 22 अप्रैल को तब से यह दिवस पूरे विश्व में ‘‘पृथ्वी दिवस’’ के रूप में मनाया जाता है।

पर्यावरणवाद की इस पनपती विचारधारा तथा प्रकृति के प्रति बढ़ती चेतना ने समस्त विश्व के जनमत को इस प्रकार से उद्वेलित किया कि स्वीडन की राजधानी स्टॉकहोम् में 5 जून, 1972 मानव तथा उसके पर्यावरण पर चेयरमैन बर्टलैण्ड के नेतृत्व में एक सम्मेलन हुआ जिसमें 70 से अधिक राष्ट्रों ने भागीदारी की जिसका परिणाम संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (यू0 एन0 ई0 पी0) के गठन के रूप में सामने आया तथा संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा वैश्विक पर्यावरण के संरक्षण के प्रति जबावदेयी एवं जिम्मेदारी लेने के कारण 5 जून को विश्व पर्यावरण दिवस मनाया जाता है। पर्यावरणवाद के अधिक प्रखर एवं मुखर होने का परिणाम यह हुआ कि यूरोप एवं आस्ट्रेलिया में पर्यावरण सरोकारों पर आधारित ‘‘ग्रीन पार्टियों’’ ने पर्यावरण मूल्यों को आधार बनाकर मुख्य धारा की राजनीति करते हुए पर्यावरण संरक्षण, जलवायु परिवर्तन, ओजोन परत संरक्षण तथा प्रदूषण जैसे मसलों वैश्विक जनमत को तैयार किया ।

18.6 भारत में पर्यावरणीय तथा पारिस्थितकीय आन्दोलन के कारण

भारत भूमि में पर्यावरणीय तथा पारिस्थितकीय मूल्यों के प्रति प्रथम जन आंदोलन राजस्थान की जोधपुर रियासत के खेंजडाली ग्राम में सन् 1787 ई0 में हुआ था। जहाँ महाराजा की खेजंड़ी के पेड़ों को काटने की राजाज्ञा के विरुद्ध अमृता देवी के नेतृत्व में विश्नोई समाज के हजारों लोग खेजंड़ी के वृक्षों से चिपक गये इस संघर्ष में अमृता देवी समेत विश्नोई समाज के 363 लोगों ने अपने को वृक्षों की रक्षा हेतु बलिदान कर दिया। यह आंदोलन समस्त विश्व के पर्यावरणीय तथा पारिस्थितकीय आंदोलनों हेतु प्रेरणा का स्रोत बन गया। इस आंदोलन के लगभग तीन सौ सालों के पश्चात् 1970 के दशक में भारत के हिमालय क्षेत्र में पर्यावरण को लेकर चिपको आंदोलन की एक ऐसी मुहिम आरम्भ हुई जिसने सम्पूर्ण भारत के जनमानस को न सिर्फ उद्वेलित एवं आंदोलित किया बल्कि जिसके फलस्वरूप देश में अनेकानेक पर्यावरणीय तथा पारिस्थितिकीय आंदोलन हुए जिसमें एप्पिको आंदोलन, टिहरी बाँध आंदोलन, पश्चिमी घाट आंदोलन तथा नर्मदा आंदोलन प्रमुख हैं ।

भारत में सदैव से ग्रामीण तथा आदिवासी समाज सदियों से अपने आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अस्तित्व हेतु पूरी तरह से वनों पर निर्भर है अपितु वनों के सरंक्षण से भी उनका गहरा लगाव रहा है। वनों से उन्हें जड़ी बूटी, जगली फल, छाल, रेशा, चारा, ईंधन आदि महत्वपूर्ण उत्पाद प्राप्त होते हैं। महुआ का वृक्ष तो आदिवासी समाज की अर्थव्यवस्था की रीढ़ है। समाज और विशेष तौर पर आदिवासियों तथा वनों के मध्य परम्परागत सम्बन्धों में हस्तक्षेप तथा प्रतिरोध का आरम्भ अंग्रेजी

औपनिवेषिक काल के समय आरम्भ हुआ। अंग्रेजी शासन काल में वन कानूनों तथा वन विभाग की वनों दोहन की नीति आरम्भ हुई। जिससे जंगलों का अन्धाधुन्ध दोहन एवं अधिग्रहण आरम्भ हुआ, साथ ही आदिवासी समाज जंगलों पर अपने परम्परागत अधिकारों तथा आजीविका से वंचित होते चले गये एवं उन पर शोषण तथा अत्याचार भी आरम्भ हो गया।

आजादी के पश्चात् एवं विशेषकर 1962 के भारत चीन युद्ध के बाद हिमालयी सीमावर्ती क्षेत्र में आर्थिक विकास को बड़े पैमाने पर आरम्भ किया गया। जिसमें सड़कों का निर्माण, जलविद्युत परियोजनाओं, खान एवं खनन, वन तथा वनोत्पाद आधारित उद्योगों का विकास आदि पर बड़े पैमाने पर जोर दिया गया, इससे पारिस्थितिकीय रूप से संवेदनशील हिमालय में वन, बुग्याल (चारागाहों), मृदा आदि का क्षरण अत्याधिक तीव्र गति से आरम्भ हो गया। जंगलों के तीव्र कटान तथा विकास के नाम पर हुऐ विनाष से जंगलों से मिलने वाले चारा, चुगान, जलावन की लकड़ी एवं महत्वपूर्ण वनोत्पादों की निरंतर आपूर्ति के बाधित होने से पशुपालन, खेती तथा ग्रामीण कुटीर उद्योग पर संकट के बादल गहराने लगे। इन सबका नकारात्मक परिणाम यह हुआ कि ग्रामीण अर्थतन्त्र छिन्न-भिन्न हो गया तथा ग्रामीण रोजगार भारी तौर पर कुप्रभावित होने लगा ।

इस संकट को वन विभाग की जन विरोधी नीतियों, शोषणकारी औपनिवेशिक कालीन मानसिकता एवं वन कानूनों ने और भी अधिक विकराल रूप दे दिया। औपनिवेशिक काल में बने कानूनों जैसे भारतीय वन अधिनियम के निरन्तर जारी रहने से स्थानीय निवासी सदियों से चले आ रहे वनों पर अपने बुनियादी हक हकूकों से वंचित हो गये ऊपर से सरकारी अधिकारियों तथा ठेकेदारों का समूह विकास तथा कानूनों का सहारा लेकर जंगलों की अन्धाधुन्ध कटाई कर मोटे मुनाफे के लिये निरन्तर सक्रिय हो गया था। अतः हिमालयी क्षेत्र की जनता पर चहुँ ओर से मार पड़ रही थी तथा जनता की समस्यों को प्राकृतिक आपदाओं जैसे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, बादल फटना, भूस्खलन आदि की निरन्तर आवृतियों ने और भी अधिक रूप से गहरा दिया। जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण 1970 में अलकनंदा में आयी प्रलयकारी बाढ़ के रूप में देखने को मिला। प्राकृतिक आपदाओं की निरन्तर मार ने सम्पूर्ण हिमालयी क्षेत्र में जनमानस को पर्यावरण के प्रति चिंतित एवं जागरूक बना दिया तथा जनमानस यह सोचने पर मजबूर हो गया कि यह आपदायें विकास के नाम पर किये गये विनाश का परिणाम हैं।

खनिज सम्पदा के दोहन, खान-खदानों के विस्तार, तीव्र औद्योगीकरण तथा महत्वाकांक्षी परियोजनाओं के विकास के चलते स्थानीय निवासियों एवं आदिवासियों को अपने परम्परागत आवास क्षेत्रों से विस्थापन, आजीविका, पलायन आदि का संकट झेलना पड़ा, वन कानूनों की आड़ में वन अधिकारियों, व्यापारियों तथा ठेकेदारों की साँठ-गाँठ से वनों का अन्धाधुन्ध दोहन, शोषण तथा लूट का अन्तहीन सिलसिला तीव्र हो गया। जिसके कारण आम जनता को जन आंदोलन का विकल्प चुनना पड़ा।

18.7 भारत में पर्यावरणीय तथा पारिस्थितकीय आन्दोलन

पर्यावरण आन्दोलन के घटित होने के पीछे मुख्य कारक पर्यावरण अवनयन के साथ-साथ सामाजिक सरोकारों की मुख्य धारा की विकास नीतियों में भारी उपेक्षा रही है। चिपको, जंगल बचाओ तथा नर्मदा बचाओ आन्दोलन में पर्यावरण संरक्षण की प्रक्रिया में सामाजिक आयामों के समावेश पर जोर दिया। इन आन्दोलनों ने परम्परागत सामाजिक पर्यावरणीय मूल्यों के साथ-साथ नवीन सामाजिक

अवधारणायें जैसे पर्यावरणीय लोकतंत्र एवं नारी पर्यावरण वाद आदि का स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। भारत में घटित मुख्य पर्यावरणीय आंदोलनों का वर्णन एवं विश्लेषण निम्नवत है -

18.7.1 चिपको आंदोलन - उत्तराखण्ड को जन आंदोलनों की धरती भी कहा जाता है, उत्तराखण्ड का जनमानस सदैव से ही अपनी संस्कृति, जल, जंगल, जमीन और बुनियादी हक हकूकों (अधिकारों) की रक्षा हेतु सदैव से ही संवेदनशील एवं जागरूक रहा है। इस सन्दर्भ में यहाँ पर यह उल्लेख करना आवश्यक है कि 1930 में टिहरी रियासत के तिलाड़ी नामक स्थान पर जब ग्रामीण लोग जंगल एवं चरागाहों पर अपने बुनियादी हक हकूकों को लेकर आंदोलित थे तथा राजाज्ञा के विरूद्ध महापंचायत कर रहे थे तो रियासत के सैनिकों ने उन पर गोलियाँ बरसायी गयी जिसमें अनगिनत आंदोलनकारियों को प्राणों का बलिदान करना पड़ा यह आंदोलन जलियावाला बाग नरसंहार की भाँति प्रसिद्ध हो गया तथा अपने बुनियादी हक हकूकों के लिये संघर्षरत्, जनमानसों के लिए एक अनुपम् प्रेरणा इतिहास में अंकित कर गया।

उत्तराखण्ड की इसी ऐतिहासिक आंदोलनों की भूमि पर जल जंगल और जमीन पर अपने बुनियादी हक हकूकों की रक्षा हेतु 26 मार्च, 1974 को उत्तराखण्ड के चमोली जनपद की हेंवल घाटी में स्थित रैणी गांव में ग्रामीण महिलाओं द्वारा गांव के महिला मंगल दल की प्रधान गौरा देवी के नेतृत्व में चिपको आंदोलन का श्रीगणेश किया गया। इस आंदोलन की शुरुआत विकास के नाम पर जंगल कानूनों का सहारा लेकर वनों के काटन पर उतारू ठेकेदारों, टिम्बर व्यापारियों तथा वन अधिकारियों का गाँधीवादी तौर तरीकों से विरोध किया गया तथा आंदोलनकारी महिलायें अपनी जान की परवाह किये बगैर वृक्षों से घेरा बनाकर चिपक गयी। इस अनूठे विरोध करने तथा वृक्षों की रक्षा करने की प्रक्रिया चिपको आन्दोलन के रूप में प्रसिद्ध हो गयी।

यद्यपि चिपको आंदोलन का जन्म लेना एक स्वतः स्फूर्त तथा स्थानीय घटनाक्रमों का परिणाम् था परन्तु इसके पीछे लम्बे समय से दीर्घकालिक कारण काम कर रहे हैं । सन् 1964 में गाँधीवादी सर्वोदयी सामाजिक कार्यकर्ता एवं जयप्रकाश नारायण के विचारों से प्रेरित होकर चंडी प्रसाद भट्ट द्वारा गोपेश्वर में दशोली ग्राम स्वराज्य संघ (डी0 जी0 एम0 एस0) का गठन किया जिसका नाम आगे चलकर दशोली ग्राम स्वराज्य मण्डल हो गया । इस संगठन का मुख्य उद्देश्य पर्यावरण संरक्षण के प्रति जनमानस को जागरूक तथा एकजुट बनाना एवं साथ ही साथ खेती, आर्थिक स्वालम्बन, सामुदायिकता का विकास करने, ग्रामीण क्षेत्र को विकसित बनाना रहा है।

साठ तथा सत्तर के दशक में जहाँ एक ओर जनमानस अपने पर्यावरण संरक्षण एवं बुनियादी हक हकूकों के लिये लामबंद हो रहा था वहीं वन विभाग ठेकेदारों तथा टिम्बर व्यापारियों के साथ साँठ गाँठ कर वृक्षों के नीलामी करवाने की नीतियों एवं कटान के जरिये मुनाफा वसूलना चाह रहे थे । इस सन्दर्भ में संघ द्वारा वन विभाग की वनों को कटवाने हेतु नीलामी करवाने की नीतियों के विरुद्ध चमोली जनपद के मुख्यालय गोपेश्वर में व्यापक धरना एवं प्रदर्शन किया। मार्च, 1973 में इलाहाबाद के खेल उत्पाद बनाने वाली कम्पनी सिमोन को निलामी हेतु मिले मण्डल तथा फाटा के जंगलों में वृक्षों की कटाई के ठेके के विरुद्ध जोरदार प्रदर्शन हुये। पर्यावरण संरक्षण प्रति जनजागरूकता का परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक गाँव में महिला मंगल दलों की स्थापना होने लगी। इसी जन जागरूकता अभियान के अन्तर्गत रैंणी गाँव की महिला मंगल दल की प्रधान गौरा देवी पर्यावरणीय एवं सामाजिक कार्यकर्त्ताओं जैसे - चण्डी प्रसाद भट्ट, गोविन्द सिंह रावत, वासवानन्द नौटियाल तथा हयात

सिंह के सम्पर्क में आयी। उपरोक्त अभियान का परिणाम यह हुआ कि ग्रामीण महिलायें आत्मविश्वास से ओत-प्रोत हो गयीं तथा एक महान आंदोलन की पृष्ठ भूमि तैयार हो गयी।

वन विभाग ने जनवरी, 1974 में जब रैंणी गाँव की ओर अपना रूख किया एवं वहाँ कटान हेतु 2,451 पेड़ों का छपान किया गया। जिसके फलस्वरूप गोपेश्वर में रैंणी के कटान के विरुद्ध सभा रैली तथा प्रदर्शन हुए। प्रषासन वन विभाग तथा ठेकेदारों ने मिलीभगत कर एक चाल खेली एवं 1962 के पश्चात् सड़क निर्माण में खेतों के मुआवजे हेतु सभी सीमांत गाँव जिसमें रैंणी, लाता, मलारी आदि शामिल थे, के निवासियों को जिला मुख्यालय गोपेश्वर बुलाया तथा मुआवजे का दिन 26 मार्च, 1974 का रखा गया। 26 मार्च के दिन जब सभी गाँवों के पुरुष जिला मुख्यालय गोपेश्वर में मौजूद थे एवं दशौली ग्राम स्वराज्य संघ के सभी कार्यकर्त्ताओं को जिला मुख्यालय में प्रशासन द्वारा अपने नियोजित कार्यक्रमों में उलझा दिया एवं उधर ठेकेदारों व वन अधिकारियों के नेतृत्व में सशस्त्र कर्मियों तथा मजदूरों का समूह गुपचुप तरीके से रैंणी गाँव की ओर रवाना हुआ एवं गाँव पूर्व ही वाहनों से उतर कर चुपचाप ऋषिगंगा नदी के किनारे किनारे गोपनीय तरीकों से जंगलों की ओर बढ़ने लगे। वह अपनी योजना की सफलता के प्रति पूरी तरह से आशवस्त थे क्योंकि सूचना तथा पुरुषों के अभाव में उन्हें किसी प्रकार के संघर्ष की उम्मीद न थी। उनकी इस हलचल पर एक बालिका की निगाह पड़ गयी जिसने यह सूचना गौरा देवी को दे दी। गौरा देवी ने गाँव की महिलाओं का आह्‌वान किया तथा अपने साथ 27 महिलाओं को लेकर वह जंगल में कटान क्षेत्र की ओर निर्णायक संघर्ष का विचार मन में लेकर चल पड़ीं। गौरा देवी के नेतृत्व में महिलाओं ने विनीत स्वर में मजदूरों से कहा कि, ''भाईयो जंगल हमारा मायका है, इससे हमें जड़ी बूटी, फल, सब्जी और लकड़ी मिलती है, जंगल काटोगे तो बाढ़ आयेंगी हमारे बगड़ बह जायेंगे, आप लोग हमारे साथ चलो जब हमारे मर्द आ जायेंगे तो फैसला होगा।'' इस पर ठेकेदार तथा जंगलात के आदमी उन्हें डराने धमकाने लगे यहाँ तक कि सरकारी कार्य को बाधित करने के आरोप में गिरफ्तार कर जेल में डालने की धमकी भी दे डाली एवं गौरा देवी को अपमानित करने के लिये उन पर थूक तक दिया। जब वन कारिन्दों एवं ठेकेदारों के सारे हथकंडे असफल हो गये तो उन्होंने महिलाओं पर बल का प्रयोग प्रदर्शित करते हुए गौरा देवी पर बन्दूक तान दी।

अब गौरा देवी पूरे रौद्र रूप में आ गयी एवं ललकार कर बंदूक के आगे अपनी छाती तानकर कहा ''मार लो हमें गोली और लूट लो हमारा मायका'' गौरा देवी के अद्‌म्य साहस से अन्य महिलाओं में भी शक्ति का अद्‌भुत संचार हुआ एवं वह भी हथियारों से डरे बगैर जंगल काटने का विरोध करते हुए पेड़ों से चिपक गयीं। जोर षोर से नारे लगाकर ठेकेदारों, वन विभाग के कारिन्दों को यह कहकर ललकारने लगीं कि पहले हमें काटो फिर जंगल। जब वन विभाग के कारिन्दों ठेकेदारों एवं कटाई कर्मियों ने महिलाओं का रौद्र रूप तथा जंगल की रक्षा की खातिर जान न्यौछावर करने का हौसला देखा तो उन्होंने वहाँ से फिलहाल लौटने में ही भलाई समझी परन्तु महिलायें पूरी तरह से दृढ़ रहीं एवं दिन रात जंगल में रहकर पेड़ों की चौकसी में लगी रहीं।

अगले दिन जब दशोली स्वराज्य संघ के प्रमुख कार्यकर्ता तथा गाँव के पुरुष लौटकर आये तो आंदोलन एवं विरोध प्रदर्शन और तीव्र हो गया। चिपको आन्दोलन तथा महिलाओं के साहस एवं संघर्ष की गूंज शीघ्र ही पूरे उत्तराखण्ड में फैल गयी तथा आसपास के गाँव जैसे लाता तथा हेंवल घाटी के लोग भी इस आंदोलन से जुड़ गये।

तत्कालीन उत्तर प्रदेष के राज्य के मुख्यमंत्री हेमवती नंदन बहुगुणा ने डॉ0 वीरेन्द्र कुमार की अध्यक्षता में एक जाँच समिति बनायी। जिसने जाँच के बाद आंदोलनकारियों के पक्ष में निर्णय सुनाया एवं साथ ही अलकनंदा की सहायक नदियों के जंगलों की सुरक्षा को पर्यावरणीय दृष्टि से महत्वपूर्ण बताते हुए पेड़ों के कटान पर पूरी तरह से रोक लगा दी इस प्रकार पर्यावरण के प्रति अतुलित प्रेम करने तथा उसकी रक्षा के लिए गौरादेवी ने जो अनुकरणीय कार्य किया उसने उन्हें रैंणी गाँव की गौरा देवी से चिपको वूमन आफ इण्डिया बना दिया।

18.7.2 साइलेन्ट वैली आंदोलन - सत्तर के दषक में सुदूर दक्षिण में केरल राज्य के पलमकाड जिले में जंगलों तथा जैव विविधता की सुरक्षा एवं कुन्थीपुझा नदी जल विद्युत परियोजना के विरोध में यह जन आंदोलन मुखर हुआ। जाने-माने वैज्ञानिक, विद्वान, समाजसेवी, पर्यावरणविद् तथा राजनेताओं जैसे सलीम् अली एम0 एस0 स्वामिनाथन तथा सुब्रह्ममण्यम् स्वामी, समेत आई0 यू0 सी0 एन0 द्वारा केन्द्र सरकार से उपरोक्त परियोजना को रोक कर साईलेन्ट वैली को संरक्षित क्षेत्र घोषित करने की माँग की। प्रकृति संरक्षण समिति, साईलैण्ट वैली संरक्षण समिति तथा केरलशास्त्र साहित्य परिषद् आदि संस्थायें विरोध प्रदर्षन तथा आंदोलन को आम जनमानस से जोड़कर इसे व्यापक रूप दिया एवं केन्द्र तथा राज्य सरकारों हेतु दबाव की रणनीति कारगर रूप से लागू किया । केन्द्र सरकार द्वारा प्रो0 एम0 जी0 के0 मैनन की अध्यक्षता में कमीशन बैठाया जिसकी संस्तुति के बाद में परियोजना को बंद किया गया तथा 1985 में तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गाँधी ने इसे नेशनल पार्क घोषित किया जोकि आगे चलकर बायोस्फेफर पार्क में बदल गया ।

18.7.3 एप्पिको आंदोलन - चिपको आंदोलन से प्रेरणा पाकर पर्यावरण संरक्षण की जन आंदोलन रूपी यह मुहिम धीरे-धीरे कर तमिलनाडु, कर्नाटक, केरल तथा महाराष्ट्र में प्रसारित हो गयी तथा सहयाद्री पर्वत माला अर्थात् पष्चिमी घाट पर स्थिति वनों एवं पर्यावरण संरक्षण हेतु एप्पिको आंदोलन ने जन्म लिया। ''एप्पिको'' शब्द कन्नड़ भाषा से लिया गया है जिसका अर्थ वृक्षों का अलिंगनकर उनसे चिपक कर उनकी रक्षा हेतु आंदोलन करना है।

आजादी के बाद से ही आर्थिक विकास के तीव्र बनाने हेतु पष्चिमी घाट में पन विद्युत परियोजनाओं, पेपर तथा पल्प उद्योगों की स्थापना के कारण प्राकृतिक संसाधनों तथा वनों का अन्धाधुन्ध दोहन किया गया। ग्रामीण आदिवासियों तथा जनमानस को न सिर्फ विस्थापित होना पड़ा अपितु वह अपनी जीवन निर्वहन की आजीविका से वंचित हो गये। सामाजिक कार्यकर्ता पाडुरंग हेगड़े के नेतृत्व में सितम्बर 1983 में कलासे के जंगलों में सालकनी गाँव से आंदोलन आरम्भ हुआ। आंदोलनकारियों ने पदयात्रा, नुकड़ नाटक, स्थानीय गीत तथा संगीत के माध्यम से जन जागरूकता अभियान चलाकर आंदोलन को नयी गति प्रदान की तथा कन्नड़ भाषा में एक नारा दिया ''उलीसू, वेलसू तथा बलासू'' अर्थात् वनों को बचाना, उपजाना तथा विवेकपूर्ण उपयोग करने का मंत्र प्रसारित किया।

18.7.4 जंगल बचाओ आंदोलन - यह आंदोलन अस्सी के दशक के आरम्भ में तत्कालीन बिहार के पठारी तथा आदिवासी क्षेत्रों यानि आधुनिक झारखण्ड राज्य के सिंह भूमि जिले से आरम्भ हुआ एवं देखते ही देखते यह झारखण्ड के सभी क्षेत्रों से होता हुआ पडोसी राज्यों उड़ीसा, मध्य प्रदेश, छत्तीसगढ़ के वन तथा आदिवासी क्षेत्रों में फैल गया। आजादी के पश्चात् झारखण्ड राज्य की अकूत खनिज सम्पदा

के दोहन, खान-खदानों के विस्तार, तीव्र औद्योगीकरण तथा महत्वाकांक्षी परियोजनाओं जैसे दामोदर घाटी परियोजनाओं आदि के विकास के चलते आदिवासियों को अपने परम्परागत आवास क्षेत्रों से विस्थापन का संकट झेलना पड़ा, औपनिवेशिक काल से चले आ रहे वन कानूनों की आड़ में नौकशाहों, वन अधिकारियों, व्यापारियों तथा ठेकेदारों की साँठ-गाँठ से वनों का अन्धाधुन्ध दोहन, शोषण तथा लूट का अन्तहीन सिलसिला तीव्र हो गया। शोषण, अत्याचार, अन्याय, बेरोजगारी एवं गरीबी की मार झेल रहे आदिवासियों ने सिंह भूमि जिले से ''जंगल बचाओ'' आंदोलन आरम्भ कर दिया देखते ही देखते इस आंदोलन को पर्यावरणीय तथा सामाजिक कार्यकर्त्ताओं, एन0 जी0 ओ0 तथा मीडिया कर्मियों का समर्थन मिलने लगा।

18.7.5 टिहरी बाँध आंदोलन - एशिया के तीसरे तथा विश्व के चौथे सबसे ऊँचे बाँध यादि टिहरी बाँध के निर्माण के विस्थापन तथा पुर्नवास के विरोध में एक व्यापक जनआंदोलन उत्तराखण्ड के टिहरी जिले में आरम्भ हुआ। इस आंदोलन की शुरुआत उत्तराखण्ड में भगीरथी तथा भिलंगना के संगम पर स्थिति टिहरी नगर में वन रही विषाल जल विद्युत परियोजना के विरुद्ध किया गया। मशहूर पर्यावरणविद् तथा चिपको आंदोलनकारी सुन्दर लाल बहुगुणा ने इस आंदोलन को राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर स्थापित किया। इस महत्वकांक्षी परियोजना को योजना आयोग की मंजूरी 1972 में मिली तथा इसके निर्माण हेतु भारत सोवियत संघ के मध्य समझौता हुआ। इस बाँध को साकार रूप देने हेतु भारत तथा उत्तर प्रदेश सरकार ने संयुक्त रूप से टिहरी जल विद्युत विकास निगम (टी0 एच0 डी0 सी0) का गठन किया गया। इस बाँध की कुल विद्युत उत्पादन क्षमता 2400 मेगावाट आँकी गयी तथा इससे 2.70 लाख हैक्टेअर भूमि की सिंचाई और दिल्ली हेतु 300 क्यूसेक पानी की आपूर्ति प्रतिदिन करने का ऑकलन किया गया। बांध में सर्वाधिक विवाद के प्रश्न तथा आंदोलन का मुख्य कारण निम्न रहें हैं -

- ऽ बाँध से बड़ी भारी कृषि भूमि, गाँव, जंगल तथा ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक रूप से महत्वपूर्ण टिहरी नगर जलमग्न हो जाने वाले थे विस्थापन एवं पुर्नवास की विकट समस्या पैदा हो गयी।
- ऽ टी0 एच0 डी0 सी0 द्वारा विस्थापन तथा पुर्नवास हेतु परिवारों को चिन्हित करना तथा नये पुर्नवास स्थल पर भूमि के आवंटन में मनमानी तथा प्रक्रिया के ढुलमुल होने से जनमानस का असंतोष और भी बढ़ गया।
- ऽ बाँध के कारण व्यापक झील बनने तथा पुलों व सड़कों के जलमग्न होने से टिहरी जनपद के अनेकों कस्बों तथा सैकड़ों गाँवों का सम्पर्क पूरी तरह से जिला मुख्यालय से टूट गया।
- ऽ 1991 में उत्तरकाशी में आये भयानक भूकम्प ने इस बाँध परियोजना को और अधिक संवेदन शील बना दिया।
- ऽ भगीरथी पर बाँध बनने से गंगा के अविरल प्रवाह थम जाने वाला था अतः धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रश्नों से जनता उद्वेलित हो रही थी।

बाँध के विरोध का सिलसिला 1965 से ही आरम्भ हो गया था जबकि टिहरी रियासत की राजमाता कमलेन्दुमती शाह ने इस परियोजना का विरोध किया। स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी एवं टिहरी लोकसभा सीट से तत्कालीन सांसद त्रेपन सिंह नेगी ने लोक सभा में बाँध निर्माण तथा उसके पर्यावरण एवं भूगर्भीय प्रभावों के सन्दर्भ में बनी रिर्पोट को सार्वजनिक करने हेतु सवाल उठाया गया। सरकार

द्वारा पर्यावरण परियोजना के प्रभावों के ऑकलन हेतु एक समिति का गठन किया गया जिसने अंतिम स्वीकृति देने से पूर्व दो बार परियोजना को पर्यावरणीय आधार पर स्वीकृति देने से इंकार कर दिया।

1991 में परियोजना क्षेत्र से मात्र 70 किमी0 दूर उत्तरकाशी में भयानक भूकम्प आया जिससे पुनः हिमालयी क्षेत्र में बनने वाले बड़े बाँधों और खासकर टिहरी बाँध का विरोध तीव्र हो गया। सुन्दर लाल बहुगुणा के नेतृत्व में टिहरी बाँध आंदोलनकारियों ने 1991 में 76 दिन तक धरना प्रदर्शन कर परियोजना को रूकवाया एवं जिससे आंदोलनकारियों की गिरफ्तारी के पश्चात् ही पुलिस संरक्षण में काम आरम्भ हो सका। सुन्दर लाल बहुगुणा द्वारा पुनः 1992 तथा 1995 में घरना तथा अनशन बाँध निर्माण की विरोध में आरम्भ कर दिया गया।

अन्ततः सरकार ने बाँध की पुर्नसमीक्षा का वादा किया परन्तु बाद में परियोजना पर कार्य आरम्भ कर दिया। सुन्दर लाल बहुगुणा द्वारा फिर से दिल्ली में अनशन किया गया तथा केन्द्र सरकार द्वारा हनुमंताराव समिति का गठन किया गया। बाँध आंदोलनकारियों द्वारा समय-समय पर परियोजना के विभिन्न पहलुओं को लेकर उच्च तथा उच्चतम् न्यायालय में याचिकायें दायर की गयीं अन्ततः उच्चतम् न्यायालय के आदेश पर 30 नवम्बर, 2005 को टनल बंद करवा कर टिहरी बाँध परियोजना में झील के भरने का कार्य आरम्भ हुआ तथा लगभग 190 साल पुराने शहर टिहरी ने जल समाधि ले ली ।

तमाम गतिरोधों के बावजूद टिहरी बाँध परियोजना का कार्य सम्पन्न हुआ परन्तु इससे जुड़े विषय पर्यावरण सुरक्षा, विस्थापन तथा पुर्नवास आज भी विवाद का विषय बने हुये हैं साथ ही हिमालयी क्षेत्रों में बड़ी बाँध परियोजनाओं के विकास के सन्दर्भ में इस बाँध परियोजना ने नये-नये प्रश्न चिन्ह लगाकर स्थानीय जनमानस को उद्देलित तथा आंदोलित कर दिया है।

18.7.6 नर्मदा बचाओ आंदोलन - नर्मदा बचाओ आंदोलन गुजरात तथा मध्यप्रदेष में नर्मदा घाटी में बनने वाले बाधों के विरुद्ध आदिवासियों, किसानों, ग्रामीण जनमानस विशेषतौर पर महिलाओं, पर्यावरणविदों तथा मानवाधिकार संगठनों द्वारा आयोजित एक ऐसा आंदोलन रहा है जो कि कई दशकों तक सक्रिय रहा। इस आंदोलन के प्रणेता जानी मानी पर्यावरण कार्यकत्री मेघा पाटकर रही हैं साथ इस आंदोलन को बाबा आम्टे जैसे समाजसेवियों तथा बुकर पुरुस्कार से सम्मानित अरुंधती राय ने भी गति प्रदान की है।

दरअसल नर्मदा नदी के जल तथा इस पर बनने वाली परियोजनाओं के लाभों के वितरण के सन्दर्भ में गुजरात, मध्यप्रदेष तथा महाराष्ट्र में लंबे समय तक विवाद चलने की स्थिति में केन्द्र सरकार द्वारा अक्टूबर, 1969 में अन्तर्राज्य नदी जल विवाद न्यायाधिकरण यानि नर्मदा जल विवाद न्यायाधिकरण का गठन किया। जिसकी 1979 में दी गयी संस्तुति के अनुसार नर्मदा नदी पर 30 बड़े, 135 मध्यम तथा 3000 लघु बाँध के निर्माण की योजना सरकार द्वारा बनायी गयी साथ ही नर्मदा नदी पर गुजरात के नवग्राम में सरदार सरोवर बाँध की ऊँचाई बढ़ाने का भी आदेश पारित किया गया।

मेघा पाटकर ने पाया कि उक्त परियोजना का आरम्भ पर्यावरण संरक्षण तथा विस्थापन के महत्वपूर्ण मामलों की उपेक्षा कर दिया गया तो मेघा पाटकर द्वारा जब 1989 में नर्मदा बचाओं आंदोलन का गठन किया तो उनसे राष्ट्रीय तथा प्रादेशिक स्तर के अनेक पर्यावरण तथा मानवाधिकारों पर आधारित संगठन जुड़ने लगे। मेघा पाटकर द्वारा सरदार सरोवर बाँध के निर्माण को रूकवाने हेतु 22 दिन की भूख हड़ताल की जिसके कारण विश्व बैंक जो कि इस परियोजना हेतु वित्तीय सहायता दे

रहा था, उसे मजबूर होकर मूर्स कमीशन इस परियोजना की समीक्षा हेतु गठन करना पड़ा। जिसने पाया कि परियोजना भारत सरकार तथा विश्व बैंक के मानकों तथा नीतियों के अनुसार नहीं हैं एवं विश्व बैंक द्वारा अपनी भागीदारी परियोजना से वापस ले ली।

नर्मदा बचाओ आंदोलनकारियों ने उच्चतम् न्यायालय में याचिका दायर करवाई जिसके अन्तर्गत न्यायालय से परियोजना का कार्य रूकवाने की माँग की गयी। न्यायालय द्वारा आंदोलनकारियों का पक्ष लेते हुए तुरन्त परियोजना का कार्य स्थगित करने तथा विस्थापन एवं पुर्नवास समुचित प्रकार से करने का आदेश दिया। इस बीच नर्मदा बचाओं आंदोलन का स्वरूप और भी व्यापक हो गया इसके आंदोलनकारियों ने दिल्ली तक जाकर रैली, प्रदर्शन तथा घरना दिया। अंततः सर्वोच्च न्यायालय द्वारा सरकार सरोवर बाँध की ऊँचाई 110 मीटर से बढ़ाकर 121.92 मीटर तक करने का आदेश दिया परन्तु साथ ही प्रभावित राज्य सरकारों से बाँध की प्रति 5 मीटर ऊँचाई बढ़ने पर विस्थापन तथा पुर्नवास को संतोषजनक रूप से पूर्ण करने तथा उसे सुनिश्चित करने का आदेश दिया साथ ही इस प्रक्रिया को हर बार दोहराने का आदेश ताकि प्रभावी ढंग से विस्थापन एवं पुर्नवास हो सके ।

18.7.7 गंगा बचायो अभियान एवं आंदोलन - गंगा बचाओ आंदोलन गंगा तथा इसके उद्गम के स्रोत हिमालय को सभी किस्म के प्रदूषणों से मुक्त कर इसे पुनः निर्मल एवं पवित्र बनाने के उद्देश्य से आरम्भ किया गया है । गाँधीवादी दर्शन तथा विचारधारा पर आधारित इस अभियान को आंदोलन के स्वरूप में बदलने का प्रयास गांधी जयन्ती के अवसर पर पूना में 1998 को आगा खान महल से यरवदा जेल की पदयात्रा से आरम्भ हुआ।

इसके पश्चात् से सेमीनारों, कार्यषालाओं, रैलियों, पदयात्राओं तथा जनजागरुकता अभियान के माध्यम से आंदोलन को व्यापक स्वरूप देने का प्रयास किया गया। गंगा में बनने वाले बाँधों के विरुद्ध गंगा सेवा अभियानम् के लिये स्वामी सानन्द (प्रो0 जी0 डी0 अग्रवाल) 2008 तथा 2009 में आमरण अनशन किया। जिसके कारण से गंगा में बनने वाले हिमालयी क्षेत्र में बाँधों पर सरकार द्वारा रोक लगा दी गयी है । हरिद्वार जिले में गंगा में खनन उत्खनन से गंगा की रक्षा हेतु स्वामी निगमानन्द ने 64 दिनों की भूख हड़ताल की तथा इसी अनशन के दौरान उन्हें गंगा की सुरक्षा हेतु अपने प्राणों की आहूति जून 2011 में देनी पड़ी। अंततः उत्तराखण्ड राज्य सरकार द्वारा हरिद्वार जिले में अवैध खनन पर रोक लगा दी ।

18.7.8 भारत में अन्य पर्यावरणीय आंदोलन - भारत में पर्यावरण तथा पारिस्थितिकी यंत्र के सरंक्षण हेतु अनेकों अन्य छोटे बड़े आंदोलन निरन्तर होते रहे हैं। इन आंदोलनों में दून घाटी में खनन गतिविधियों के विरोध में, चिल्का झील बचाओ आंदोलन, कुडकोलम् नाभिकीय परियोजना के विरुद्ध आंदोलन, अरावली बचाओ आंदोलन, बीज बचाओ आंदोलन आदि प्रमुख हैं। छत्तीसगढ़ में ट्रेड यूनियन शंकर गुहा नियोगी ने वनों के अन्धाधुन्ध दोहन तथा मुनाफाखोरों के विरुद्ध अभियान छेड़ा, चिल्का झील में टाटा की परियोजना के विरुद्ध उड़ीसा में व्यापक आंदोलन हुआ। देहरादून में खनन गतिविधियों के विरुद्ध स्थानीय निवासियों ने व्यापक अभियान छेड़कर खनन गतिविधियों को स्थगित करवा दिया।

एक अनूठा तथा अनुपम आंदोलन चमोली जनपद के ग्वालदम् क्षेत्र में कल्याण सिंह रावत के नेतृत्व में सन् 1995 में आरम्भ हुआ। मैती नामक इस आंदोलन में विवाह के अवसर पर वर के जूते

चुराकर नेग लेने (उपहार) लेने की परम्परा को तिलांजली देकर विवाह के अवसर पर मैती यानि मायका की परम्परा का आरम्भ किया गया। इस रस्म के अन्तर्गत विवाह के मंत्रोच्चार तथा पूरी रस्म के साथ वर-वधू मिलकर पेड़ लगाते हैं तथा पेड़ों के पोषण एवं संरक्षण की जिम्मेदारी भी सुनिश्चित करते हैं। वर से मिले पुरुस्कार स्वरूप पैसे को मैती संगठन के कोष में बैंक या पोस्ट ऑफिस में जमा किया जाता है। इन पैसों का सदुपयोग निर्धन छात्र छात्राओं की सहायता, सामाजिक कार्यों तथा पर्यावरण संरक्षण में किया जाता है। इस आंदोलन से पर्यावरण संरक्षण तथा सामाजिक सहभागिता का विकास हो रहा है साथ ही मैती संगठन द्वारा रोपित बन निरंतर हरे भरे तथा विस्तारित हो रहे हैं।

महाराष्ट्र के अहमदनगर में राले गाँव सीधी में जाने माने समाजसेवी अन्ना हजारे ने जल सरंक्षण हेतु परम्परागत तौर तरीकों के प्रयोग एवं आय जनमानस की भागीदारी के साथ एक नया उदाहरण प्रस्तुत किया । जिसके कारण न सिर्फ पर्यावरण संरक्षण को लाभ हुआ अपितु खेती की पैदावार में भी काफी वृद्धि हो गयी । इसी प्रकार राजस्थान के अलवर जिले में में तरुण भारत संघ संख्या के प्रणेता राजेन्द्र सिसौदिया ने आम जनमानस के सहयोग से जल संरक्षण हेतु परम्परागत तालाब, जोहड़ों, बन्धों तथा बावड़ियों को पुनर्जीवित कर दिया, जिसके फलस्वरूप उन्हें रैमेन मैग्शैसे पुरुस्कार प्रदान किया गया।

विधिवेत्ता एवं जाने माने पर्यावरण विद् एम0 सी0 मेहता द्वारा उच्चतम् न्यायालय में जनहित याचिकाओं को दायर कर कई महत्वपूर्ण पर्यावरण संरक्षण के मसलों पर उल्लेखनीय कार्य कराया तथा स्वयं उच्चतम् न्यायालय ने समय-समय पर पर्यावरण तथा पारिस्थितिकी तंत्र के संरक्षण हेतु कई सराहनीय फैसले देकर एक नया उदाहरण प्रस्तुत किया है। भारत में पर्यावरणीय कानूनों एवं नीतियो के सामाजिक आयामों के परिपेक्ष्य में व्याख्या का कार्य जन हित में न्यायपालिका द्वारा किया गया है। न्याय पालिका द्वारा विभिन्न वादो में स्वंय भी स्वतः संज्ञान लेते हुये एवं जनहित याचिकाओं के माध्यम से न सिर्फ महत्वपूर्ण निर्णय लिये अपितु पर्यावरण संरक्षण के लिये सरकारो को महत्वपूर्ण दिशा निर्देश भी प्रदान किये। न्याय पालिका द्वारा अनेंको वादो में यह स्थापित किया गया कि स्वच्छ वायु, जल एवं पर्यावरण जीने की बुनियादी आवश्यकता है तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह जीने के अधिकार के अन्तर्गत समाहित है। ऐसा करके न्यायालय द्वारा संविधान के अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत गांरटीकृत जीने की अधिकार की परिभाषा को व्यापक किया।

आज समस्त देश में पर्यावरण तथा पारिस्थितिकी तंत्र के संरक्षण के प्रति जो जन जागृति आयी है उसमें आम जनता, एन. जी. ओ., पर्यावरण विदों के साथ-साथ पर्यावरणीय आंदोलनों का बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान है ।

18.8 पर्यावरणीय आंदोलन विचारा धारा एवं रणनीति

भारत में घटित समस्त पर्यावरणीय तथा पारिस्थितिकी आंदोलनों में व्यापक रणनीतियों तथा विविध विचार धाराओं का समावेश रहा है। मूलतया यह आंदोलन पर्यावरण संरक्षण की विचारधारा से प्रेरित रहे हैं परन्तु इनमें जल, जंगल, जमीन पर अपने बुनियादी अधिकारों की रक्षा के साथ-साथ अन्याय एवं शोषण के विरुद्ध संघर्ष की भावना भी समाहित रही है। यह आंदोलन नारी पर्यावरणवाद, नारी सशक्तिकरण, सहभागी लोकतंत्र, आर्थिक स्वालम्बन, सामुदायिक नेतृत्व एवं मानवाधिकार की सुरक्षा के उद्देश्यों से प्रेरित रहे हैं। इन आंदोलन में गाँधीवादी विचारधारा की सत्याग्रह एवं अंहिसा की रणनीति प्रमुख रही है परन्तु समाजवादी तथा साम्यवादी विचारधाराओं ने

इन आंदोलनों को प्रभावित किया है। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि भारत में घटित पर्यावरणीय आंदोलन कहीं न कहीं चिपको आंदोलन से प्रेरणा पाते रहे हैं।

चिपको आंदोलन पूरी तरह से गाँधी वादी मूल्यों पर आधारित आंदोलन रहा है इसमें सत्याग्रह तथा अहिंसा की रणनीति पर आधारित तौर तरीकों से ही आंदोलन को आगे बढ़ाया गया। यह आंदोलन सर्वोदयी दर्शन के कल्याण की भावना से ओत प्रोत रहा। जहाँ चिपकों आंदोलन की मूल भावना पर्यावरण संरक्षण तथा जंगलों पर स्थानीय जनता के बुनियादी हक हकूकों के प्रति ही समर्पित रही है परन्तु इस आंदोलन ने समय के साथ-साथ व्यापक रूप ले लिया जिसमें सामुदायिकता, सहभागी लोकतन्त्र, नारी पर्यावरणवाद जैसे महत्वपूर्ण मूल्य इस आंदोलन में समाहित होते चले गये। यह आंदोलन शोषण तथा अन्याय के विरुद्ध जन मानस के संघर्ष का मुख्य हथियार भी बन गया।

आंदोलन में गाँधीवादी विचारधारा के साथ-साथ समाजवादी विचाराधारों ने आंदोलन को व्यापक तथा नये आयाम दिये तथा आंदोलन को क्रान्तिकारी स्वरूप प्रदान किया उत्तराखण्ड के सम्पूर्ण हिमालय में चिपको आंदोलन के नारे जैसे ''पेड़ों पर हथियार उठेंगे, हम भी उनके साथ मरेंगे'' व ''लाठी गोली खायेंगे अपने पेड़ बचायेंगे'' आदि पहाड़ की फिजाओं में गूंजने लगे।

जहाँ कहीं भी वन विभाग तथा ठेकेदार वृक्षों के कटान की योजना बनाते वहीं आंदोलन कारी ढोल नगाड़ों के साथ गढ़वाली भाषा का गीत गाते एवं वृक्षों का अंलिगन कर उनको राखी बाँधकर उनकी रक्षा हेतु सक्रिय रहते एवं चिपको आंदोलन का प्रमुख घोषवाक्य तो हिमालय की पुकार बन गया - ''क्या है जंगल के उपकार, मिट्टी, पानी और ब्यार। मिट्टी पानी और ब्यार, जिन्दा रहने के आधार।''

सुन्दर लाल बहुगुणा ने इस आंदोलन को वैश्विक पटल पर नयी पहचान दी तथा इस आन्दोलन को और अधिक प्रचारित करने के उद्देश्य से उन्होंने सम्पूर्ण हिमालयी क्षेत्र में 1981-83 के मध्य की पद यात्रा की। जहाँ चिपको आंदोलन में महिलाओं की भूमिका महत्वपूर्ण रही वहीं झारखण्ड, छत्तीसगढ़ तथा नर्मदा बचाओ आंदोलनों में आदिवासियों ने प्रमुख भूमिका निभायी, केरल में घटित साइलैण्ट वैसी आंदोलन पूरी तरह से बुद्धिजीवियों, वैज्ञानिकों तथा लेखकों के लिये समर्पित रहा। नर्मदा घाटी में घटित आंदोलनों में तो आदिवासियों ने पानी में आधे-आधे शरीर तक डूबकर आंदोलन किया। आंदोलनों में पदयात्रा रैलियों एवं जन जागरुकता अभियानों के साथ-साथ आमरण अनशन का भी सहारा लिया गया है।

18.9 पर्यावरणीय आंदोलन का योगदान तथा विरासत

पर्यावरणीय आंदोलनों का योगदान तथा विरासत बेहद अमूल्य हैं चिपको आंदोलन इस सन्दर्भ में प्रेरणा का स्रोत बन कर उभरा है । चिपको आंदोलन का तत्कालित परिणाम् यह हुआ कि सरकार ने हिमालयी क्षेत्रों में वनों की कटाई पर रोक लगा दी। चिपको आंदोलन ने हिमालयी क्षेत्र को देवदार, कैल, बांस, रुई, मुटिंडा, अखरोट, पांगर, साल आदि अनगिनत मूल्यवान तथा औषधीय वृक्षों से वंचित होने से बचा दिया। इससे हिमालयी क्षेत्र न सिर्फ हराभरा हो गया अपितु पर्यावरण संरक्षण एवं अवनयन को रोकने में भी मदद मिली। महिलाओं द्वारा समूह तथा संघ बनाकर वृक्षों, चरागाहों तथा बेकार पड़ी भूमि का संरक्षण एवं प्रबन्धन आरम्भ किया साथ ही साथ आगे चलकर जल प्रबन्धन, ऊर्जा संरक्षण एवं वृक्षारोपण आदि क्षेत्रों में भी समूहों तथा संघों ने चिपको आंदोलन से प्रेरणा पाकर महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

चिपको आंदोलन नारी पर्यावरणवाद का ज्वलंत उदाहरण बन कर उभरा। अस्सी के दशक में जब उत्तराखण्ड में सामाजिक बुराईयों जैसे नशा मुक्ति हेतु व्यापक आंदोलन हुआ तो इस आंदोलन को चिपको आंदोलन से ऊर्जा प्रेरणा तथा आंदोलन कारी प्राप्त हुए। चिपको आंदोलन ने पूरे देश में पर्यावरणीय तथा पारिस्थितिकी आंदोलन हेतु आधार तैयार किया । इसमें एप्पिको आंदोलन, जंगल बचाओ आंदोलन, नर्मदाघाटी आंदोलन आदि आंदोलन को प्रेरणा प्रदान की ।

पर्यावरणीय आंदोलन के कारण सरकारों को संवेदनशील पारिस्थितिकीय क्षेत्रों, निर्माण, खनन आदि गतिविधियों पर रोक लगानी पड़ी है। भागीरथी पर बनने वाले बाँधों को गंगा बचाओ आंदोलन के कारण से स्थगित करना पड़ा। इसी प्रकार अनेकों छोटी बड़ी परियोजनाओं की समीक्षा करनी पड़ी है। मीडिया, गैर सरकारी संगठन ;एन. जी. ओ., पर्यावरण प्रेमियों, एवं वैज्ञानिकों के निरन्तर प्रयासों के कारण भारत सरकार ने राष्ट्रीय उद्यानों बायोस्फेयर रिजर्वों, प्रोजेक्ट टाईगर की स्थपना कर दुलर्भ तथा संरक्षित जीव जन्तुओं की सुरक्षा हेतु ठोस प्रयास आरम्भ करने पड़े हैं। सरकार द्वारा वन एवं पर्यावरण मंत्रालय का गठन किया गया तथा आम जनता की भागीदारी वनों के प्रबन्धन में सुनिश्चित करने के उद्देश्य से वन अधिनियम् में संशोधन करने के लिये संयुक्त वन प्रबन्धन, सामाजिक वानकी आदि को बढ़ावा दिया।

औद्योगिक गतिविधियों को पर्यावरण मानकों के आधार पर विनियमित करने हेतु नीतियाँ बनायी गयी हैं। आदिवासियों के जंगलों पर परम्परागत अधिकारों को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से वनाधिकार अधिनियम् 2006 पारित किया गया है। सरकार द्वारा पारित इस अधिनियम के अन्तर्गत भारत के इतिहास में पहली बार आदिम जनजातियों तथा जंगलों के आसपास रहने वाले समुदायों को जंगलों के ऊपर अधिकार प्रदान किये गये हैं जिससे उनको आजीविका सरंक्षण के साथ-साथ बुनियादी जरूरतें जंगलों से मिल सकें। यह पर्यावरणीय आंदोलनों के फलस्वरूप जनित जागरूकता का परिणाम था कि पर्यावरण एवं वन नीतियों में निम्न सामाजिक सरोकारों का समावेश करना पड़ा -

- मानव विकास का केन्द्र है एवं वर्तमान तथा भावी पीढ़ी की आवष्यकताओं की समान पूर्ति का अधिकार दिया जाना चाहिए।
- पर्यावरणीय सुरक्षा अविच्छिन्न विकास का अभिन्न अंग है ।
- पर्यावरण से सम्बन्धित विभिन्न सार्वजनिक कार्यों में आर्थिक क्षमता प्राप्त करने का प्रयास किया जाये ।
- इस नीति में प्रदूषणकर्त्ता द्वारा किये गये प्रदूषण का उत्तरदायित्व प्रदूषणकर्त्ता पर स्थापित करने का प्रयास किया गया है ।
- इस नीति में समता के सिद्धान्त को महत्व दिया गया है, यह समता वर्तमान पीढ़ी में सभी के मध्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है साथ ही वर्तमान तथा भावी पीढ़ियों के मध्य भी समता स्थापित करने का प्रयास किया गया है। जिससे समाज में किसी को भी संसाधनों की कमी का सामना न करना पड़े ।
- सार्वजनिक न्यास के सिद्धान्तों के अनुरूप राज्य को सभी प्राकृतिक संसाधनों का पूर्ण स्वामित्व प्राप्त नहीं है अपितु वह मात्र उन संसाधनों ट्रस्टी मात्र है ।
- पर्यावरणीय मानक आर्थिक सामाजिक विकास की स्थिति को परिलक्षित करने में सक्षम होने चाहिए ।

- वनों में तथा आसपास रहने वाले समुदायों, जन जातियों के वनांेपज से सम्बद्ध अधिकार एवं सुविधाओं को प्राथमिकता दी जानी चाहिए तथा वनों के अनुरक्षण तथा विकास में उनकी भागीदारी विकसित की जानी चाहिए ।
- रोजगार तथा आय के समुचित अवसर उपलब्ध कराने के साथ-साथ वनों पुनरुत्पादन तथा विकास में जनजातियों की क्रियाशील भागीदारी सुनिश्चित की जानी चाहिये । ठेकेदारी प्रथा के स्थान पर सहकारी समितियों अथवा शासकीय निगमों द्वारा कार्य किया जाना चाहिए।
- वनों को मात्रा राजस्व प्राप्ति का स्रोत नहीं माना जाना चाहिए। वन हमारी राष्ट्रीय विरासत हैं। वनों का संरक्षण जन कल्याण तथा राष्ट्र कल्याण के लिए अत्यंत आवश्यक है।

स्वयं प्रधानमंत्री की अगुवाई में भारत में बाघ बचाओ मुहिम आरम्भ की गयी है। जिसमें मीडिया तथा प्रकृति प्रेमी भी सक्रिय भागीदारी निभा रहे हैं। पर्यावरण कानूनों के तथा जनहित याचिकाओं के माध्यम से साफ स्वच्छ पर्यावरण प्रत्येक नागरिक का मूल अधिकार बताते हुए उसे अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत जीने के अधिकार में उच्चतम न्यायलय के आदेश से समाहित किया गया है साथ ही न्यायलय द्वारा समय-समय पर अनेक मसलों पर पर्यावरण संरक्षण, प्रदूषण, अवैध खनन तथा वनों के अन्धाधुन्ध कटान पर महत्वपूर्ण निर्णय प्रदान किये गये हैं।

सिविल सोसाईटी, एन0 जी0 ओ0 तथा जनसंचार के माध्यमों से इन आंदोलनों की प्रभावशीलता वैश्विक पटल पर स्थापित हो चुकी है। जलवायु परिवर्तन पर होने वाले वैश्विक सम्मेलन एवं अभिसमय उपरोक्त आंदोलनों का ही परिणाम है। यूरोप तथा अमेरिका के विभिन्न देशों में पर्यावरणीय मूल्यों पर गठित राजनैतिक दल भी सक्रिय जनमत की राजनीति में प्रभावी भूमिका निभा रहे हैं यह दल ग्रीन पार्टी के रूप में उभर कर सामने आये हैं।

पर्यावरण तथा पारिस्थितिकीय तन्त्र के संरक्षण हेतु वैश्विक स्तर पर कई संगठन सामने आये हैं जिनमें वर्ल्ड वाइड फण्ड फॉर नेचर (डब्ल्यू0 डब्ल्यू0 एफ0), ग्रीन पीस सोसाईटी, इण्टरनेशनल यूनियन फॉर कंजरवेशन ऑफ नेचर (आई0 यू0 सी0 एन0), वैश्विक पर्यावरण सुविधा (जी0 ई0 एफ0) तथा फ्रैन्डस ऑफ अर्थ आदि प्रमुख हैं ।

इन संगठनों, एन0 जी0 ओ0 मीडिया तथा सिविल सोसाईटी के प्रभावों के चलते वैश्विक पर्यावरणीय समस्याओं के प्रति विश्व में सशक्त प्रयास आरम्भ हुए। इसमें पर्यावरण तथा विकास पर संयुक्त राष्ट्र कान्फ्रेंस (यू0 एन0 सी0 ई0 सी0) के तत्वाधान में पृथ्वी सम्मेलन 1992 में रियो डि जेनेरो में आयोजित हुआ तथा 2002 में जोहन्सबर्ग में दीर्घकालीन विकास पर विश्व सम्मेलन आयोजित हुए जिसमें जलवायु परिवर्तन, पेयजल, जैव विविधता, स्वास्थ्य तथा विकास जैसे मसलों पर महत्वपूर्ण निर्णय लिये गये।

अस्सी के दशक में चिपको आंदोलनकारियों को पुरुस्कारों के मिलने का दौर आरम्भ हुआ, गौरा देवी को सन् 1986 में स्वयं तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गाँधी द्वारा वृक्ष मित्र पुरुस्कार से सम्मानित किया गया। दशोली ग्राम स्वराज्य संघ के प्रणेता चंडी प्रसाद भट्ट को सन् 1982 में रैमन मैग्शैसे पुरुस्कार से सम्मानित किया गया । सन् 1986 में चिपको आंदोलन को सम्यक् आजीविका पुरुस्कार से सम्मानित किया गया वही सुन्दर लाल बहुगुणा को भारत सरकार द्वारा पद्म विभूषण प्रदान किया गया ।

परन्तु नेतृत्व की होड़ मीडिया की चमक दमक, पुरुस्कारों के पाने की ललक ने इस आंदोलन में मतभेद तथा विडम्बना का दौर आरम्भ किया । स्वार्थों के चलते बहुत से लोगों ने इस आंदोलन को हाईजैक करने का प्रयास भी किया । देश विदेश घूमने वाले कार्यकर्ताओं की बाढ़ सी आ गयी झूठे शोध पत्र वाले विशेषज्ञ तैयार हो गये । जन बल के आधार पर चलाये गये आंदोलन को विदेशी धन बल से चलाने वाली प्रभावकारी संस्थायें सक्रिय हो गयी जिससे आम जनमानस इन आंदोलन से दूर हो गया ।

परन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कोई भी आंदोलन अनन्त काल तक नहीं चलाया जा सकता है। दरअसल इन आंदोलनों ने पर्यावरण संरक्षण की जो अनुपम एवं अनूठी मिसाल कायम की वह पूरे भारत में अनेकानेक आंदोलनों के लिये प्रेरणा का स्रोत बन गयी साथ यह आंदोलन महिला उत्थान, आर्थिक स्वालम्बन, नारी पर्यावरण वाद, सामुदायिक नेतृत्व की एक ऐसी मिसाल बन गये, जिसने आगे आने वाले आंदोलनों को वैचारिक ऊर्जा प्रदान की।

18.10 सारांश

आधुनिक आर्थिक विकास को तीव्र करने की प्रक्रिया में सामाजिक तथा पर्यावरणीय मूल्यों की भारी उपेक्षा ने न सिर्फ पर्यावरण अवनयन तथा प्राकृतिक संसाधनों के क्षरण की समस्या को गम्भीर बना दिया अपितु आर्थिक असमानताओं के बढ़ने से निर्धन वर्ग के सामने आजीविका, बेरोजगारी, खाद्य सुरक्षा, पेयजल, स्वच्छ ऊर्जा तथा स्वास्थ्य की समस्या का संकट गहराने लगा अतः सामाजिक स्तर पर्यावरण विभिन्न आयामों के प्रति जन चेतनाओं के उभार की परीणति पर्यावरणीय एवं पारिस्थितिकी आंदोलनों के रूप में हुयी ।

पर्यावरणीय मूल्यों की स्थापना हेतु जो जनआंदोलन 70 के दशक से आरम्भ हुए उनका प्रभाव समस्त् वैश्विक पटल पर हुआ । इन आंदोलनों ने पर्यावरण संरक्षण के अभिमान में नारी सशक्तिकरण, नारी पर्यावरण वाद, सहभागी लोकतंत्र, समता पूर्ण विकास, आजीविका की सुरक्षा तथा बुनियादी मानवाधिकार जैसे मूल्यों को सुनिश्चित करने हेतु जनमानस उद्देलित एवं आन्दोलित कर दिया ।

भारत में घटित विभिन्न पर्यावरणीय तथा पारिस्थितकीय आंदोलनों ने सिर्फ जनमानस को जागरुक कर पर्यावरणीय मूल्यों के प्रति संवेदनशील बनाया अपितु नीति निर्माताओं को भी इनके संरक्षण की दिशा में समुचित प्रयास करने हेतु बाध्य किया। इन आंदोलनों ने भारत समेत समस्त विश्व को वैकल्पिक एवं टिकाऊ विकास को परिभाषित करने का एक अवसर प्रदान किया।

18.11 शब्दावली

वैश्वीकरण - यह ऐसी प्रक्रिया है जिससे विश्व के विभिन्न देशों के मध्य आर्थिक सामाजिक एवं राजनैतिक अर्न्तसम्बन्ध और अधिक प्रगाढ़ हो गये हैं तथा देशों के मध्य वस्तु, सेवा तथा पूँजी का प्रवाह तीव्र हो गया है ।

मुक्त व्यापार - विश्व के देशों के मध्य व्यापार की बाधाओं तथा अड़चनों को समाप्त कर स्वतन्त्र व्यापार स्थापित करने की प्रक्रिया इसके अन्तर्गत आती है ।

टिकाऊ विकास - आर्थिक विकास की प्रक्रिया को इस प्रकार से किया जाये कि आने वाली पीढ़ी को किसी प्रकार की संसाधनों के संकट का सामना न करना पड़े तथा पर्यावरण संरक्षित बनाये रखा जा सके ।

लैसे फेयर प्रणाली - एक ऐसा अर्थतन्त्र जहाँ सरकार का हस्तक्षेप आर्थिक प्रक्रिया में न्यूनतम हो तथा बाजार की शक्तियों को अधिकतम स्वतन्त्रता होती है ।

सर्वोदय सिद्धान्त - यह सिद्धान्त सभी जनमानस की प्रगति तथा कल्याण की भावना के विचार से प्रेरित है।
पर्यावरणवाद - पर्यावरणीय मूल्यों के प्रति जनमानस में सामाजिक तथा राजनैतिक चेतना का विकास इस विचारधारा के अन्तर्गत आता है।
नारी सशक्तिकरण - नारियों को स्वतन्त्रता, समग्रता तथा न्याय के साथ समस्त अधिकार प्राप्त हों तथा वह सामाजिक आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में सक्रिय और प्रभावी भूमिका निभायें।
पारिस्थितकी तन्त्र - यह ऐसा तन्त्र होता है जहाँ पर्यावरण के सभी जैव तथा अजैव घटक आपस में क्रिया प्रतिक्रिया करते हुए अन्तर्सम्बन्धित रहते हैं।
जलवायु परिवर्तन - पृथ्वी के चारों ओर प्रदूषण के कारण से कार्बन डाई ऑक्साइड जैसी गैसों के बढ़ने से पृथ्वी के तापक्रम बढ़ने से पृथ्वी की जलवायु का संतुलन बिगड़ जाने की प्रक्रिया को जलवायु परिवर्तन कहते हैं।
धूम्र कोहरा - कोहरे के साथ धुआँ मिलकर धूम्र कोहरा बनता है। जिसे किलर स्मॉग कहते हैं।
अम्ल वर्षा - जहरीली गैसें वायुमण्डल में नमी के साथ क्रिया कर अम्ल वर्षा को जन्म देती हैं।

18.12 अभ्यास प्रश्न

1. पृथ्वी दिवस कब मनाया जाता है ?
2. पर्यावरण दिवस किस दिन मनाया जाता है ?
3. चिपको आंदोलन के नेतृत्व करने वाली महिला का क्या नाम है ?
4. चिपको आंदोलन उत्तराखण्ड के किस गाँव से आरम्भ हुआ ?
5. दशोली ग्राम स्वराज्य संघ का गठन किसने किया ?
6. साइलैण्ट वैली आंदोलन भारत के किस राज्य में हुआ ?
7. एप्पिको आंदोलन किस राज्य में हुआ तथा इसके प्रणेता कौन हैं ?
8. टिहरी बाँध आंदोलन के प्रमुख आंदोलनकारी कौन हैं ?
9. मेघा पाटकर किस आंदोलन से जुड़ी हैं ?
10. कल्याण सिंह रावत ने कौन सा आंदोलन आरम्भ किया ?
11. अरुन्धती राय किस आंदोलन से जुड़ी हैं ?
12. सरदार सरोवर बाँध किस राज्य में स्थित है ?
13. झारखण्ड राज्य में कौन सा पर्यावरणीय आंदोलन हुआ है ?
14. गंगा बचाओ अभियान के लिए किस आंदोलनकारी की मृत्यु अनशन के कारण हुई थी ?
15. राजस्थान में 1787 में किसके नेतृत्व में विश्नोई समाज के लोग खेजड़ी के वृक्षों की रक्षा हेतु उनसे चिपक गये थे ?

उत्तर - (1) 22 अप्रैल (2) 5 जून (3) गौरा देवी (4) रैणी गाँव (चमोली) (5) चंडी प्रसाद भट्ट (6) केरल (7) कर्नाटक, पाण्डुरंग हेगड़े (8) सुन्दर लाल बहुगुणा (9) नर्मदा बचाओ आंदोलन (10)

मैती (11) मेघा पाटकर (12) गुजरात (13) जंगल बचाओ आंदोलन (14) स्वामी निगमानन्द (15) अमृता देवी।

18.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. पर्यावरणवाद से आप क्या समझते हैं ? भारत में पर्यावरणीय तथा पारिस्थितिकीय आंदोलन के प्रमुख कारण कौन से हैं ?
2. पर्यावरणीय तथा पारिस्थितिकीय आंदोलन से आप क्या समझते हैं ? इन आंदोलनों के विकास का ऐतिहासिक आधार क्या है ?
3. पर्यावरणीय आंदोलनों के घटित होने के प्रमुख कारण कौन से हैं तथा उन आंदोलनों की रणनीति एवं विचारधारा का विष्लेषण कीजिए ?
4. भारत में घटित प्रमुख पर्यावरणीय आंदोलनों पर चर्चा करते हुए उनके पर्यावरणीय मूल्यों की स्थापना के संदर्भ में योगदान का मूल्यांकन कीजिए।
5. पर्यावरणीय आंदोलनों की विचारधारा तथा विरासत पर टिप्पणी कीजिए।

18.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूत्र

1 सिन्हा, मेघा (2007), पर्यावरण और पारिस्थितिकीय तन्त्र, वन्दना पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।

2. त्रिपाठी, रेणु (2011) पर्यावरण भूगोल, ओमेगा पब्लिकेशन्स, दिल्ली।

3. उत्तराखण्ड उदय, उत्तराखण्ड दशक 2000-2010 (नवम्बर 2010) अमर उजाला पब्लिकेशन्स लिमिटेड, नोएडा।

4. Sinha K. Rajiv (2007) *Environmental Crisis and Human at risk,* INA Shree Publishers, Jaipur.

5. Bhattacharya, R.N. (Ed.) (2001) *Environmental Economics – An Indian Perspective, OUP*, New Delhi.

इकाई 19 पर्यावरण - आध्यात्मिकता एवं संरक्षण नीतिशास्त्र
Environmental Spirituality and Conservation Ethics

19.1 प्रस्तावना
19.2 उद्देश्य
19.3 मानव और पर्यावरण सम्बन्धी अवधारणाएं
19.4 पर्यावरणीय नीतिशास्त्र
19.5 संरक्षण नीतिशास्त्र- सभी संसाधनों का न्यूनतम व्यय ही नैतिकता है।
19.6 सारांश
19.7 शब्दावली
19.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न व उनके उत्तर
19.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची
19.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
19.11 निबन्धात्मक प्रश्न

19.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में मानव और पर्यावरण के बारे में अभी तक उभरी हुई कई अभिव्यक्तियाँ, परम्पराएं, समझ एवं अवधारणाओ के बारे में बताया गया है। इसके साथ साथ पर्यावरणीय नीतिशास्त्र के अंतर्गत संरक्षण नीति शास्त्र के बारे में विस्तार से बताया गया है जोकि सभी संसाधनों का न्यूनतम व्यय ही नैतिकता मानता है।

19.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन् के उपरांत आप

- मानव और पर्यावरण के बीच संबंध कों समझा सकेगे।
- संरक्षण नीति शास्त्र के बारे में विस्तार से बता सकेगे।

19.3 मानव और पर्यावरण सम्बन्धी अवधारणाएं

पर्यावरण-आध्यात्मिकता के अंतर्गत पर्यावरणीय दृष्टिकोण के साथ आध्यात्मिक दृष्टिकोण को भी व्यक्त किया जाता है अर्थात यह मानव और पर्यावरण के बीच आध्यात्मिक सम्बन्ध की एक अभिव्यक्ति है। मानव और पर्यावरण के बारे में अभी तक कई अभिव्यक्तियाँ, परम्पराएं, समझ एवं अवधारणाएं विकसित हों चुकी है। यह न केवल एक प्रकार की धारणा है बल्कि यह विभिन्न प्रकार की धारणाओं (नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, अज्ञेयवादी, रुझानों और कार्यों) की श्रृंखला है। मानव और पर्यावरण सम्बन्धी विभिन्न अवधारणाए निम्नलिखित प्रकार की है-नियतिवादी अवधारणा, सम्भाव्यवादी अवधारणा, नव नियतिवादी अवधारणा, स्वैच्छिकवादी अवधारणा, आदर्शवादी अवधारणा और परिस्थिति विज्ञान-संबंधी अवधारणा। मानव और पर्यावरण सम्बन्धी इन विभिन्न अवधारणाओं का विवरण इस प्रकार है-

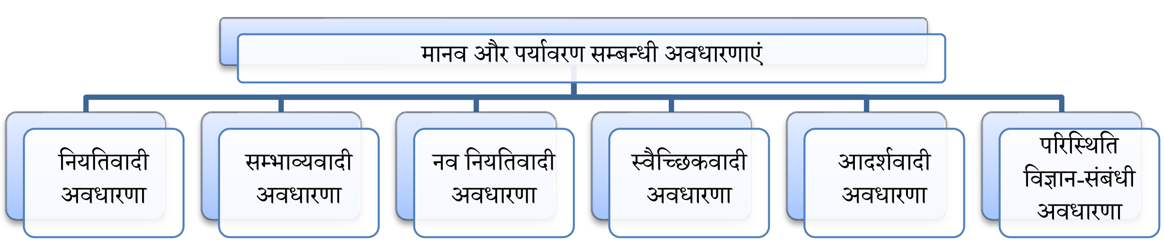

1. **नियतिवादी अवधारणा-** यह मानव को पर्यावरण का ही एक अंग मानता है। नियतिवादी भूगोलवेत्ता **ह्मबोल्ट और रिटर** ने मानव जीवन को प्रकृति पर पूर्णरूपेण निर्भर माना है। जिसमे प्रकृति को नियंत्रक एवं सर्वशक्तिमान मौर मानव को प्रकृति के हाथों का खिलौना कहा गया है।

2. **सम्भाव्यवादी अवधारणा-** सम्भाव्यवादी भूगोलवेत्ताओं **विडाल-डि-ला- ब्लाश, ब्रूंज** और **डिमान्जियाँ** ने मानव को पर्यावरण का एक सक्रिय अंग मानते हुए कहते है कि मानव प्रकृति पर विजय प्राप्त कर चुका है और वह प्रकृति में हर प्रकार का परिवर्तन कर सकता है। प्रकृति में हर प्रकार का परिवर्तन को करने के लिए बस उसके पास इच्छा शक्ति, जरुरी पूँजी और तकनीकी दक्षता होनी चाहिए।
3. **नव नियतिवादी अवधारणा-** नव नियतिवादी अवधारणा दोनों ही अतिवादी अवधारणाओं का खण्डन करती है। नव नियतिवादी भूगोलवेत्ताओं **ग्रिफिथ टेलर** और **ओ. एच. के. स्पेट** ने प्रकृति की एक पक्षीय दोहन की आलोचना की और बताया कि प्रकृति का अत्यधिक दोहन विनाशकारी हो सकता है। उन्होंने प्रकृति के संदर्भ में 'रुको और जाओं' की नीति अपनाने को कहा और बताया कि प्रकृति की अपनी सुंदरता है, अपनी सीमाएँ है। हमें प्रकृति को ध्यान में रख कर ही विकास नीति का निर्माण करना चाहिए। सतत विकास अवधारणा इसी अवधारणा से संबंधित है।
4. **स्वैच्छिकवादी अवधारणा-** इस अवधारणा के अनुसार मानव पर्यावरण को संभावित स्थिति तक परिवर्तित कर सकता है।
5. **आदर्शवादी अवधारणा-** इस अवधारणा में मानव और पर्यावरण के अन्तर-सम्बन्धों को 'सर्वोतम' अथवा 'आदर्श' स्थिति के रूप में प्रतिपादित किया गया है।
6. **पारिस्थिति विज्ञान-संबंधी अवधारणा-** इस अवधारणा में मानव को पारिस्थितिकि-तंत्र का एक अंग मानते हुए पर्यावरण के साथ उसके सम्बन्ध को पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण के अंतर्गत शामिल किया गया है।

19.4 पर्यावरणीय नीतिशास्त्र

नीतिशास्त्र, आचारशास्त्र और दर्शनशास्त्र की ही एक शाखा है जो मूल रूप से यह बताने का प्रयास करती है कि क्या सत्य है और उसका यह विश्लेषण सांस्कृतिक भिन्नताओं से अलग होता है। इसी प्रकार पर्यावरणीय नीतिशास्त्र, जन-जागरूकता की उस नींव पर आधारित है जिसमें यह माना जाता है कि मानव प्रकृति का अंग है और मानव और प्रकृति दोनों में ही अन्तनिर्भरता पाई जाती है।

पर्यावरण के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण पाए जाते है, इन्हें हम तीन वर्गों में बांटा जा सकता है- विकासात्मक, परिरक्षण और संरक्षण।

1. **विकासात्मक नीतिशास्त्र-** यह दृष्टिकोण कार्य पर आधारित है। इसकी मान्यता है कि मानव प्रकृति का स्वामी है तथा पृथ्वी और इसके संसाधन मानव जाती की सुख- सुविधा के लिए है। अत: मानव को 'कार्य भावना' के आधार पर विकास के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना चाहिए।
2. **परिरक्षण नीतिशास्त्र-** यह दृष्टिकोण प्रकृति को विशिष्ट मानकर चलता है। परिरक्षक, यह मानकर चलते है कि मानव को प्रकृति से बहुत कुछ सीखना है। विलुप्त होती प्रजातियों, पारिस्थितिक तंत्र और उनकी दूरगामी उपयोगिता के कारण ही परिरक्षणा अति महत्त्वपूर्ण है।

3. **संरक्षण नीतिशास्त्र-** संरक्षण नीतिशास्त्र का सम्बन्ध वैज्ञानिक परिरक्षकों से है। यह नीतिशास्त्र सर्वभौमिक और सार्वकालिक है। यह विचार समग्र विकास और समग्र संरक्षण के मध्य संतुलन पर जोर देता है।

19.5 संरक्षण नीतिशास्त्र:- सभी संसाधनों का न्यूनतम व्यय ही नैतिकता है। (Morality means minimum wastage of all resources.)

मानव जाति का जन्म होते ही उसे भूख लगी जिसके लिये उसे भोजन की आवश्यकता हुई, फिर शरीर को ढ़कने की आवश्यकता महसूस हुई, फिर जानवरों से बचने के लिये घर की आवश्यकता हुई। प्रारम्भ से ही मानव जाति इन संसाधनों पर निर्भर होता रहा है। पहले तो वह निर्भर रहा, परन्तु फिर उसने धीरे-धीरे ज्ञान का विकास हुआ फिर उसनें इन संसाधनों पर अपना आधिपत्य जमा लिया है।

आओ आज संसाधनों पर कुछ विचार करे परन्तु क्या सभी व्यक्तियों को मालूम है कि संसाधन किसे कहते है? उनका रंग, रुप कैसा होता है?

कुछ व्यक्तियों को तो सिर्फ यह मालूम है कि संसाधन केवल पेट्रोल, डीजल, कोयला ही होता है। परन्तु नही संसधान केवल खनिज पदार्थ ही नही होते है। यह पर्यावरण जिसमें हम रहते हैं और इस पर्यावरण में होनें वाली वनस्पति, जीव-जन्तु, मृदा, जल, खनिज, शक्ति व मानव हमारे संसाधन है जिन्हे प्रकृति ने हमें एक सम्पदा के रुप में दिया है। मनुष्य पर्यावरण के अनेक तत्वों का उपयोग अपने आराम तथा विकास के लिये करता है। कुछ उपयोगी तत्व प्रकृति के ऐसे उपहार है, जिन्हे मनुष्य स्वयं पैदा नही कर सकता।

मैकनाल के अनुसार *"पर्यावरणीय संसाधन उन संसाधनों को कहते है जो प्रकृति द्वारा प्रदान किए जाते है और मनुष्य के लिए उपयोगी होते है।"*

जिम्मर मौन के अनुसार *"संसाधन पर्यावरण की वे विशिष्ट आकृतियाँ है जो मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने में सक्षम होती है और मनुष्य अपनी आवश्यकताओं एवं क्षमताओं द्वारा उन्हे उपयोगिता प्रदान करते है।"*

प्राकृतिक सम्पदा का अपना विशेष आर्थिक महत्व है। वे हमारी कृषि सम्बन्धी गतिविधियों के मुख्य साधन है। वे हमारे उद्योगों के लिए कच्चा माल उपलब्ध कराते है। हमारी सभी व्यापारिक गतिविधियां प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रुप में उन पर निर्भर करती है। वे प्राकृतिक सौन्दर्य को बनाये रखते है और जैवमण्डल के विभिन्न जीवों के साथ संतुलन को बनाये रखने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते है। अत: प्राकृतिक संसाधनों का प्रयोग उचित ढ़ग से किया जाना चाहिए ताकि वे समाप्त न हो और वो हमारी भावी पीढ़ी के लिए बने रहे।

1. वनस्पति:- वनस्पति हमारे प्राकृतिक संसाधनों के आधार का मेरुदण्ड है। जीव-जन्तु अपने जीवन के लिए पूर्णरुपेण वनस्पति जगत पर आश्रित है। जीव-जन्तु का जीवन पौधों द्वारा दी गई शक्ति अथवा भोजन पर ही निर्भर करता है। पौधे प्राकृतिक सौन्दर्य में वृद्धि करते है। पौधे, मनुष्य को भोजन, फल, फूल व अनेक प्रकार की जडी बूटियाँ प्रदान करते है। प्राकृतिक वनस्पति के आवरण में वन, घास, भूमियाँ तथा झाडियाँ सम्मिलित है। भारत में चार प्रकार के वनस्पति पाई जाती है।

i. उष्ण कटिबंधीय वर्षा वन
ii. उष्ण कटिबंधीय पर्णपाती वन
iii. कटीले वन व झाडियाँ
iv. ज्वारीय वन

प.जवाहर लाल नेहरु ने कहा है कि *"एक उगता हुआ वृक्ष राष्ट्र की प्रगति का जीवित प्रतीक है"*

जे. एस. कालिंस ने कहा है कि *"वृक्ष पर्वतों को थामे रखते है, तूफानी वर्षा को दबाते है तथा नदियों को अनुशासन में रखते है, वे झरनों को बनाए रखते है तथा पक्षियों का पोषण भी करते है"*

यदि मनुष्य ने अपने उपयोगों के लियें वृक्षों को काटना जारी रखा तो वर्षा में कमी आ जायेगी और भूमि बंजर हो जायेगी। इसके साथ-साथ पशु जगत जगत एवं वनस्पति जगत की बहुत सी नसलें भी सदा के लिए समाप्त हो जायेगी, जो आने वाली पीढ़ी के लिए अन्याय है। और केवल ये ही नही इससे वातावरण भी प्रदूषित होता है जिससे मानव अस्तित्व तक को खतरा हो सकता है।

इंदिरा गाँधी ने कहा है कि *"पेड़ मनुष्य के लगभग सबसे अधिक विश्वस्त मित्र है और जो देश अपने देश के भविष्य को सँवारना और सुधारना चाहता है, उसे चाहिए कि वह अपने वनों का अच्छी तरह ध्यान रखे।"*

पुनीता सेठी ने कहा है कि *"वन तथा वनों में रहने वाले जीव जंतु मानव के अभिन्न मित्र है क्योकि ये पर्यावरण के संतुलन को बनाये रखते है किंतु मानव उन्हे नष्ट कर पर्यावरण के संतुलन को बिगाड़ने पर तुला है।"*

2. **जीव-जन्तु:-** जितनी विविधता वनस्पति में है, उतनी ही विविधता हमारे देश के जीव-जंतुओं में भी है। हिमालय क्षेत्र में जंगली भेड़, पहाड़ी बकरी, बर्फीला चीता, जंगली बकरा, छछुन्दर, गैड़ा आदि भी मिलते है। भारत में अनेक किस्मों के बन्दर भी पाये जाते है।

भारत का पक्षी वर्ग भी बहूमूल्य तथा अनूठा है। भारत में पाये जाने वाले पक्षियों में मोर, बत्तख, कलहंस, तीतर, कबूतर, सारस आदि अधिक प्रसिद्ध है। भारत में मछलियों की 1500 किस्में पाई जाती है परन्तु पशु, पक्षियों एवं वन्य प्राणियों के अंधाधुन्ध शिकार से कई जातियाँ लुप्त हो गई है।

भारत में नंदा देवी (उ.ख.) नोक्रक (मेघालय), ग्रेट निकोबार, मन्नार की खाडी (तमिलनाडु), मानस (असम), सुन्दरवन (पश्चिम बंगाल), सिमिलीपाल (उड़ीसा), डिब्रु जैसे जीव आरक्षित क्षेत्र है। इन क्षेत्रों में प्रत्येक पौधे और जीव को संरक्षण दिया जाता है जिससे कि इन प्राकृतिक धरोहर को हमारी भावी पीढ़ियों को ज्यों का त्यों सौपा जा सकेगा।

बसंत लाल ने लिखा है "शेर का बच्चा- मम्मी। आपने उस हिरन को क्यों भाग जाने दिया? शेरनी- बेटे ! हम शेर है, मानव नहीं जो बिना भूख अकारण ही दूसरों की जान ले।"

3. **मृदा (मिट्टी):-** मृदा का निर्माण लाखों वर्ष में हुआ है। मूल शैलों के विखंडित पदार्थों से मिट्टी बनती है प्रकृति की अनेक शक्तियाँ जैसे परिवर्तनशील तापमान, प्रवाहित जल, पवन आदि इसके विकास में सहायता करते है। मिट्टी की परतों में होने वाले रासायनिक तथा जैव परिवर्तन भी इतने ही महत्वपूर्ण है। मिट्टी चार प्रकार की होती है- जलोढ़ मिट्टी, काली मिट्टी, लाल मिट्टी और लेटराइट मिट्टी। मिट्टी की विभिन्नता के कारण भारत की कृषि की उपज में भी विविधता पाई जाती है।

विलकोक्स के अनुसार *"मानव सभ्यता का इतिहास मिट्टी का इतिहास है तथा प्रत्येक व्यक्ति की शिक्षा मिट्टी से ही प्रारम्भ होती है।"*

4. **जल:-** भूमि की ही भांति, जल भी एक महत्वपूर्ण संसाधन है। हमारे देश भारत में जल का एक प्रमुख उपयोग सिंचाई में है। सिंचाई के द्वारा हमने ना केवल कृषि के क्षेत्र में वृद्धि की हैं अपितु इसकी उत्पादकता भी बढाई है। इसके अतिरिक्त औद्योगिक तथा घरेलू उपभोग के लिए विशाल मात्रा में जल की आवश्यकता होती है। भारत की नदियाँ प्राचीन काल से ही यहाँ के आर्थिक तथा मानवीय विकास में महान योगदान करती है। यही कारण है कि हम भारतवासी नदियों को आदर की दृष्टि से देखते है इसीलिए प्राचीन ग्रन्थों मे कहा है-

"गंगे च यमने चैव, गोदावरी, सरस्वति।

नर्मदे, सिन्धु, कावेरी! जलेंऽस्मिन् सन्निधिं कुरु।।"

भारत में भाखड़ा नागल, कोसी, हीराकुंड बाँध, तुंगभद्रा, नागार्जुन सागर, चम्बल जैसी अनेकों जल परियोजनाएँ कार्य कर रही है। नदियाँ, जल संसाधन का सर्वोतम स्त्रोत है परंतु उसे भी मानव जाति ने इतना दूषित कर दिया है कि इस मुहावरे का अर्थ पूरा पलट गया है । "**गंगा तेरा पानी अमृत**।"

यदि जल न हो तो मनुष्य सूर्य की अत्याधिक गर्मी से बच ही नही सकता हैं। उसका सर्वनाश सम्भव हैं।

5. **खनिज**:- सभी प्राकृतिक संसाधन भूतल या उसके ऊपर ही नही पाये जाते। बहुत से संससाधन हमारी पृथ्वी के गर्भ में बहुत गहराई में छिपे हैं। इनमें से कुछ समुंद्र के अध: स्थल के नीचे भी दबे पडे है। देश का औद्योगिक विकास अधिकतर इन्ही खनिज संसाधनों पर आधारित है। भारत लौह संसाधनों में विशेष रूप से सम्पन्न हैं।

भारत में लौह अयस्क और कोयले के भन्डार हैं। भारत बक्साइड और अभ्रक में भी सम्पन्न हैं परन्तु भारत में खनिज तेल और प्रकृति गैस का उत्पादन बहुत कम हैं। कोयला, खनिज तेल, आणिक खनिज ऊर्जा के प्रमुख स्त्रोत है। देश के विकास में खनिज संसाधनो का अपना विशेष महत्व है क्योकि मानव कि प्रगति में इनका बहुत अधिक योगदान रहा हैं। मानव इतिहास का विभाजन भी इसी बात का साक्षी है। पाषाण युग, कॉसा युग, लौह युग आदि इतिहास का विभाजन विभिन्न खनिजों के महत्व को कितना प्रभावशाली सिद्ध करता हैं।

6. **शक्तिः-** शक्ति के संसाधन दो प्रकार के होते है- परम्परागत और गैर-परम्परागत स्रोत्र।

परम्परागत स्रोत्रः- कोयले, तेल तथा प्राकृतिक गैस से उत्पन्न की गई ताप विधुत के स्रोत्र परम्परागत स्रोत्र है। इनका नवीनीकरण नही किया जा सकता है।

गैर-परम्परागत स्रोत्रः- सूर्य, वाय, ज्वार-भाटे, जियो- थर्मिल, बायो गैस, खेत और पशुओं का कुडा करकट, मनुष्य का मलमूत्र आदि उर्जा के अलौकिक स्रोत्र है। ये साधन अक्षय है, इन्हे गैर परम्परागत स्रोत्र कहते है। इनका नवीनीकरण किया जा सकता है। भारत में शक्ति के उन साधनों के संरक्षण की बढ़ती आवश्यकता है जि नाशवान है और जिनका एक बार प्रयोग करनेके बाद दोबारा प्रयोग में नही लाया जा सकता है। कोयला और तेल आदि दोनो ही शक्ति संसाधन है। जिनका संरक्षण कर्ना बड़ा आवश्यक है ताकि भविष्य में इनका प्रयोग काफी लम्बे समय तक किया जा सके। इनके स्थान पर जल से बनी शक्ति का प्रयोग अधिक से अधिक करना चाहिए क्योकि यह स्रोत्र कभी समाप्त होने वाला नही है। जल शक्ति के लिए सरकार ने कई परियोजना शुरु की है जैसे- टिहरी जल शक्ति, नर्मदा घाटी विकास, रिहंद, शरावली, कुंड, सबरिगिरि।

संसाधनों की समस्याओं का निदान केवल कानून बनाकर ही नही हो सकता है। यह समस्या हथियारों और और शक्ति के बल पर भी दूर नही हो सकती है। इसके लिए आवश्यक है कि समाज की मानसिकता को बदला जाए और उन्हे इसकी तरफ जागरुक किया जाये। जब समाज का प्रत्येक सदस्य संसाधनों का न्यूनतम व्यय करने के लिए कृतसंकल्प और कटिबद्ध हो जाएगा तभी इसका निदान सम्भव है।

"अब तक देखी बाढ़, लेकिन देखा नही पहाड
सुना है वहाँ परियाँ रहती थी
कल कल कल नदियाँ बहती थी
झरने करते थे खिलवाड
यह भी सुना है बर्फ पडती थी
पेडों पर मोती जडती थी
सब करते थे उसको लाड
जीव-जंतु थे वहाँ अनोखे
चीते, भालू, हरियल तोते,
करते रहते थे सिंह दहाड
लेकिन देखा नही पहाड

हमें संसाधनों का न्यूनतम व्यय करना चाहियें ताकि हमारी भावीपीढ़ी उपरोक्त पंक्तियों को ना दोहराये है।

19.6 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के उपरांत आप समझ गए होगे कि नीतिशास्त्र, आचारशास्त्र और दर्शनशास्त्र की ही एक शाखा है जो मूल रूप से यह बताने का प्रयास करती है कि क्या सत्य है और उसका यह विश्लेषण सांस्कृतिक भिन्नताओं से अलग होता है। इसी प्रकार पर्यावरणीय नीतिशास्त्र, जन-जागरूकता की उस नींव पर आधारित है जिसमें यह माना जाता है कि मानव प्रकृति का अंग है और मानव और प्रकृति दोनों में ही अन्तनिर्भरता पाई जाती है। संसाधनों की समस्याओं का निदान केवल कानून बनाकर ही नही हो सकता है। यह समस्या हथियारों और और शक्ति के बल पर भी दूर नही हो सकती है। इसके लिए आवश्यक है कि समाज की मानसिकता को बदला जाए और उन्हे इसकी तरफ जागरुक किया जाये। जब समाज का प्रत्येक सदस्य संसाधनों का न्यूनतम व्यय करने के लिए कृतसंकल्प और कटिबद्ध हो जाएगा तभी इसका निदान सम्भव है।

19.7 शब्दावली

- **पर्यावरण-आध्यात्मिकता:-** मानव और पर्यावरण के बीच आध्यात्मिक सम्बन्ध की अभिव्यक्ति।
- **नीतिशास्त्र:-** ज्ञान की शाखा जो नैतिक सिद्धांतों से संबंधित है।

19.8 वस्तुनिष्ठ प्रश्न व उनके उत्तर

1. पर्यावरण-आध्यात्मिकता किस के बीच आध्यात्मिक सम्बन्ध की अभिव्यक्ति है।
   i. मानव और जीव-जन्तु के बीच
   ii. मानव और पर्यावरण के बीच
   iii. पर्यावरण और आध्यात्म के बीच
   iv. धर्म और आध्यात्म के बीच
2. पर्यावरण के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण मे शामिल है।
   i. विकासात्मक
   ii. परिरक्षण
   iii. संरक्षण
   iv. उपरोक्त सभी

प्रश्नों के उत्तर

1 ii. मानव और पर्यावरण के बीच, 2. iv. उपरोक्त सभी

19.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

- Sustainable Economic Development: Resources, Environment, and Institutions (Arsenio Balisacan Ujjayant Chakravorty Majah-Leah Ravago) 2014 Academic Press.
- Toward an Eco-Spirituality, (Leonardo Boff), 2015 Crossroad Publishing Company.
- Introduction to Energy and Climate: Developing a Sustainable Environment, (Julie Kerr) 2017 CRC Press.

19.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- Sustainable Economic Development: Resources, Environment, and Institutions (Arsenio Balisacan Ujjayant Chakravorty Majah-Leah Ravago) 2014 Academic Press.
- Toward an Eco-Spirituality, (Leonardo Boff), 2015 Crossroad Publishing Company.
- Introduction to Energy and Climate: Developing a Sustainable Environment, (Julie Kerr) 2017 CRC Press.

19.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. मानव और पर्यावरण सम्बन्धी अवधारणाओ पर लेख लिखे।
2. पर्यावरण के विभिन्न दृष्टिकोणों को समझाए।

इकाई 20 सामाजिक आयाम एवं पर्यावरण नीतियाँ
Social Dimensions and Environmental Policies

इकाई संरचना

20.1 प्रस्तावना
20.2 उद्देश्य
20.3 सामाजिक आयाम के अर्थ तथा तात्पर्य एवं पर्यावरणीय मूल्य
20.4 सामाजिक आयामों का पर्यावरणीय नीतियों हेतु महत्व
20.5 अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण समझौतों तथा अमिसभयक एवं सामाजिक आयाम
20.6 सैद्धान्तिक अवधारणायें, सामाजिक आयाम तथा पर्यावरण नीतियाँ
20.7 भारत में पर्यावरण नीतियाँ एवं सामाजिक आयामों में अन्तर सम्बन्ध
20.8 आर्थिक विकास एवं सामाजिक आयाम व पर्यावरणीय नीतियाँ
20.9 सामाजिक आयाम एवं पर्यावरण नीति के निहितार्थ व मूल्यांकन
20.10 सारांश
20.11 शब्दावली
20.12 अभ्यास प्रश्न
20.13 निबंधात्मक प्रश्न
20.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूत्र

20.1 प्रस्तावना

आधुनिक आर्थिक संवृद्धि के परिणाम स्वरूप प्राकृतिक संसाधनों का तीव्र विदोहन आरम्भ हुआ। अतः पर्यावरणीय परिवेश के अनुकूल आर्थिक संवृद्धि की अवधारणा की स्थापना हेतु राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर पर्यावरण नीतियों, कानून तथा संधियों का निर्माण किया गया है। जिनका सामंजस्य आर्थिक संवृद्धि एवं राजनैतिक अर्थव्यवस्था सापेक्ष किया गया है। जिसका व्यापक अध्ययन पूर्व की इकाई में किया जा चुका है।

पर्यावरण अवनयन से लेकर पर्यावरण संरक्षण एवं प्रबन्धन के अनेक आयाम हैं। इनमें आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, एवं राजनैतिक आयाम प्रमुख है। इन समस्त आयामों का विश्लेषण पर्यावरणीय दृष्टिकोण से आवश्यक है। अतः पर्यावरणीय नीतियों में उपरोक्त सभी आयामों के सरोकारो का समावेश करने का प्रयास किया गया है।

उपरोक्त सभी आयामो के सन्दर्भ में सामाजिक आयामों का पर्यावरण के परिपेक्ष्य में विश्लेषण बड़ा ही महत्वपूर्ण है क्योंकि सामाजिक संरचना, मूल्यों एवं दृष्टिकोणों का प्रभाव पर्यावरण पर व्यापक रूप से पड़ता है। अतः पर्यावरण नीति में सामाजिक आयामों का समावेश व सामंजस्य अति आवश्यक है। वर्तमान इकाई में पर्यावरण नीति एवं सामाजिक आयामों का व्यापक अध्ययन किया जायेगा।

20.2 उद्देश्य

वर्तमान इकाई के अध्ययन के निम्न उद्देश्य हैं –

- सामाजिक आयाम के अर्थ एवं तात्पर्य क्या है ?
- सामाजिक आयाम किस प्रकार पर्यावरण को प्रभावित करते है ?
- पर्यावरण नीतियों में किस प्रकार से सामाजिक आयामो का समावेश किया गया है ?
- सामाजिक आयामो में परिवर्तन तथा पर्यावरण नीति में क्या सम्बंध है ?
- पर्यावरण संरक्षण में सामाजिक भागीदारी का क्या योगदान है ?
- पर्यावरण मूल्यों तथा सामाजिक मूल्यों में परस्पर सम्बंध किस प्रकार के है ?
- पर्यावरण का समाजशास्त्रीय एवं सामाजिक आयाम के दृष्टिकोण से अध्ययन की क्या आवश्यकता है ?
- सामाजिक पर्यावरणीय आन्दोलनो, सिविल सोसाईटी, मीडिया, औद्योगिक क्षेत्र, गैर सरकारी समूह आदि की पर्यावरण नीतियों तथा सामाजिक आयामों के सन्दर्भ में क्या भूमिका है ?

20.3 सामाजिक आयाम के अर्थ तथा तात्पर्य पर्यावरणीय मूल्य

सामाजिक आयाम के अन्तर्गत किसी समाज के सामाजिक, सांस्कृतिक मूल्य प्रतिमान, आदतें, जीवनशैली, संरचनायें, दृष्टिकोण, अनुशस्तियाँ, आस्थायें, परम्परायें आदि सभी का समावेश किया जाता है। सामाजिक आयाम के अन्तर्गत समाज के आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा आध्यात्मिक आयामो को समाहित किया जाता है। सामाजिक आयाम एक ऐसी अवधारणा है जो कि आर्थिक सांस्कृतिक एवं राजनैतिक परिवर्तन के द्वारा प्रभावित होती आयी है तथा प्रत्युत्तर में उपरोक्त सभी को भी प्रभावित करती है।

सामाजिक आयाम समाज को स्वरूप, गतिशीलता, संरचना एवं मूल्य प्रदान करते है। सामाजिक आयामो के माध्यम से ही एक समाज दूसरे समाज में अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है। परम्परागत वनों में रहने वाले वनवासी एवं महानगरों की अभिजात्य कालोनियों में रहने वाले समाजों के सामाजिक आयामों में व्यापक अन्तर परिलक्षित किया जा सकता है।

संक्षेप में सामाजिक आयामों को दो निम्न प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक घटकों में विभाजित किया जा सकता है। प्राकृतिक घटकों में प्राकृतिक पर्यावरणीय कारको का समावेश किया जाता है। जबकि सांस्कृतिक घटकों में अभौतिक तथा अभौतिक संस्कृति को सम्मलित किया जाता है। सामाजिक आयामो निम्न घटकों पर निर्भर करते हैं –

20.3.1 प्राकृतिक घटक – प्राकृतिक घटकों में वह सभी कारक समाहित होते है कि प्रकृति प्रदत्त कारकों द्वारा किसी समाज के आयाम निर्धारित करते है। इनमें भौगोलिक पर्यावरणीय तथा जैविकीय विशेषतायें प्रमुख है जोकि निम्नतया हैं –

- **भौगोलिक एवं पर्यावरणीय विशेषतायें** – प्रत्येक समाज एक विशेष किस्म के भौतिक पर्यावरण में लंबे समय तक निवास करने के कारण कुछ विशेषताओं को सृजित करता है। यह विशेषतायें उस परिवेश की भूमि, जंगल, जलवायु, जल स्रोत, नदियों, पर्वतों, जीव जन्तुओं तथा खनिज संपदा पर निर्भर करती है। उदाहरण के तौर पर पंजाबी समाज, नेपाली समाज, बंगाली समाज, कोकंणी समाज आदि के खान पान रहन सहन एवं सांस्कृतिक मूल्य उनकी विशिष्ट भौगोलिक

परिस्थितियों एवं पर्यावरणीय परिवेश में रहने के कारण विकसित हुये हैं। जिनसे सामाजिक आयाम प्रभावित होते हैं।

- **जैविकीय विशेषतायें** – मानव समाज की प्रजाति, नस्ल, जनसंख्या, लिंग भेद, रूपरंग आदि जैविकीय विशेषताओं के कारण विभिन्न प्रजातियों के लोगों की शारीरिक विशेषतायें भिन्न–भिन्न होती हैं। जिनसे उनके सामाजिक व्यवहारों में अतंर उत्पन्न होता है। जैसे नीग्रो, यूरोपियन, मंगोलियाई, मसाई, पिग्मी आदि की सामाजिक मूल्यों में अन्तर समाज की जैविकीय विशेषताओं के फलस्वरूप उत्पन्न हुये हैं जिनसे सामाजिक आयाम प्रभावित होते हैं।

20.3.2 सांस्कृतिक विशेषतायें – किसी समाज की सांस्कृतिक विशेषताओं में वो सभी परम्परायें, विचार, रहन–सहन, खान–पान, तकनीक, कला–कौशल, भाषा–साहित्य, विज्ञान–दर्शन, आस्था–विश्वास आदि सभी भौतिक–अभौतिक मूल्य समाहित होते हैं। सांस्कृतिक मूल्य ही किसी समाज की सभ्यता का निर्माण करते हैं। भारत भूमि पर सिन्धु घाटी सभ्यता, वैदिक सभ्यता से लेकर आधुनिक सभ्यता तक के सम्पूर्ण काल में हर युग के समाज की अपनी ही कुछ विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान रही है। किसी समाज के आयामों की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान आध्यात्मिक, धार्मिक एवं दार्शनिक मूल्यों का होता है। हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, सिख, बौद्ध आदि धर्मों के मानने वालो के सामाजिक आयाम इनके धार्मिक मूल्य से प्रभावित होते हैं। आध्यात्मिक तथा दार्शिनिक मूल्य भी सामाजिक आयामो को प्रभावित करते हैं। भारतीय संस्कृतिक के दार्शनिक मूल्य तथा पश्चिमी सांस्कृतिक के दार्शनिक मूल्यों में अन्तर रहा है। जहाँ भारतीय संस्कृति में जीव जन्तुओं, पेड़–पौधो के प्रति दया, प्रेम, अहिंसा की भावना रची बसी हैं। स्पष्ट है कि दर्शन तथा आध्यात्मिक मूल्यो से सामाजिक आयाम प्रभावित होते हैं।

20.3.3 आर्थिक क्रियायें एवं संरचना – कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित आर्थिक निश्चयवाद के अनुसार, किसी समाज एवं देश की सामाजिक सांस्कृतिक संरचना में निरन्तर परिवर्तन हेतु आर्थिक हित प्रमुख कारक होता है । उत्पादन, वितरण तथा उपभोग हेतु संसाधनो पर नियन्त्रण आदि से प्रक्रियाओ से किसी देश का अर्थतंत्र प्रभावित होता हैं। जिसके परिणाम स्वरूप आर्थिक सामाजिक परिवर्तन आते है। उदाहरण के तौर पर वर्तमान वैश्वीकरण के दौर में बाजारवादी, भौतिकतावादी, उपभोक्तावादी मूल्य तथा संस्कृति का प्रसार हो रहा है। जिससे सामाजिक आयाम प्रभावित हो रहे हैं ।

20.3.4 विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी – सामाजिक आयामों में परिवर्तन की दिशा में विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी का बड़ा योगदान है। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी ने जहाँ एक ओर औद्योगीकरण, आधुनिकीकरण तथा भौतिक प्रगति का आधार है वहीं दूसरी ओर विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी ने समाज को तर्क एवं विवेक से परिपूर्ण बनाकर वैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रदान कर अंधविश्वासों को दूर किया है। विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी ने अनुसंधान एवं विकास, इण्टरनेट, मीडिया आदि के प्रचार प्रसार में योगदान कर समाज को जागरूक तथा संवेदनशील बनाया है। कुल मिला कर विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के फलस्वरूप सामाजिक आयामों जैसे आस्था, विश्वास, मूल्यों, दृष्टिकोण आदि में परिवर्तन हुआ है जिससे सकरात्मक एवं नकरात्मक परिणाम समाज एवं पर्यावरण के ऊपर पड़ रहे हैं।

20.3.5 शिक्षा – शिक्षा सामाजिक आयामों में परिवर्तन का सबसे सशक्त आधार रहा है। कोई भी समाज अपनी आवश्यकताओं एवं आकाक्षांओ की पूर्ति शिक्षा द्वारा ही करता है। शिक्षा निरन्तर एक गतिशील प्रक्रिया है जो कि निरतंर जारी रह कर समाज की संरचना, व्यवहार, प्रतिमानो, कार्यविधियों, मान्यताओ, आर्दशों आदि में परिवर्तन कर सामाजिक आयामो को दिशा प्रदान कर प्राकृतिक आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवेष के सापेक्ष सामाजिक अनुकूलन का कार्य करती है ।

20.3.6 शासन एवं राज्य तंत्र – राज्य तथा शासन व्यवस्था द्वारा हमेशा से ही सामाजिक व्यवस्था एवं आयामों का निर्धारित करने का प्रयास किया जाता रहा है। राज्य द्वारा भी समय–समय पर आर्थिक, सामाजिक, वैधानिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में उठाये गये महत्वपूर्ण कदमों से अनेकों सामाजिक परिवर्तन की नींव पड़ी है। जैसे बाल विवाह, छूआछूत, सती प्रथा आदि क्षेत्रों में कानून बनाकर सामाजिक कुरीतियों का अंत हुआ है एवं समाज में आधुनिक तथा लोकतात्रिक दृष्टिकोण का विकास हुआ है।

20.3.7 जनसंख्या वृद्धि एवं सामाजिक आयाम – जनसंख्या का स्वरूप, प्रकृति एवं वितरण सम्बन्धी विशेषतायें हमेशा से ही सामाजिक आयामों को निर्देशित करती आयी हैं। जिसका प्रभाव मानव पर्यावरण सम्बन्धों पर परिलक्षित होता आया है। जनसंख्या वृद्धि से विकास सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति का दबाव प्राकृतिक संसाधनों पर गहराता जाता है एवं निर्धनता, बेरोजगारी, प्रदूषण आदि संकट गहराते जाते है। माल्थस द्वारा अपने जनसंख्या के सिद्धान्तों में यह स्पष्ट किया गया था कि जहाँ जनसंख्या की वृद्धि गुणोत्तर क्रम में होती है तथा खाधन्न आपूर्ति में वृद्धि समान्तर क्रम में होती है। माल्थस द्वारा अपने सिद्धान्तों में यह भविष्यवाणी की गयी थी कि यदि जनसंख्या इसी क्रम में बढ़ती रही तो प्राकृतिक शक्तियाँ, दैवीय आपादाओं जैसे अकाल, भुखमरी एवं महामारी आदि के रूपों में सक्रिय होकर जनसंख्या में नियन्त्रण लगायेगी। वर्तमान समय में जनसंख्या प्रस्फोट की समस्याओं ने समाज में

असंतोष, तनाव एवं द्वन्द्व की स्थिति को न सिर्फ बढाया है अपितु पर्यावरण अवनयन की समस्या को भी संकट के स्तर तक ला दिया है।

20.4 सामाजिक आयामों का पर्यावरणीय नीतियों हेतु महत्व

पर्यावरणीय नीतियों में व्यापक तथा विविध उद्देश्यों, सिद्धान्तों तथा रणनीतियों का समावेश किया जाता है। पर्यावरण नीतियों के प्रभावी क्रियान्वयन हेतु आर्थिक सामजिक एवं राजनैतिक आयामों को आत्मसात् करना आवश्यक हो जाता है। पर्यावरण नीति में सामाजिक आयामों का महत्व एवं आवश्यकता हेतु पर्यावरण का विभिन्न सामाजिक आयामों के सन्दर्भ में यह अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है कि किस प्रकार सामाजिक मूल्य, प्रतिमान, व्यवहार, अनुशस्तियॉ, जीवनशैली, आदर्श, वर्ग, समूह संरचना आदि किस प्रकार से पर्यावरण की विभिन्न अवधारणाओं को प्रभावित करते है। पर्यावरण के प्रति सामाजिक आयामों के सन्दर्भ में दृष्टिकोण समय, देश, काल, परिस्थितियाँ पर निर्भर होता आया है।

भारतीय संस्कृति मानव पर्यावरण के सामाजिक आयामों का सबसे पहले तथा सबसे व्यापक रूप से परिलक्षित हुये है। सिंधु घाटी सभ्यता के समय से ही भारत में प्रकृति के प्रति प्रेम हमेशा से पायी जाती रही है। उदाहरण के तौर पर बिश्नोई समाज के लोग अपने इस प्रकृति प्रेम के लिये विश्व विख्यात है। उन्होने जीव, वनस्पति, जल आदि के प्रति प्रेमपूर्ण व्यवहार हेतु 29 सूत्री अचार संहिता बनायी तथा जिनका पालन करने वाले बिश्नोई समाज से जाने जाते है। उनके इस प्रकृति प्रेम की मिसाल सन् 1787 में जौधपुर राज्य में परिलक्षित हुयी जबकि बिश्नोई समाज द्वारा खेजड़ी के वृक्षों के कटाने की राजाज्ञा के विरूद्ध एक महाआन्दोलन किया जिसमें वृक्षों की रक्षा की खातिर बिश्नोई समाज अमृता देवी के नेतृत्व में खेजड़ी के वृक्षों से चिपक गये तथा इस आन्दोलन में 363 लोगों को अपनी जान न्योक्षावर करनी पड़ी। सामाजिक चेतना द्वारा पर्यावरण संरक्षण की मुहिम भारत में औपनिवेशिक काल तथा स्वतंत्रता के पश्चात भी जारी रही। वृक्षों कटान के खिलाफ उत्तराखण्ड के चमोली जिले में रैणी गॉव सन 1974 में वृक्षों से चिपक कर महिलाओ ने गौरी देवी के नेतृत्व में जो हुंकार भरी वह चिपको आन्दोलन के रूप में समस्त विश्व में गुंजायमान हो गयी।

चिपको आन्दोलन ने भारत की ही नहीं समस्त विश्व में पर्यावरणीय सामाजिक आन्दोलन के लिये एक आधार तैयार किया। इसके पश्चात भारत में एप्पिको, जंगल बचाओ, अरावली बचाओ आदि आन्दोलन हुये। यह आन्दोलन प्रकृति प्रेम के साथ–साथ गॉधीवादी मूल्यों जैसे अहिंसा, सत्याग्रह, स्वालंबन पर आधारित रहें। कुल मिलाकर पर्यावरण संवेदना तथा सामाजिक जन जागरूकता के विकास में प्रकृति के प्रति भारतीय सामाजिक सांस्कृतिक मूल्यों का बड़ा योगदान रहा है।

आम तौर पर यह प्रचलित अवधारणा थी कि सामाजिक आर्थिक विकास की प्रक्रिया में आर्थिक सामाजिक असमानताओं के साथ पर्यावरण का अवनयन तीव्र गति से होता है। परन्तु एक समय के पश्चात जबकि विकास का निश्चित स्तर की प्राप्ति के बाद आर्थिक असमानतायें एवं पर्यावरणीय दशाओं में सुधार आरम्भ हो जाता है। अतः भारत में भी पर्यावरण से सम्बन्धित नीतियों मे पर्यावरण के आर्थिक सामाजिक आयामों को समुचित महत्व शुरूआती नियोजन काल में नहीं दिया गया था। परन्तु वर्तमान समय में पर्यावरण संरक्षण आर्थिक विकास की प्रक्रिया में तथा पर्यावरणीय नीतियो के अन्तर्गत पर्यावरणीय अवनयन की चुनौतियॉ, कारण तथा परिणाम को निम्न सामाजिक आयामों के सन्दर्भ में विश्लेषित किया गया हैं –

- पर्यावरणीय अवनयन विशेषकर निर्धनता का कारण तथा परिणाम भी है। प्रर्यावरणीय परिप्रणालियों की क्षमता के नुकसान से निर्धन वर्ग के लोग अधिक प्रभावित होते हैं क्योंकि इससे प्राकृतिक संसाधनो पर आधारित आजीविका का आधार प्रभावित होता है। इसके कारण मृदा की उपजाऊ शक्ति, कृषि तथा खाद्य सुरक्षा, स्वच्छ जल की उपलब्धता एवं मात्रा वनों की गुणवता व उत्पादकता एवं मत्स्य पालन आदि प्रभावित होता है।
- आधुनिक प्रगति में जहॉ एक ओर भौतिकतावादी मूल्यों तथा उपभोक्तावाद को प्रोत्साहित किया है। वहीं दूसरी ओर आर्थिक सामाजिक असमानताओं को भी गहरा दिया है। उपरोक्त दोनों परिस्थितियॉ तथा असमानकारी विकास के दृष्टिकोण दोनों ही पर्यावरण अवनयन हेतु जिम्मेदार है। जहॉ सम्पन्न तथा अभिजात्य समाज अपने वैभवशाली तथा विलासिता पूर्ण जीवन शैली निरतंर संवृद्धि करने हेतु संसाधनों के अत्याधिक दोहन कर पर्यावरण का अवनयन कर रहा है वहीं निर्धन समाज अपने पिछड़ेपन, अज्ञानता, सुविधाओं के आभाव तथा आजीविका की सुरक्षा हेतु प्राकृतिक संसाधनों का कुदोहन कर रहा है।
- ग्रामीण महिलाओं पर पर्यावरणीय अवनयन का अत्याधिक नकारात्मक प्रभाव पड़ता है क्योंकि महिलायें पर्यावरणीय संसाधनों को एकत्र करने एवं उपयोग के लिये सीधे उत्तरदायी हैं लेकिन इनके प्रबन्धन में महिलाओं की भूमिका नगण्य होती है। ग्रामीण महिलाओं द्वारा प्राकृतिक संसाधन जैसे लकड़ी, जल, चारा आदि एकत्रित करने में लगे अधिक समय तथा श्रम के कारण वह अपने

बच्चों के पालन पोषण, शिक्षा स्वास्थ्य, उत्पादकता एवं लाभकारी आजीविका में हिस्सेदारी की क्षमतायें प्रभावित होती है तथा लैगिंक असमानताओं में वृद्धि होती है।

- निर्धनता एवं विकास की असमानतायें तथा पर्यावरणीय अवनयन परस्पर एक दूसरे पर बल प्रदान करते है। जनसंख्या वृद्धि की प्रक्रिया उक्त चुनौतियों को और अधिक गम्भीर बनाते है। सामाजिक आर्थिक आयामों का उल्लेख राष्ट्रीय जनसंख्या नीति, 2000 में स्पष्ट रूप से किया गया है। जिसमें जनसंख्या स्थिरीकरण को सतत् विकास हेतु अनिवार्य शर्त के रूप में स्वीकार किया है।
- पर्यावरण प्रदूषण जनित अवनयन पर्यावरण के प्रयोग सम्बन्धी अधिकारों के प्रवर्तन में पारदर्शिता की कमी, बाजार एवं संस्थागत असफलतायें, राजस्व तथा लाभ को अधिकतम करने की होड़ में पर्यावरण संरक्षण को हतोत्साहित करने वाली नीतियों, पर्यावरण के प्रति सामुदायिक उत्तरदायित्व एवं बाजार तथा निजी ताकतों के हावी होने से पर्यावरण अवनयन होता है। इस अवनयन की हानि तीसरे पक्ष एवं समाज को उठानी होती है तथा इस क्षति के लिये उत्तरदायी व्यक्तियों को कोई कीमत नहीं चुकानी होती है। अतः पर्यावरणीय अवनयन के रूप में जो समाज को क्षति उठानी पड़ रही है उसका उत्तरदायित्व सुनिश्चित करने पर जोर पर्यावरण नीति में प्रावधान किये जाने की आवश्यकता है।
- पर्यावरणीय संसाधनो के दोहन एवं प्रबन्धन सामुदायिक एवं वैयक्तिक अधिकार ऐसी संस्थायें है जोकि मानव पर्यावरण सम्बन्धों को निर्देशित करते है। निजीकरण तथा बाजार की ताकतों के प्रभावी होने से वैयक्तिक अधिकार के सामुदायिक अधिकारो की तुलना में अधिक सुदृढ होने से पर्यावरणीय एवं सामुदायिक संसाधनो पर दबाव बढ़ रहा है।
- आर्थिक विकास की प्रक्रिया को दीर्घकालिक बनाने हेतु पर्यावरण नीतियों में समता, न्याय तथा विकास के अधिकारों का समावेश आवश्यक है। पर्यावरण नीतियों को क्रियान्वित करने की प्रक्रिया में समाज के कमजोर वर्ग एवं निर्धन वर्ग की आजीविका तथा जीवनयापन के संसाधन की सुरक्षा आवश्यक है। अतः पर्यावरण नीति में उपरोक्त सभी सामाजिक आयामों का समावेश संविकास के दृष्टि कोण से आवश्यक हो जाता है।
- पर्यावरणीय आन्दोलनों ने पर्यावरण संरक्षणएवं विकास की प्रक्रिया में सामाजिक आयामों के समावेश पर जोर दिया। इन आन्दोलनों ने परम्परागत सामाजिक पर्यावरणीय मूल्यों के साथ–साथ नवीन सामाजिक अवधारणायें जैसे पर्यावरणीय लोकतंत्र एवं नारी पर्यावरण वाद आदि का स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।
- पश्चिमी देशों में पर्यावरण वाद तथा ग्रीन पॉलिटिक्स ने सामाजिक आयामों का लोकप्रिय जनमत की राजनीति में सामंजस्य किया तथा नीति निर्माताओं को उक्त दिशा में अनुकूल नीति निर्माण हेतु प्रेरित किया।

अतः पर्यावरण के समक्ष आज चुनौतियॉ बहुआयामी रूपों में सामने आ रही है जिसके कारण समाज को प्रभावित करने वाले विभिन्न आयाम जैसे विकास, आजीविका की सुरक्षा, लैगिंक असमानता, निर्धनता, स्वास्थ्य, पोषण तथा आर्थिक क्षमताओं पर विपरीत प्रभाव पड़ रहा है। इसलियें पर्यावरण संरक्षण हेतु पर्यावरणीय नीतियों में सामाजिक आयामों के समावेश की आवश्यकता पर अधिक बल दिया जा रहा है।

20.5 अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण समझौतों तथा अभिसम्यक एवं सामाजिक आयाम

1970 के दशक के आरम्भ से ही मानव पर्यावरण सम्बन्धों का आर्थिक सामाजिक परिपेक्ष में मूल्यांकन वैश्विक स्तर पर आरम्भ हो गया। इस वैश्विक मुहिम में विकास की अवधारणा को भी पर्यावरण तथा सामाजिक परिपेक्ष्य में पुनः परिभाषित किया गया। मानव पर्यावरण एवं विकास पर प्रथम बार वैश्विक स्तर पर प्रयास स्टाक होम सम्मेलन में 1972 में किया गया। इस सम्मेलन के घोषणा पत्र में यह स्वीकार किया गया कि गुणवता पर्यावरण एक बुनियादी मानव अधिकार के समान है जो की जीवन जीने के अधिकार के समान है एवं यह सभी सरकारों का कर्तव्य है कि पर्यावरण संरक्षण हेतु यह नीतियाँ, कार्यक्रम एवं रणनीति सामाजिक एवं आर्थिक आयामों के अनुरूप बनाने का प्रयास करें। भारतीय संसद ने भी इस दायित्व को समझते हुये संविधान में संशोधन करते हुये अनुच्छेद 48 ए, का समावेश करते हुये पर्यावरण के संरक्षण को राज्य के नीति निर्देशक तत्वों के अन्तर्गत स्थापित किया गया। संयुक्त राष्ट्र संघ के कोकोयोक (मेक्सिको) उद्घोषणा 1974 में यह स्वीकार किया गया है कि "विकास का उद्देश्य वस्तुओं की मात्रात्मक वृद्धि नहीं प्रत्युत मनुष्य का विकास होना चाहिये।" तत्पश्चात "मानव केन्द्रित विकास" एवं "टिकाऊ विकास" की अवधारणायें लोकप्रिय होने लगी यानि विकास को परिस्थितिकी तंत्र की वहन क्षमताओं एवं सामाजिक क्षमता के अनुसार परिभाषित किया जाना शुरू हो गया। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर निम्न महत्वपूर्ण प्रयास पर्यावरण नीतियो के सामाजिक आयामों के संदर्भ में किये गये हैं –

- अवर कामन फ्यूचर नामक रिर्पोट के माध्यम् से बर्टलैण्ड कमीशन द्वारा संविकास की अवधारणा में समता तथा न्याय के आयाम को सम्मिलित किया गया है।
- संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा जनसमुदाय के विकास के अधिकारों को तीसरी पीढ़ी के अधिकारों के अर्न्तगत मानव अधिकार के रूप में मान्यता प्रदान की है।
- जैव विविधता संबन्धी अन्तर्राष्ट्रीय संधि में जनसमुदायो के परम्परागत ज्ञान को संरक्षण प्रदान करते हुये जननिक संसाधनों के उपयोग से प्राप्त लाभ में सभी विकसित एवं विकासशील देशों की समुचित तथा बराबर की भागीदारी सुनिश्चित हो सके।
- पृथ्वी सम्मेलन में 21 वीं सदी में पर्यावरण संरक्षण हेतु एक व्यापक कार्यक्रम का निर्माण किया गया जिसे एजेण्डा 21 के नाम से जाना जाता है। इस ऐजेण्डा पर्यावरण संरक्षण के साथ निर्धनता उन्मूलन, टिकाऊ कृषि ग्रामीण विकास एवं सहायता कोष की स्थापना आदि कार्यक्रमों को विशेषकर अल्पविकसित देशों के अनुरूप निर्मित किया गया था। विकसित देशों द्वारा यह समझौता किया गया था कि उपरोक्त एजेण्डा के क्रियान्वयन हेतु वह अल्पविकसित देशों को सहायता प्रदान करेंगे।
- विकासशील तथा अल्प विकसित देशों की सामाजिक आर्थिक विकास की आवश्यकता को देखते हुये जलवायु परिवर्तन पर हुये क्योटो प्रोटोकॉल में किसी किस्म हरित गैसों के उत्सर्जन में बाध्यता नहीं थोपी गयी एवं उनके विकास के अधिकार को अधिक प्राथमिकता प्रदान की गयी है। क्योटो प्रोटोकॉल के अनुपालन तथा स्वच्छ विकास व्यवस्था को लागू करने के एवज में विकसित देश विकासशील तथा अल्प विकसित देशों को सहायता प्रदान करेंगे।
- पृथ्वी सम्मेलन में मानव को समस्त विकास का केन्द्र माना गया तथा जनसमुदाय के विकास के अधिकार एवं पर्यावरणीय आवश्यकताओं के अनुरूप वर्तमान एवं भावी पीढ़ी की समता के आधार पर सुनिश्चित करने पर जोर दिया गया तथा यह स्वीकार किया गया कि संविकास हेतु निर्धनता निवारण सबसे मुख्य लक्ष्य है। सामाजिक आर्थिक समता को वरीयता तथा आजीविका की सुरक्षा पर्यावरण संरक्षण कार्यक्रम के क्रियान्वयन में सुनिश्चित किया जाना चाहियें एवं पर्यावरण नीतियों को क्रियान्वित करने की प्रक्रिया में स्थानीय समुदाय जैसे आदिवासियो की संस्कृति, पहचान एवं हितों और तथा आजीविका की सुरक्षा की जायेगी तथा उनकी भागीदारी पर्यावरण प्रबंधन में सुनिश्चित की जायेगी।
- सयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 21 वीं शताब्दी विश्व के सभी देशों के सभी नागरिको हेतु सामाजिक आर्थिक विकास हेतु सहत्राब्दी विकास लक्ष्य के पर्यावरण सुरक्षा के अनुकूल प्रावधानित किये है। इसके अर्न्तगत गरीबी निवारण, स्वच्छ पेय जल, बुनियादी स्वास्थ्य तथा पर्यावरण सुरक्षा के दृष्किोण से लक्ष्यों की रचना की गयी है तथा सदस्य देशों से यह आवाहन किया गया है कि वह इस दिशा में विकास नीतियों की रचना करें।

राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सिविल सोसाईटी, मीडिया और गैर सरकारी संगठनो द्वारा पर्यावरण प्रदूषण, प्राकृतिक संसाधनों के अतिदोहन के खतरों के प्रति तथा वैकल्पिक एवं पर्यावरण अनुकूल विकास की आवश्यकता हेतु जनमानस को जागरूक बनाकर वैश्विक जनमत को पर्यावरण संरक्षण के प्रति संवेदनशील बनाया है। वास्तव में उपरोक्त द्वारा जनमानस को पर्यावरण के प्रति जागरूक बनाने के साथ–साथ सरकारों एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को पर्यावरण नीतियों में सामाजिक आयामों के समावेश करने हेतु प्रेरित किया है।

पश्चिमी विकसित देशों में मीडिया तथा सिविल सोसाईटी की भूमिका अधिक प्रभावी विशेषकर पर्यावरण के सन्दर्भ में रही है। अमेरिका में सियेरा क्लब द्वारा पर्यावरण अनुकूल प्रगति हेतु यह घोषणा की गयी थी कि "प्रगति का अन्धाधुन्ध विरोध नहीं अपितु अन्धाधुंध प्रगति का विरोध होना चाहियें।" अमेरिका में राचैल कर्सन के "साइलेन्ट स्प्रिंग" के प्रकाशन के पश्चात एवं विशेषकर 1970 में 22 अफ्रैल के दिन प्रकृति की रक्षा हेतु जो प्रयास मीडिया तथा सिविल सोसाईटी द्वारा किये गये जिसके फलस्वरूप अमेरिका में पर्यावरण आन्दोलन की मुहिम आरम्भ हुयी तथा सरकार को पर्यावरण संरक्षण संस्था एवं पर्यावरण हेतु अधिनियमों का गठन करना पड़ा। ग्रीनपीस सोसाईटी, वर्ल्ड वाईड फंड फार नेचर (डब्लू0डब्लू0एफ0), इंटरनेशनल यूनियन फार कर्न्जवेशन आफ नेचर (आई0यू0सी0एन0) आदि प्रमुख संगठन वैश्विक स्तर पर पर्यावरण एवं सामाजिक सरोकारो हेतु सक्रिय है। भारत में भी मीडिया, सिविल सोसाईटी तथा एन0 जी0 ओ0 द्वारा पर्यावरण नीतियों को सामाजिक आयामों के सापेक्ष दिशा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

20.6 सैद्धान्तिक अवधारणायें, सामाजिक आयाम तथा पर्यावरण नीतियाँ

पर्यावरण संरक्षण हेतु पर्यावरण नीतियों का गठन तथा उनका प्रभावी क्रियान्वयन वर्तमान समय में एक अपरिहार्य आवश्यकता बन गयी हैं। पर्यावरण संरक्षण के मुहिम में सबसे व्यापक तथा प्रभावी प्रयास विचारधारा के स्तर पर हुआ है। पर्यावरण पर मानव के स्वामित्व तथा स्वहित हेतु उसके दोहन के आर्थिक निश्चयवादी उपागम एवं येन केन प्रकारेण आय–उत्पादन–उपयोग चक्र में बहुगुणी विस्तार को आर्थिक विकास की मुख्य धारा मानने विचारधाराओं पर भारी कुठारघात किया गया। इस सन्दर्भ में आर्थिक सामाजिक दार्शनिक अवधारणायें का योगदान प्रमुख रहा हैं –

20.6.1 आर्थिक दृष्टिकोण – विकास की प्रक्रिया में सामाजिक आयामों एवं पर्यावरण संरक्षण का समावेश करने के दृष्टिकोण से निम्न अवधारणायें प्रमुख हैं –

- **साझा संसाधन त्रासदी** – गैरट हार्डिन द्वारा प्रस्तुत इस अवधारणा ने यह स्थापित किया कि अधिकतम् लाभ की होड़ से किस प्रकार सामाजिक, सार्वजनिक सम्पदा की हानि होती है तथा पर्यावरण अवनयन होता है।
- **संवृद्धि की सीमायें** – क्लब आफ रोम द्वारा 1972 में प्रकाशित इस अवधारणा के अनुसार यदि मानवीय प्रगति तथा प्राकृतिक संसाधनो का बहुगुणी गति से विदोहन होता रहा तो शीघ्र ही यह धरा संसाधन समापन के संकट से घिर जायेगी तथा समस्त् विश्व में आर्थिक सामाजिक संत्रास, तनाव एवं असंतुलन व्याप्त हो जायेगा तथा आर्थिक प्रगति बाधित होकर ठप्प हो जायेगी।
- **संविकास** – संयुक्त राष्ट्र द्वारा कोकोयोक उद्घोषणा में यह स्पष्ट किया कि अंधाधुन्ध आर्थिक विकास आर्थिक सामाजिक असंतुलन तथा पर्यावरण क्षति बड़ी है। अतः इस उदघोषणा के अनुसार, "विकास का उद्देश्य वस्तुओं की मात्रात्मक वृद्धि नहीं प्रत्युत् मनुष्य का विकास होना चाहिये।वस्तुओं की मात्रात्मक वृद्धि नहीं प्रत्युत् मनुष्य का विकास होना चाहिये।" तत् पश्चात् मानव का केद्रित विकास एवं टिकाऊ विकास के नारे लोकप्रिय होने लगे।
- **बर्टलैण्ड कमीशन** – मानव पर्यावरण एवं विकास पर बने वैश्विक आयोग तथा बर्टलैण्ड कमीशन ने 1987 में संविकास की अवधारणा को स्पष्ट कर उसे सामाजिक आर्थिक समता से जोड़ कर स्थापित किया ।
- **मूलभूत आवश्यकता अवधारणा** – इस अवधारणा का विकास 1970 के दशक के पष्चात् हुआ इस अवधारणा को संयुक्त राष्ट्र संघ ने विशेषकर अल्पविकसित देषों के सन्दर्भ में विकसित किया। इसके अन्तर्गत विकास को आर्थिक तथा सामाजिक बुनियादी आवश्यकताओं जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, पेयजल, आवास, रोजगार आदि से समाहित किया गया है एवं विकास की प्रक्रिया में पर्यावरण सुरक्षा का समावेश किया गया है।
- **मानव विकास** – संयुक्त राष्ट्र संघ विकास कार्यक्रम (यू0एन0डी0पी0) द्वारा 1990 से मानव विकास रिर्पोट से प्रति वर्ष प्रस्तुत करता है। इस रिर्पोट के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र विभिन्न देषों में मानव विकास के तुलनात्मक अध्ययन करने हेतु मानव विकास सूचकांक विकसित किया है।

20.6.2 समाजशास्त्री दृष्टिकोण – 1970 के दशक से समाजशास्त्रीय उपागमों में पर्यावरणीय सराकारो के प्रति रूचि बढ़ने लगी तथा मानवीय एवं सामाजिक आयामों का अध्ययन पर्यावरण के परिपेक्ष्य में किये जाने की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। समाजशास्त्र की इस नवीन उपागम के अनुसार मानव समाज के उदय एवं विकास में पर्यावरण परिस्थितियों एवं पारिस्थितिकी का अत्याधिक महत्व है एवं पर्यावरणीय परिस्थितियॉ न सिर्फ सामाजिक आर्थिक विकास की सीमाओं को निर्धारित करती है एवं स्वंय भी इस प्रक्रिया से प्रभावित होती है। अतः इस उपागम के अनुसार पर्यावरण नीतियों में सामाजिक आयामों का सामजस्य आवश्यक है तभी आर्थिक सामाजिक विकास को टिकाऊ बनाया जा सकता है।

पर्यावरण के अवनयन तथा उसकी गुणवता में सुधार हेतु उदारवादी एवं सुधारवादी उपागम जहॉ एक ओर उत्पादन, विनियम सहित आर्थिक सामाजिक व्यवस्था में सुधार की आवश्यकता को महसूस करते है। वहीं दूसरी ओर अतिवादी समाजशस्त्री या आमूल परिवर्तन वादी पर्यावरण अवनयन का मुख्य कारण पूँजीवादी बाजार आधारित व्यवस्था की संरचना को मुख्य रूप से उत्तरदायी मानते है तथा पर्यावरण सुधार हेतु राजनैतिक साधनों द्वारा आर्थिक सामाजिक व्यवस्था में बृहद सामाजिक आर्थिक संरचनात्मक परिवर्तनों को अनिवार्य मानते हैं। कुल मिलाकर यह संसाधनो के वितरण तथा सामजिक व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन के माध्यमों से अपने लक्ष्यों की प्रप्ति करना चाहते है।

इन समाजशास्त्रीय उपगमों ने पर्यावरणीय आन्दोलनों तथा पर्यावरण वाद को नया आधार प्रदान कर वैश्विक जनमत को पर्यावरण नीतियों का सामाजिक आयामों के परिपेक्ष में महत्व स्थापित किया। इनकी व्यापक झलक हमें भारत समेत अनेक देशों में हुये पर्यावरणीय आंदोलनों में देखने को मिलती है। इन आन्दोलनों नारी पर्यावरण वाद, पारिस्थितिकी समाजवाद आदि विचार धाराओं का प्रस्फुटन हुआ है।

20.6.3 न्यायिक सक्रियता एवं लोकहितवाद – भारत में पर्यावरणीय कानूनों एवं नीतियों के सामाजिक आयामों के परिपेक्ष में व्याख्या का कार्य जन हित में न्यायपालिका द्वारा किया गया है। यह न्याययिक सक्रियता का दौर भारत में 1980 के दशक से प्रारम्भ हुआ जबकि न्याय पालिका द्वारा संवैधानिक अधिकारो का सामाजिक आर्थिक एवं पर्यावरणीय आधारों पर व्यापक व्याख्या की गयी। न्याय पालिका द्वारा विभिन्न वादो में स्वंय भी स्वतः संज्ञान लेते हुये एवं जनहित याचिकाओं के माध्यम से न सिर्फ महत्वपूर्ण निर्णय लिये अपितु पर्यावरण संरक्षण के लिये सरकारो को महत्वपूर्ण दिशा निर्देश भी प्रदान किये। न्याय पालिका द्वारा अनेकों वादो में यह स्थापित किया गया कि स्वच्छ वायु, जल एवं पर्यावरण जीने की बुनियादी आवश्यकता है तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह जीने के अधिकार के अन्तर्गत समाहित है। ऐसा करके न्यायालय द्वारा संविधान के अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत गांरटीकृत जीने की अधिकार की परिभाषा को व्यापक किया।

न्यायालय द्वारा जहॉ एक ओर स्वच्छ पर्यावरण के अधिकार को बुनियादी अधिकार के रूप में मान्यता प्रदान की वहीं दूसरी ओर प्रदूषित औद्योगिक ईकाईयों, चमड़ें के कारखानों, जोखिमपूर्ण एवं हानिकारक तत्वों के उत्पादन एवं व्यापार तथा खनन् जैसे गम्भीर मसलों पर सामाजिक वरीयता प्रदान करते हुये उक्त गतिविधियों को त्वरित रूप से रूकवाया। जिसमें आगरा में चमड़ें कारखानें एवं देहरादून खनन केस प्रमुख हैं। नदी घाटी परियोजनाओं में होने वाले मानव समाज के व्यापक विस्थापन तथा पर्यावरण हानि पर भी सरकार को प्रभावी निर्देश सरकारों को प्रदान किये गये हैं।

पर्यावरण अवनयन से होने वाली पर्यावरणीय एवं सामाजिक क्षति को लोक पर्यावरण कार्यकर्ताओं ने जनहित याचिकाओं के माध्यम से न्यायालय में प्रस्तुत किया गया। भोपाल गैस कांड में जिस प्रकार भारी पैमाने पर पर्यावरणीय एवं सामाजिक क्षति हुयी परन्तु सामान्य उत्तरदायित्व कानून के अन्तर्गत क्षति पूर्ति का प्रावधान लगभग न के ही बराबर था। अतः एम0 सी0 मेहता तथा भारत संघ के वाद एवं यूनियन कार्बाईड तथा श्रीराम गैस रिसाव के वाद में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा यह स्पष्ट किया गया कि खतरनाक तथा हानिकारक क्षेत्रों में कार्यरत उधम् के कारण कोई दुर्घटना होती है तो उधम पूर्ण एवं निरपेक्ष तौर पर क्षतिपूर्ति हेतु कठोर उत्तरदायित्व होगा।

20.6.5 पर्यावरण वाद एवं दार्शनिक दृष्टिकोण – आधुनिक प्रगति के साथ नवीन आधुनिक मूल्यों का प्रचार प्रसार हुआ है। समाज आत्मकेंद्रित एवं सुविधाभोगी दृष्टिकोण पर निरन्तर आधारित होता जा रहा है। येन केन प्रकारेण उच्च विलासिता पूर्ण जीवन शैली को बनाये रखना इस भोग वादी जीवन दर्शन का मुख्य उद्देश्य हो गया है। इस भोगवादी एवं उपभोक्ता वादी जीवन शैली को वैश्वीकरण के दौर में बाजारवादी ताकतों ने और अधिक प्रोत्साहित कर दिया है। जिसके कारण मानव ने प्रकृति को उत्पाद मानकर उसका अतिशोषण कर रहा है। भौतिकवादी जीवन दर्शन की जड़ें उद्देश्य मूलक उपागम द्वारा पोषित होती है। जो कि इस विचारधारा पर आधारित है कि मनुष्य प्रकृति तथा अन्य सभी जीवों से उत्कृष्ट तथा तथा प्रत्येक वस्तु का प्रकृति में सृजन मानव के उपभोग तथा आनन्द हेतु होता है। अतः उपरोक्त दर्शन ने समाज को एक ऐसा आयाम् दिया जिसकी गति विधियों ने पर्यावरण को एक भोग की वस्तु बना दिया। इस सुख वादी दर्शन के कारण पर्यावरण का अतिदोहन एवं शोषण जारी रहा।

यूरोप तथा अमेरिका में इस भोगवादी जीवन शैली के विरूद्ध नयी सामाजिक चेतना का विकास हुआ जिसने पर्यावरण के प्रति संवेदना को जागरूक किया। इस पर्यावरण वाद में पर्यावरण के प्रति गॉधीवादी मूल्य अहिंसा, सर्वोदय के समावेश के साथ–साथ समाजवादी, साम्यवादी विचार धारों का पुट भी पाया जाता है। पर्यावरण वाद में पर्यावरणीय मूल्यों का सबसे आधारभूत स्थान है। जहॉ इस विचार धारा का मुख्य उद्देश्य पर्यावरण संरक्षण होने के अतिरिक्त न्याय, समता, सहभागी लोकतंत्र, नारी सशक्तिकरण एवं मानवधिकार आदि है। पर्यावरण वाद द्वारा सामाजिक आयामों को पर्यावरण संरक्षण की विचारधारा समावेशित किया गया तथा राजनैतिक नेतृत्व को इन महत्वपूर्ण सामाजिक आयामों के अनुरूप पर्यावरण नीतियॉ क्रियान्वित करने हेतु बाध्य करने का प्रयास किया।

20.7 भारत में पर्यावरण नीतियाँ एवं सामाजिक आयामों में अन्तर सम्बन्ध

प्राचीन काल से ही भारत में सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक तौर पर प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता एवं जागरूकता का विकास हो गया था। पर्यावरण के प्रति मूल्यों के कारण अर्थशास्त्र के रचियता कौटिल्य चाणक्य द्वारा राज्य अधिकारियों को यह निर्देश दिये हुये थे कि जल, वायु को दूषित करने वाले एवं हरे पेड़ पौधों को काटने वालो को कड़ें आर्थिक दण्ड का प्रावधान किया जायें। मौर्य वंश के सम्राट अशोक द्वारा स्तम्भों एवं लाटों पर जीव जन्तुओ तथा वाटिकाओ का निर्माण करवाया गया। मुगल काल में शासक अपने प्रकृति प्रेम हेतु मशहूर रहे है तथा उनके द्वारा कश्मीर में निर्मित किये गये शालीमार तथा निशात बाग उनके प्रकृति प्रेम को प्रर्दशित करते है। अतः भारत की समृद्ध विरासत तथा सांस्कृतिक मूल्यों का समावेश पर्यावरण नीतियों में आवश्यक तथा महत्वपूर्ण है।

ब्रिटिश शासन काल में व्यापक तौर पर पर्यावरण के नियमन करने हेतु नीतियॉ एवं व्यवस्थाओं को स्थापित किया गया। इस दौरान प्राकृतिक संसाधनों का अधिकतम शोषण एवं दोहन करना औपनिवेशिक सत्ता का मुख्य उद्देश्य रहा है। इसके लिये ब्रिटिश शासन द्वारा अपने हितों के अनुसार वनों तथा खनिज संसाधनों के दोहन हेतु नीतियॉ बनायी गयी। औपनिवेशिक सत्ता द्वारा अपने आर्थिक सामाजिक स्वार्थो के आगे समाज के हितों की

व्यापक उपेक्षा की गयी एवं प्राकृतिक संसाधनों के दोहन हेतु शोषणकारी व्यवस्था को जन्म दिया गया। इन शोषणकारी नीतियों के विरूद्ध भारत में नमक से लेकर जंगल अधिकारों हेतु व्यापक आन्दोलन हुये। आजादी के पश्चात विशेषकर 1970 के पश्चात् पर्यावरण तथा सामाजिक आयामों के प्रति भारतीय सरकार द्वारा गंम्भीर प्रयास करने आरम्भ किये गये एवं इसके लिये निम्न कारक मुख्य रूप से उत्तरदायी रहे –

- पर्यावरणीय सामाजिक आन्दोलन जैसे चिपको आन्दोलन ने पर्यावरणीय मूल्यों एवं सामाजिक सरोकारों के प्रति जनमानस को जागरूक किया। इन आन्दोलनों में पर्यावरण संरक्षण के साथ न्याय, समता, नारी सशक्तिकरण, स्वालम्बन एवं मानवाधिकार जैसे सामाजिक आयामों का समावेश कर दिया।
- अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संयुक्त राष्ट्र द्वारा पर्यावरण संरक्षण के प्रति ठोस प्रयासों हेतु सदस्य देशों से आग्रह करना। अर्न्तराष्ट्रीय स्तर पर 1972 में संयुक्त राष्ट्र द्वारा आयोजित स्टाक होम सम्मेलन तथा 1992 में रियो पृथ्वी सम्मेलन में विकास तथा समाज की आवश्यकतों को पर्यावरण के अनुकूल परिभाषित करने का प्रयास किया गया तथा सदस्य देशों से इस संदर्भ में नीतियों के निर्माण का अनुरोध किया गया।
- तेल एवं ऊर्जा समेंत प्राकृतिक संसाधनो की कीमतों में भारी वृद्धि होना जिससे ऊर्जा संकट तथा मंहगाई की समस्या गंभीर हो गयी।
- विकास को तीव्रता करने के प्रयास में सामाजिक आर्थिक असंतुलन गहराने लगा तथा प्राकृतिक संसाधनो के अति दोहन से प्रदूषण एवं पर्यावरण अवनयन की समस्या गहराने लगी।
- भारत में भी मीडिया, सिविल सोसाईटी तथा एन0जी0ओ0 द्वारा पर्यावरण नीतियों को सामाजिक आयामों के सापेक्ष दिशा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। दशोली ग्राम स्वराज्य मंडल, तरूण भारत संघ, लोकचेतना मंच, केरला शास्त्र साहित्य परिषद आदि संस्थाओ द्वारा सामाजिक आयामों को पर्यावरण संरक्षण की मुहिम से जोड़ा गया है।
- भारत में पर्यावरणीय कानूनों एवं नीतियों के सामाजिक आयामों के परिपेक्ष्य में व्याख्या का कार्य जन हित में न्यायपालिका द्वारा किया गया है। न्याय पालिका द्वारा विभिन्न वादो में स्वंय भी स्वतः संज्ञान लेते हुये एवं जनहित याचिकाओं के माध्यम से न सिर्फ महत्वपूर्ण निर्णय लिये अपितु पर्यावरण संरक्षण के लिये सरकारो को महत्वपूर्ण दिशा निर्देश भी प्रदान किये। न्याय पालिका द्वारा अनेको वादो में यह स्थापित किया गया कि स्वच्छ वायु, जल एवं पर्यावरण जीने की बुनियादी आवश्यकता है तथा प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह संविधान के अनुच्छेद 21 में जीने के अधिकार के अन्तर्गत समाहित है।

उपरोक्त कारकों से सरकार द्वारा विकास नीतियों को क्रियान्वित करने की प्रक्रिया में पर्यावरण एवं सामाजिक आयामों के परिपेक्ष्य में नीति निर्माण करने का प्रयास आरम्भ कर दिया।

20.8 आर्थिक विकास एवं सामाजिक आयाम व पर्यावरणीय नीतियाँ

चूँकि विकास व्यापक पैमाने पर न सिर्फ सामाजिक आयामों को प्रभावित करता है अपितु उनमें परिवर्तन की दिशा भी तय करता है। अतः आर्थिक विकास की वैकल्पिक, टिकाऊ तथा समतापूर्ण अवधारणाओं को पर्यावरणीय नीति में न सिर्फ उद्देश्य तथा लक्ष्य के रूप में निर्धारित किया गया है। अपितु पर्यावरण सुरक्षा के सन्दर्भ में अपनायी रणनीति में जनसमुदाय की आकांक्षाओं तथा जन सहभागिता को सुनिश्चित किया गया है।

भारत में आर्थिक विकास के लिये नियोजित विकास की प्रक्रिया को अपनाया गया है। शुरूआती नियोजित विकास में विकास के सामाजिक एवं पर्यावरणीय प्रभावों की उपेक्षा की गयी परन्तु वर्तमान में आर्थिक सामाजिक विकास को पर्यावरण की दृष्टि से टिकाऊ, समता एवं न्याय पर आधारित बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। पर्यावरण नीतियों में आर्थिक विकास के सम्बन्ध सामाजिक आयामों की दृष्टि से महत्वपूर्ण निम्न अवधारणायें स्थापित की गयी हैं –

- मानव सभी अविच्छन विकास सरोकारो का केन्द्र बिन्दु है तथा उसे प्रकृति के साथ तालमेल रखते हुये स्वस्थ तथा गतिशील जीवन जीने का अधिकार है।
- वर्तमान तथा भावी पीढ़ियों को आर्थिक सामाजिक विकास आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये जन समुदाय के विकास के अधिकार को मान्यता प्रदान की गयी है। पर्यावरणीय सुरक्षा विकास प्रक्रिया का अभिन्न अंग है तथा इसको सामाजिक आर्थिक विकास से अलग नहीं किया जा सकता है।
- पर्यावरण नीति में आर्थिक सामाजिक न्याय एवं समता की अवधारणा को अंगीकृत करते हुये समाज के सभी वर्गो के लिये पर्यावरणीय संसाधनों तक पहुॅच तथा गुणवता की समता को

सुनिश्चित किया गया है जिससे निर्धन समुदाय जो कि सर्वाधिक रूप से प्राकृतिक संसाधनो पर निर्भर है उन्हें अपने जीवन यापन हेतु यह संसाधन अवश्य प्राप्त हो। इस प्रकार नीति में निर्धन वर्ग की आजीविका की सुरक्षा को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया गया है।

- आर्थिक विकास की प्रक्रिया हेतु योजनाओं, कार्यक्रमों तथा परियोजनाओं के क्रियान्वयन हेतु सामाजिक पर्यावरणीय सरोकारों का समावेश किया गया है। परियोजनाओं के सामाजिक एवं पर्यावरणीय परिपेक्ष्य में लागत–लाभ विश्लेषण की आवश्यकता को अपनाया गया है। भारत में बड़ी आर्थिक परियोजनाओं के पर्यावरणीय प्रभावों का अनिवार्य ऑकलन 1978 से आरम्भ कर दिया गया है। पर्यावरणीय नीतियों नीतियों में इस प्रभाव का ऑकलन में पर्यावरणीय प्रभावों का ऑकलन सामाजिक आयामों के परिपेक्ष्य में किया जाता है।
- राज्य एवं सरकार को सभी प्राकृतिक संसाधनों का पूर्ण स्वामित्व प्राप्त नहीं है अपितु वह मात्र इन संसाधनों के ट्रस्टी मात्र हैं। संसाधनों का उपयोग न्याय संगत तौर पर सार्वजनिक हितों के अनुसार किया जाना चाहियें।
- प्राकृतिक संसाधनों पर समाज के अधिकारो को सुरक्षा प्रदान की गयी है। वनों में तथा आस–पास निवास करने वाले समुदायों, जनजातियों के वनोपज से सम्बन्धित पारम्परिक अधिकारों को प्राथमिकता कानूनी संरक्षण को सुनिश्चित करने हेतु बल दिया गया है तथा वनों के अनुरक्षण तथा विकास में उनकी भागीदारी सुनिश्चित की गयी है।
- वनों पर निर्भर समुदायो के अधिकारों को प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर समुदायों के जीवन यापन के वैकल्पिक आधार सुदृढ़ किये जाने चाहिये। रोजगार तथा आय के समुचित अवसर उपलब्ध कराने के साथ वनों के पुनरूत्पादन तथा विकास में आदिवासियों क्रियाशील भागीदारी सुनिश्चित करने एवं आदिवासी समुदायों के शोषण को रोकने हेतु वनोपज के रक्षण, पुनरोत्पादन, संग्रहण एवं विपणन की संस्थागत एवं सहकारिता आधारित व्यवस्था को प्रोत्साहित करने पर विशेष जोर दिया गया है।
- प्राकृतिक संसाधन जैसे वनों को मात्र राजस्व प्राप्ति का स्रोत नहीं माना जाना चाहिये। वन, नदियाँ, झीलें आदि का संरक्षण समाज तथा राष्ट्र कल्याण के दृष्टिकोण से अत्यंत आवश्यक है।
- पर्यावरणीय दृष्टि से संवेदनशील क्षेत्रों की पहचान करना तथा उनकी वहन क्षमता के अनुसार विकास योजनायें स्थानीय समुदाय की सहभागिता से क्रियान्वित किया जाये।
- पर्यावरण नीतियों में यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है कि पर्यावरण असंतुलन का कुप्रभाव विशेष कर निर्धन, आदिवासियों, ग्रामीण महिलाओं तथा मलिन बस्तियों में रहने वाले समाज पर अधिक पड़ता है। गरीबी, लैंगिक तथा सामाजिक असमानतायें परस्पर एवं पर्यावरणीय अवनयन परस्पर एक दूसरे को बल प्रदान कर गंभीर बनाते है।

अतः पर्यावरण नीतियों में आर्थिक विकास को तीव्र करने की प्रक्रिया में पर्यावरण की वहन क्षमता के साथ निर्धन वर्ग की आजीविका की सुरक्षा तथा प्राकृतिक संसाधनों जैसे वनो पर निर्भर समाजों के विकास के अधिकार को सुनिश्चित करने पर जोर दिया गया है। आर्थिक विकास की रणनीति को पर्यावरण नीतियों के उद्देश्यानुसार समावेशी तथा सहभागिता आधारित बनाने का लक्ष्य किया गया है। जिससे पर्यावरण की गुणवता सभी वर्गो तक सुनिश्चित की जा सके तथा प्राकृतिक संसाधनों की लाभ लागत प्रक्रिया में समाज के हर वर्ग की भूमिका का प्रभावी हो सकें।

20.8 सामाजिक आयामों के संदर्भ में पर्यावरण नीति के निहितार्थ व मूल्यांकन

भारत जैसे बहुविध, व्यापक आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक तथा प्रगतिशील राष्ट्र में पर्यावरणीय समस्याओं के अनेक आयाम होते है। यहॉ पर्यावरण सुरक्षा के साथ विकास से वंचित रहे लोगों की आजीविका की सुरक्षा, जन स्वास्थ्य, गरीबी निवारण, सशक्तिकरण आदि सभी आयाम भी जुड़े हुये होते है। अतः पर्यावरण नीतियों के संदर्भ में यह महत्वपूर्ण है कि वह किस प्रकार सामाजिक आयामो के संग समावेशित की जाती है।

20.9.1 सामाजिक आयाम एवं पर्यावरणीय नीतियो के उद्देश्य – वर्तमान में पर्यावरण नीतियों के उद्देश्यों को सामाजिक आयामों के परिपेक्ष्य में निम्न प्रकार से गठित किया गया है –

- आर्थिक एवं सामजिक विकास में पर्यावरणीय सरोकारों का समावेश सुनिश्चित किया जाये।
- समाज के सभी वर्गों के लिये पर्यावरणीय संसाधनों की पहुॅच तथा गुणवता सुनिश्चित करना।
- निर्धन वर्ग की आजीविका की सुरक्षा पर्यावरण नीतियों के क्रियान्वयन में सुनिश्चित करना अर्थात पर्यावरणीय संसाधनों के उपयोग में समता सुनिश्चित करना।
- सामजिक अपेक्षाओं एवं आवश्यकताओं की पूर्ति को देखते हुये पर्यावरणीय संसाधनों का न्यायोचित प्रयोग सुनिश्चित करना।

- पर्यावरणीय व्यवस्था के संचालन तथा नियमन में पारदर्शिता एवं जवाबदेही के साथ सामाजिक सहभागिता को सुनिश्चित किया गया है।

20.9.2 सामाजिक आयाम एवं पर्यावरणीय नीतियों के सिद्धान्त – राष्ट्रीय पर्यावरण नीति इस तथ्य को पहचान कर बनायी गयी हैं कि केवल वही विकास सतत् और टिकाऊ हो सकता है जिसमें सामाजिक एवं पर्यावरणीय सरोकारों का समावेश किया गया हो। अतः पर्यावरणीय नीतियों के सिद्धान्त तथा सामाजिक आयामों में निम्न प्रकार से सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किया गया है –

- प्राकृतिक संसाधन समाज की साझा विरासत है तथा प्राकृतिक संसाधनों का स्वामित्व किसी के भी पास नहीं है। सरकार की भूमिका मात्र एक ट्रस्टी की है।
- समस्त मानव समाज सतत् विकास के केन्द्र बिन्दु है तथा सभी को प्रकृति के साथ ताल मेल रखते हुये स्वस्थ एवं गतिशील जीवन जीने का अधिकार है।
- पर्यावरण नीति में जनसमुदायों के विकास के अधिकार को इस प्रकार से मान्यता प्रदान की है कि जिससे समाज की वर्तमान तथा भावी आवश्यकताओं की समान रूप से पूर्ति की जा सकें।
- पर्यावरण संरक्षण से सम्बन्धित विभिन्न सार्वजनिक कार्यो में इस प्रकार से आर्थिक क्षमता प्राप्त करने का प्रयास किया जायेगा जिससे सार्वजनिक कल्याण अधिकतम् हो सकें।
- पर्यावरणीय संसाधनों के उपयोग में समता तथा न्याय का सिद्धांत सुनिश्चित किया जायेगा एवं जनसमुदाय को पर्यावरणीय संसाधनों के उपभोग तथा निर्णय प्रक्रिया में भाग लेने हेतु समान हिस्सेदारी सुनिश्चित की जायेगी।
- राष्ट्रीय पर्यावरण नीति में भी यदि प्रदूषणकर्ता द्वारा सामाजिक क्षति की जाती है तो उस पर भी प्रदूषणकर्ता द्वारा क्षति पूर्ति का सिद्धान्त पूरी तरह से लागू होगा। पर्यावरण नीति में यदि कोई पक्ष पूर्व निर्धारित किसी कानूनी कर्त्तव्य का उल्घन्न करता है तो इसके लिये उत्तरदायी ठहराया जाता है।
- पर्यावरण नीति में सामाजिक हित में कठोर उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को अपनाया गया है जिसके अनुसार यदि कोई पक्ष के क्रियाकलापों या आवश्यक कार्यवाही न कर पाने, जिसमें आवश्यक न हीं कि किसी कानून अथवा सुरक्षा कर्त्तव्य का उल्लघंन हुआ हो, के परिणाम स्वरूप होने वाली क्षति से पीड़ित व्यक्ति को क्षतिपूर्ति करने की बाध्यता है।

20.9.3 सामाजिक भागीदारी एवं पर्यावरणीय सुरक्षा – पर्यावरणीय नीतियों में सबसे महत्वपूर्ण रणनीतिक बदलाव यह आया है कि पर्यावरण के प्रबंधन तथा संरक्षण में समाज की प्रभावी भागीदारी को सुनिश्चित करने एवं समाज के हितो का संरक्षण इस भागीदारी की प्रक्रिया में करने पर बल दिया गया है । वननीति में वनों की सुरक्षा, पुनर्वनीकरण तथा वनों के संर्वद्धन के लिये स्थानीय जन सहयोग को प्रोत्साहित करने हेतु ग्राम वन समिति को गठित करने तथा उत्पादित वनोपज में हिस्सेदारी सुनिश्चित करने की रणनीति को पुख्ता करने का दिशा निर्देश दिया है। वृक्षारोपण के साथ चारा, चुगान, रेशा तथा ईधन की जरूरतों की पूर्ति एवं अतिरिक्त आय सृजन हेतु सामाजिक वानकी, कृषि वानकी एवं शहरी वानकी आदि कार्यक्रम आरम्भ किये गये है। वनों के प्रबंधन को स्थानीय जनता की भागीदारी से प्रभावी रूप में करने हेतु संयुक्त वन प्रबंधन अधिनियम् 1998 पारित किया गया है।

सामाजिक भागीदारी के सुदृढ़ एवं प्रभावी बनाने हेतु समाज के पर्यावरण के सम्बन्ध में सभी हित धारकों जैसे उद्योग संघ, निजी क्षेत्र स्वैच्छिक संगठन, मीडिया, सामुदायिक संगठन, वितीय संस्थायें, महिला समूह आदि सभी की भूमिका प्रभावी बनाने पर जोर दिया गया है। इस भागीदारी मॉडल को पर्यावरण नीतियों में सामाजिक आयामों के अनुसार निम्न महत्वपूर्ण आधारों पर सुनिश्चित करने हेतु जोर दिया गया है –

- स्थानीय स्वशासी सराकारों को पर्यावरण और प्राकृतिक संसाधनों के प्रबंधन हेतु सक्षम तथा सशक्त बनाया जाये।
- जन सामुदायिक सहभागितायें को प्रभावी बनाने हेतु उत्तरदायित्वों के साथ–साथ अधिकारों का भी संरक्षण किया जाये। सामुदायिकता आधारित भागीदारी में महिलाओ युवाओं ग्रामीण समाज तथा आदिवासियों वर्गो को विशेषतया प्रोत्साहित किया जाये।
- पर्यावरण नीतियों में सार्वजनिक एवं निजी संगठन की सहभागिता को प्रतियोगिता के आधार पर प्रोत्साहित करने के प्रावधान किये गये हैं परन्तु सहभागिता की प्रक्रिया पारदर्शिता, उत्तरदायित्व, लागत प्रभाविता और कुशलता से सुनिश्चित किया जाना चाहिये जिससे कि पर्यावरण सुरक्षा के साथ समाज को भी समुचित लाभ हो सकें।
- पर्यावरण संरक्षण एवं प्राकृतिक संसाधनों के प्रबंधन में ग्रामीण तथा विशेषकर आदिवासी समुदाय के सामाजिक आयामों को सहभागिता की प्रक्रिया में समावेशित करना। इसके अन्तर्गत वन संरक्षण,

जल संरक्षण, आदि की प्रक्रिया को आदिवासी समुदाय की जीवनशैली से जोड़कर प्रयास करना, जिससे उनकी सहमति एवं स्वैच्छिक सहभागिता से प्राकृतिक संसाधनों का संर्वद्धन सुनिश्चित हो सकें।

- वनों में निवास करने वाले आदिवासियों तथा अन्य ग्रामीणों की रोजमर्रा की आवश्यकता की वनोपज उपलब्धता को सुनिश्चित करने को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान करना एवं परिवार मूलक ऐसे वानिकी कार्यक्रमों को क्रियान्वित करना जिससे कि आदिवासियों एवं ग्रामीणों की आर्थिक स्थिति में सुधार आ सके।
- प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर समुदायो के वैकल्पिक संसाधनों का आधार तथा उनकी क्षमता एवं उत्पादकता में वृद्धि करना जिससे प्राकृतिक संसाधनों पर ऐसे समुदायों की अति निर्भरता कम हो सकें एवं उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हो पायें।
- पर्यावरण नीतियों में प्राकृतिक संसाधनों के प्रबंधन में महिलाओं की महत्वपूर्ण भूमिका पर जोर दिया गया है। जहॉ एक ओर महिलाओं को प्राकृतिक संसाधनों के अवनयन भार को वहन करना है वहीं उनके पास प्राकृतिक संसाधन के प्रबन्धन पर नियन्त्रण नहीं हैं अतः समुदायिकता प्राकृतिक संसाधनो के प्रबन्धन प्रणालियों जैसे संयुक्त वन प्रबंधन, वन पंचायतों आदि में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित करते हुये उनके सशक्तिकरण को बढावा देने पर जोर दिया गया है।

20.9.4 प्रदूषण नियन्त्रण तथा सामाजिक आयाम – प्रदूषण का प्रभाव पेयजल, जनस्वास्थ्य, पोषण, खाद्य सुरक्षा आदि सभी आवश्यक सामाजिक मसलों पर पड़ता है एवं प्रदूषण की मार विशेष कर निर्धन, असंगठित क्षेत्रों में कार्यरत कामगारों, महिलाओं आदि पर पड़ती है। अतः प्रदूषण शमन की प्रक्रिया को निम्न सामाजिक आयामों के अनुरूप पर्यावरण नीतियों में स्थापित किया गया है –

- प्रदूषण हेतु जिम्मेदार संस्थाओं पर सामाजिक एवं पर्यावरणीय मूल्यों के प्रति उत्तरदायित्व सुनिश्चित किया जाये।
- प्राकृतिक संसाधनों जैसे जल के शोधन, पुनः प्रयोग पुनः चक्रण हेतु सार्वजनिक एवं निजी संस्थाओं की भागीदारी सुनिश्चित की जाये।
- ग्रामीण तथा दूर दराज के क्षेत्रों में स्वच्छ, सस्ते, गैर परम्परागत ऊर्जा के स्रोतों का विकास इस प्रकार करना जिससे निर्धन वर्ग एवं महिलाओं की आर्थिक सामाजिक दशाओं में सुधार हो सके यानि ऊर्जा संरक्षण के साथ सफाई, स्वच्छता एवं स्वास्थ्य की दशाओं में सुधार एवं अतिरिक्त शारीरिक श्रम से मुक्ति मिल सके जैसे स्त्रीयों को ईधन के एकत्रीकरण तथा चूल्हें के धुयें से निरन्तर जूझना पड़ता है जो कि पर्यावरण के साथ–साथ महिलाओं के स्वास्थ्य पर भी नकरात्मक प्रभाव डालता है।
- कोरपोरेट क्षेत्र को उनके सामाजिक तथा पर्यावरणीय दायित्वों के प्रति जागरूक तथा संवेदनशील बनाते हुये प्रदूषण नियन्त्रण की प्रक्रिया में इस क्षेत्र की भागीदारी सुनिश्चित करना।
- प्रदूषण की रोकथाम हेतु सामाजिक जागरूकता तथा सामाजिक सहभागिता को प्रोत्साहित करना एवं स्वच्छ ऊर्जा के संसाधनों का विकास के साथ निर्धन वर्ग की पहुॅच उन संसाधनों तक सुनिश्चित की जायें।

20.9.6 शिक्षा, सामाजिक आयाम तथा पर्यावरणीय नीतियाँ – शिक्षा, सामाजिक आयामों को प्रभावित करने वाला सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्रोतो में से एक है। पर्यावरणीय नीतियों में पर्यावरणीय के अनुकूल व्यवहारों एवं गैर जिम्मेदार क्रियाकलापों के दुष्प्रभावों के बारे में सूझ बूझ का शिक्षा के माध्यम से प्रोत्साहित करने पर जोर दिया गया है। जिससे समाज को साफ सफाई, जनस्वास्थ्य, सामुदायिक गतिविधियों प्राकृतिक संसाधनों जैसे जल ऊर्जा के संरक्षण के प्रति जागरूक बनाया जा सके। इस दिशा में पर्यावरणीय नीतियों में सामाजिक आयामों के अनुसार निम्न रणनीति अपनायी गयी है –

- औपचारिक तथा अनौपचारिक शिक्षा के मिले जुले स्वरूप अपनाते हुये समाज में सभी वर्गो में पर्यावरण सम्बन्धी जागरूकता का प्रसार करना एवं पर्यावरण शिक्षा में शोध, अनुसंधान तथा प्रशिक्षण कार्यक्रमों को प्रोत्साहित करना।
- समाज में पर्यावरणीय जागरूकता के प्रचार प्रसार हेतु सामजिक संगठनों, स्वैच्छिक संस्थाओं, जनसंचार माध्यमों, शिक्षण संस्थओं आदि की सहभागिता को प्रोत्साहित करना।
- उपभोक्ताओं में पर्यावरणीय के प्रति जागरूकता तथा पर्यावरण अनुकूल उत्पादो को बढावा देने हेतु वन तथा पर्यावरण मंत्रालय द्वारा 1991 से ईको मार्क योजना आरम्भ की है।

- पर्यावरण सम्बन्धी शिक्षा, जागरूकता और प्रशिक्षण को बढावा देने हेतु राष्ट्रीय योजना भारत सरकार द्वारा 1983–1984 से आरम्भ की गयी है।

20.9.8 सामजिक आयाम एवं पर्यावरणीय प्रभाव ऑकलन – सतत् विकास और प्राकृ– तिक संसाधनों के इष्टतम् उपयोग हेतु विकास परियोजनाओं के नियोजन और क्रियान्वयन के साथ पर्यावरणीय सम्बन्धी पक्षों पर पड़ने वाले प्रभावों का ऑकलन करना अति आवश्यक होता है। भारत में पर्यावरण पर विकास परियोजनाओं के मूल्याकन का कार्य 1978 से आरम्भ किया गया था। जनवरी 1994 से पर्यावरण एवं वन मंत्रालय द्वारा अधिसूचना जारी कर औद्योगिक परियोजनाओं, उत्खनन, सिंचाई बिजली, परिवहन, पर्यटन एवं संचार आदि विभिन्न क्षेत्रों की परियोजनाओं हेतु पर्यावरणीय प्रभावों के ऑकलन में सामाजिक आयामों की दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण निम्न प्रक्रियाओं के समावेश हेतु पर्यावरण नीतियों में दिशा निर्देश दिये गये है।

20.9.9 पर्यावरणीय अधिनियम एवं सामाजिक आयाम – भारत में पर्यावरण वैधानिक ढाचें को सामाजिक आयामो के परिपेक्ष्य का संज्ञान में रखते हुयें निर्मित किया गया है। भारत में पर्यावरण सम्बन्धी अधिनियमों में सामाजिक आयामो का निम्न प्रकार से समावेश किया गया है –

- संविधान के अनुच्छेद 21 के अन्तर्गत स्वच्छ तथा साफ सुधरे पर्यावरण के अधिकार को जीने के अधिकार के अर्न्तगत मौलिक अधिकारों में समाहित किया गया है तथा संविधान के नीति निर्देशक तत्वों में राज्य को स्पष्ट निर्देश दिये गये है कि कल्याणकारी राज्य की स्थापना तथा जन कल्याण को देखते हुये वह पर्यावरण की सुरक्षा एवं उन्नयन का प्रयास करें (अनुच्छेद 48ए)।
- अनुच्छेद 51 ए (जी) में समाहित इन मौलिक कर्त्तव्यों के अनुसार यह भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य होगा कि वह वन, झीलों, नदियों एवं वन्य जीवों समेत प्राकृतिक पर्यावरण की सुरक्षा तथा सुधार करें और जीव जगत के प्रति सहचारिता का भाव रखें।
- जैव विविधता अधिनियम एवं बौद्धिक सम्पदा अधिकार जैसे पेटेंट अधिनियम आदि में जैब सम्पदा के उपयोग के सन्दर्भ में जन समुदायों के परम्परागत ज्ञान को संरक्षण प्रदान किया गया हैं।
- भारत में वर्तमान समय में पर्यावरण संरक्षण हेतु वैद्यानिक ढाचें में मुख्यतया पर्यावरण सुरक्षा अधिनियम, (1986) तथा जल (प्रदुषण निवारण एवं नियन्त्रण) अधिनियम, 1974, वायु (प्रदुषण निवारण एवं नियन्त्रण) अधिनियम, 1981 आदि आते है। पर्यावरण नीतियों में यह दिशा निर्देश दिये गये है कि उक्त अधिनियमों का क्रियान्वयन आजीविका की सुरक्षा, जनकल्याण जैसे जन स्वास्थ्य आदि आयामों के मध्यनजर सुनिश्चित किया जाना चाहिये साथ ही तीसरे पक्ष के द्वारा किये गये कार्य के कारण होने वाली सामाजिक क्षति की प्रतिपूर्ति सुनिश्चित की जानी चाहिये।
- अनुसुचित जनजाति एवं अन्य परम्परागत वन वासी (वन अधिकारों सम्बन्धी मान्यता) अधिनियम, 2006, को संसद द्वारा पारित कर स्थानीय समाज की पर्यावरण संरक्षण में सुनिश्चित करने तथा उनके वनोपज सम्बन्धी परम्परागत अधिकारो को सुरक्षा प्रदान करने का प्रयास किया गया है। इससे स्थानीय समाज की आजीविका की सुरक्षा के साथ–साथ वन संरक्षण का उद्देश्य भी पूरा किया जा सकता है।

20.10 सारांश

सभ्यता के उद्भव से लेकर वर्तमान युग तक मानव पर्यावरण सम्बन्ध सदैव से परिवर्तनशील रहें है। आदिम युग में जहॉ मानव की भूमिका दाता तथा पाता के रूप में रही है वहीं वर्तमान उन्नत प्रौद्योगिकी के युग में वह पर्यावरण का परिभार्जक बन गया है। मानव पर्यावरण सम्बन्धों के इस परिवर्तन में सामाजिक आयामों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

पर्यावरण नीतियो का निर्माण पर्यावरण संरक्षण के साथ–साथ सतत् विकास के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किया गया है। इन नीतियों में समाज की विकास की आवश्यकतायें, आजीविका की सुरक्षा, निर्धनता, जन स्वास्थ्य, शिक्षा, सामुदायिक भागीदार, नारी सशक्तिरण एवं सामाजिक जागरूकता जैसे महत्वपूर्ण सामाजिक आयामों का भी समावेश किया गया है एवं पर्यावरण अवनयन की समस्या एवं निवारण को मात्र आर्थिक वैज्ञानिक एवं तकनीकी आयामों तक ही नहीं सीमित रखा गया है।

वास्तव में यदि नीतियों को यदि व्यापक एवं प्रभावी बनाना है तो पर्यावरण नीतियों का सामाजिक आयामों के सापेक्ष सामंजस्य आवश्यक ही नहीं अपितु अपरिहार्य भी है। क्योंकि समाज की जागरूकता, गतिशीलता तथा सहभागिता की माध्यम से ही पर्यावरण का संरक्षण एवं संर्वद्धन किया जा सकता है तथा गुणवतापरक पर्यावरण एवं इसके संसाधनों की पहॅुच समाज के सभी वर्गों तक सुनिश्चित की जा सकती है।

20.11 शब्दावली

लैंगिक असमानता – समाज में स्त्रीत्व एवं पुरूषत्व के दायित्वों, अधिकारो एवं भूमिकाओं में आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक एवं पारिवारिक स्तर पर भेदभाव जन्य संस्थागत रूप ले चुकी असमानता लैगिक असमानता के अन्तर्गत आती है।

सामुदायिक अधिकार – समुदाय विशेष की आर्थिक सामाजिक एवं राजनैतिक के मूल्यों के संरक्षण तथा प्रगति हेतु प्रदत्त अधिकारो का सामुदायिक अधिकार में समावेशित किया जाता है।

वैयक्तिक अधिकार – समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को कानूनी रूप से अपने जीवन निर्वाह, गरिमा, स्वतंन्त्रता आदि हेतु जो अधिकार निजी तौर पर प्राप्त होते है। वह वैयक्तिक अधिकारों के अन्तर्गत आते है।

पेटेन्ट – बौद्धिक सम्पदा के अविष्कार कर्ता को संरक्षण प्रदान करने हेतु जिन अधिकारों को प्रदान किया जाता है। पेटेन्ट की प्रक्रिया इसके अर्न्तगत आती है।

भौतिकतावाद – यह एक ऐसी विचार धारा है जिसमें आध्यात्मिक सुख की बजाय ऐन्द्रियक सुख की प्राप्तियो पर अधिक जोर दिया जाता है।

अतिवादी या आमूल परिवर्तनवादी – एक विचारधारा जो समाज के मूलभूत पहलुओं में आमूलचूल परिवर्तन को प्रश्रय देती है। इस विचारधारा का मुख्य उद्देश्य शक्ति तथा धन की असमानताओं को समाप्त करना है।

सामाजिक मानदण्ड – व्यवहार के किसी समाजोनुमोदित तरीके अथवा नियम को सामाजिक मानदण्ड कहते है।

सामाजिक मूल्य – एक समाज प्रचलित लक्ष्य, आदर्श अथवा ऐसे मापदण्ड जिनके द्वारा कोई व्यक्ति घटनाओं अथवा व्यवहारो का मूल्याकन करना है।

सामाजिक अनुकूलन – अपने अस्तित्व को बनाये रखने के लिये एक व्यक्ति या समूह अपने व्यवहार को अपने सामाजिक, आर्थिक एवं प्राकृतिक पर्यावरण के अनुरूप ढालता है।

सामाजिक पारिस्थितिकीय – इस विषय के अर्न्तगत सामाजिक एवं पारिस्थितिकीय प्रक्रियाओं की अन्तक्रिया के फलस्वरूप उत्पन्न घटनाओं की उत्पत्ति तथा परिवर्तन का अध्ययन किया जाता है।

आर्थिक निवारणवाद या निश्चयवाद – इस विचार धारा के अनुसार यह माना जाता है कि सामाजिक जीवन तथा सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करने वाला सर्वाधिक प्रबल कारक आर्थिक हित है।

20.12 अभ्यास प्रश्न

(1) संविधान के किस अनुच्छेद में स्वच्छ पर्यावरण के अधिकार को जीने के अधिकार के अन्तर्गत समावेशित किया गया है ?

(2) भारत में विकास परियोजनाओ का पर्यावरण के सापेक्ष मूल्यॉकन कब से आरम्भ किया गया ?

(3) भारत के पर्यावरण के सन्दर्भ में शिक्षा जागरूकता बढ़ाने हेतु सरकार द्वारा कब राष्ट्रीय योजना का आरम्भ किया गया है ?

(4) समाज की भागीदारी को वन प्रबंधन हेतु प्रोत्साहित करने हेतु कौन सा अधिनियम गठित किया गया है ?

(5) आर्थिक निश्चियवाद का सिद्धान्त किसने प्रतिपादित किया है ?

(6) पर्यावरण नीति में किसे अविच्छन विकास का केन्द्र माना गया है ?

(7) "प्रगति का अन्धाधुन्ध विरोध नहीं प्रत्युत अन्धाधुन्ध प्रगतिका विरोध होना चाहिये।" यह उद्घोषणा किसने की थी ?

(8) सहत्राब्दी विकास लक्ष्य किस संस्था द्वारा घोषित किये गये हैं ?

(9) जनसमुदाय के विकास के अधिकारों को कौन सी पीढी के मानवाधिकारों के रूप में मान्यता प्राप्त हुयी है ?

(10) आई0 यू0 सी0 एन0 का पूरा नाम क्या है ?

(11) साझा संसाधन त्रासदी की अवधारणा किसने प्रतिपादित की है ?

(12) अतिवादी समाजशास्त्री या आमूल परिवर्तन वादी समाज शास्त्री किसे पर्यावरण अवनयन का उत्तरदायी मानते हैं ?

(13) प्राचीन भारत के किस विद्वान द्वारा हरे पेड़ पौधों को काटने तथा जल एवं वायु को दुषित करने वालों के लिये कड़ें दण्ड के प्रावधान हेतु कहा ?

(14) राष्ट्रीय पर्यावरण नीति में सरकार को प्राकृतिक संसाधनो के नियन्त्रण एवं प्रबंधन के सन्दर्भ में किस रूप में भूमिका निभाने को कहा गया है ?

(15) पर्यावरण हित में सामाजिक हित में क्षतिपूर्ति करने हेतु किस प्रकार के सिद्धान्त को अपनाया गया है ?

उत्तर – (1) अनुच्छेद 21 , (2) 1978 , (3) 1983–84 , (4) संयुक्त वन प्रबंधन अधिनियम , (5) कार्ल मार्क्स , (6) मानव , (7) सियेरा क्लब , (8) संयुक्त राष्ट्र संघ , (9) तीसरी पीढ़ी , (10) इन्टरनेशनल यूनियन फॉर कन्जरवेशन ऑफ नेचर , (11) गैरट हार्डिन , (12) पूंजीवादी बाजार आधारित आर्थिक व्यवस्था , (13)कौटिल्य ,(14) ट्रस्टी के रूप में , (15) कठोर उत्तरदायित्व ।

20.13 निबंधात्मक प्रश्न

(1) सामाजिक आयामों से आप क्या समझते है तथा यह पर्यावरण मूल्यों को किस प्रकार प्रभावित करते है ?

(2) सामाजिक सरोकारो का पर्यावरण नीतियों में समावेश किसी सीमा तक किया गया है ? इसका परिक्षण कीजियें ?

(3) "वही विकास टिकाऊ हो सकता है जिसकी प्रक्रिया में सामाजिक आयामों तथा पर्यावरणीय मूल्यों का समावेश किया गया हों।" इस कथन की पुष्टि उदाहरण एवं तर्कों के साथ कीजियें ?

(4) पर्यावरण संरक्षण में सामाजिक आयामों के समावेश हेतु अन्तर्राष्ट्रीय कारकों के महत्व पर प्रकाश डालियें ?

20.14 सन्दर्भ ग्रन्थ सूत्र

- रावत, हरिकृष्ण, समाजशास्त्र विश्व कोश (1998), रावत प्रकाशन, नई दिल्ली ।
- सिंधी, नरेन्द्र कुमार, समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, विवेचन एवं व्याख्या (1998), रावत प्रकाशन, जयपुर एवं नई दिल्ली ।
- सिंह, काशीनाथ एवं सिंह जगदीश (2008), आर्थिक भूगोल के मूल तत्व, ज्ञानोदय प्रकाशन, गोरखपुर ।
- Sinha K. Rajiv (2007) *Environmental Crisis and Human at risk,* INA Shree Publishers, Jaipur.
- Saxena, H. M., (2008) *Environmental Geography*, Rawat Publication, Jaipur.